

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित

शतक नामक

पञ्चमस्कण्डग्रन्थ

पं० कैलाशचन्द्रजी रचित

हिन्दी व्याख्या आदि सहित

सम्पादक

न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भा० श्री प्रस्तावनाके लेखक

तथा

साप्ताहिक पत्र जैनसन्देशके सम्पादक

न्यायनीर्थ प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

प्रधानाध्यापक स्याद्धाद जैन विद्यालय

बनारस

प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला, आगरा ।

वीर निर्माण सम्वत् २४६८

प्रथम संस्करण १०००]

१९४२

[मूल्य ३]

मुद्रक

प० कैलासनाथ भार्गव

मार्गनभूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

समर्पण

श्री पण्डित सुखलालजी सघवी,
प्रधानाध्यापक जैन दर्शन,
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस,
को

उनके मण्डलके साथ धनिष्ठ सवधकी
यादमें

यह पञ्चमकर्मग्रन्थका अनुवाद समर्पित करके
आ० पु० प्र० मण्डल अपनेको कृतकृत्य
समझता है ।

पञ्चम कर्मग्रन्थ



श्रीमती पानुर्वाह

श्रीमती पानवाईजीका परिचय

श्रीमती पानवाइ उपनाम पत्नी बीबी लाला बनारसीदासजी नाहर बीहरी लखनऊकी पुत्री थीं। आपका भित्तुल बहुत प्रतिष्ठित है। आपके दादा नवाब वाजिद अलीशाहके बीहरी व मुक़ीम थे। वि० स० १९४१ में आपका जन्म हुआ और दस वर्षी उम्रमें लाला चिम्मनलालजी चोरदिया के पुत्र लाला बाबूलालजीसे विवाह हुआ। उस वक्त बरफी उम्र १४ साल की थी और वह छठे दर्जेमें पढ़ते थे। आपका पानदान भी बहुत प्रतिष्ठित था, जो कि जबतक लाला गुलाबचन्द छट्टनलाल बीहरी आगरावालोंके नाम से समस्त जैन ओसगल समाजमें प्रसिद्ध है। विवाह बहुत धूमधामसे हुआ। किन्तु विवाहसे लौटनेके बादही बाबूलालजी बीमार पड़ गये और ८ महीने तक बीमार रहकर सदाके लिये चल बसे। उनकी मृत्युसे दोनों कुटुम्बों पर रजसा पहाड़ टूट पड़ा। श्रीमती पानवाइकी ददिया सास और सासने इस समय बड़े धीरजसे काम लिया और पानवाइको दिलासा देकर उसे बड़े प्यारसे रक्खा। ददिया सासके गुजर जानेके बादसे इनके वैधव्य जीवनका अधिक भाग अपनी माके ससर्गमें ही जीता। आपकी माता बड़ी धर्मात्मा थीं। उनसे साथमें पानवाइने सैन्डों बार तीर्थयात्रा की और खूब तपस्यामय जीवन बिताया। माता-पिताकी मृत्यु होबानेके बाद वे आगरा या लखनऊ रहा करता थीं। प्रतिदिन सामायिक, प्रतिग्रन्थ, पूजा-पाठ आदि किया करती थीं। पठनपाठनकी ओर उनकी अच्छी रुचि थी किन्तु उनका विशेष लक्ष्य तीर्थयात्रा व तपस्यामें रहता था। जैसे जैसे तपस्या करती

थी, निवृत्त होती जाती थी। इसीसे प्रायः बीमार रहा करता थी। कुछ वर्ष पहले उनके छोटे भाई शिखरचन्दजी चल बसे। उसके बाद उनके बड़े भाई बाबू केसरीचन्दजी बीमार पड़े, जिनसे उन्होंने तान महीने तक सेवा की। मगर वह भी गुजर गये। उनके गुजरते ही इनकी दत्ता पागलोंकीसी होगई और वह बीमार पड़ गई। लखनऊमें बहुत कुछ इलाज करीयर भी जब कोई लाभ न हुआ तो आने छाटे भाई त्वेमचन्दजीसे कहकर आगरासे अपने बसुरालयमेंसे बाबू दयालचन्दजी जोहरीका बुलाया और उनसे आगरा ले चलनेकी प्रेरणा की। गानू दयालचन्दजी आने मतीजे घम चन्दजीके साथ बड़ी कठिनाईसे उन्हें आगरा लेगये। वहां तेरह दिनतक जीवित रहकर और सबसे छमा मागकर जेठबंदो १४ स० १९९७ को ५६ वर्षकी उम्रमें परलोक सिंघार गई। मरते समय वे शानदानमें ५००) पञ्चमकर्मग्रन्थके सहायताय देगई थी। जिसके लिये मङ्गल उताका आभारी हैं।



प्रकाशकका वक्तव्य

प्रिय पाठको !

जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह पुस्तकप्रचारक मण्डल आजसे ३० वर्ष पहिले जारी किया गया था कि हिन्दीभाषा मापियोंके पढ़नेके लिये धार्मिक ग्रन्थ तैयार किये जावें, उसकी पूर्ति करनेके लिये अन्य कई ग्रन्थोंका प्रकाशन होनेके सिवाय चार भाग इस ग्रन्थके श्री पं० मुखलालजीके कर कमलोंसे लिखने व छपनेके बाद कितने ही पाठकोंकी उत्कट अभिलाषा देखते हुए जो कि चौथे कर्मग्रन्थके छपनेके बादसे चल रही थी, सम्यत् १९७८ से पाँचवें कर्मग्रन्थको तैयार करनेका निवार मण्डलने किया। यद्यपि यह काम तैयारी व खर्चके ख्यालसे सरल नहीं था, तब भी बार बार यह ख्याल करके कि कर्मग्रन्थके छहों भाग मण्डलसे छपकर निकल जावें तो एक नहुत बड़े कामकी पूर्ति हो जाती है, अतः इसके लिये पं० मुखलालजीसे बार २ प्रार्थना की गई। मगर पण्डितजीको दूसरे ग्रन्थोंकी तैयारी में लगे रहनेसे त्रिभुल फुरसत न मिलती थी। तब उनसे प्रार्थना की गई कि वह अपना देल रत्नमें दूसरे किसी पण्डितसे तैयार करा दें। इसपर उन्होंने गौर करके श्री पं० कैलाशचन्द्रजीको इस विषयके योग्य पण्डित समझकर उनके सुपुत्र किया, जिन्होंने सतत परिश्रमके बाद इसको तैयार किया। इस ग्रन्थमें दूसरे पण्डितोंके कर्मग्रन्थोंसे साठ २ खूबियाँ जो हैं उसको तो पाठकगण खुद समझ लेंगे। इसके लिये हम पं० मुखलालजी व पं० कैलाशचन्द्रजी दोनोंके अति आभारी हैं कि जिन्होंने हमारे पाँचवें कर्मग्रन्थके छपनेके विचारको कायरूपमें प्रस्तुत किया। साथ ही हम श्रीमती पानबाई जी जागराके भी आभारी हैं कि जिन्होंने अपने जीवनमें (५००) सहायताका वचन देकर उसको पूरा किया।

मन्त्री—जवाहरलाल नाहटा।

दयालचन्द्र जौहरी।

पूर्वकथन

कर्मग्रन्थोंके हिन्दी अनुवादके साथ तथा हिन्दी अनुवादप्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डलके साथ मेरा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि इस अनुवादके साथ भी पूर्वकथन रूपसे कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य हो जाता है ।

जैन वाङ्मयम इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्म-शास्त्र मौजूद हैं उनमेंसे प्राचीन माने जानेवाले कर्मत्रिपयक ग्रन्थोंका साक्षात् सम्बन्ध दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वके साथ बतलाती हैं । दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्वको दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गातगत चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराएँ समानरूपसे मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीरकी सर्वज्ञ वाणीका साक्षात् फल है । इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यताके अनुसार मौजूदा सारा कर्मत्रिपयक जैन वाङ्मय शब्दरूपसे नहीं ता अतत भावरूपसे भगवान् महावीरके साक्षात् उपदेशना ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है । ऐसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि यन्तुत सारी अङ्गविद्याएँ भावरूपसे केवल भगवान् महावीरकी ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूव पूर्वमें हुए अन्याय तीथङ्गोंसे भी पूर्वकालकी अतएव एक तरहसे अनादि हैं । प्रवाहरूपसे अनादि होनेपर भी समय समयपर होनेवाले नव नव तीथङ्गोंके द्वारा वे पूव पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं । इसी मान्यताको प्रकट करते हुए कल्काल सवज्ञ आचार्य हेमचन्द्रने प्रमाणमीमासामें, नैयायिक जयन्त भट्टना अनुकरण करके उदात्तरीसे कहा है कि—“अनाद्य एवता विद्या सक्षेपचिस्तरचिषक्षया नव

नप्रोपयति, तत्तत्कर्तुं शक्योऽप्यने । किन्नाथौपी न कदापि
नीदश जगत् ।'

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता एसी है कि जिसका साम्प्रदायिक लोग आज तक अङ्गीकार मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदाङ्ग आत्मित्वकी मान्यता का । साम्प्रदायिक लोग दो प्रकारके होते हैं—बुद्धि-अवधारणो भ्रष्टालु जो परम्पराप्राप्त यस्तुकी बुद्धिका प्रमाण बिना किए ही भ्रष्टाचार में मार लते हैं और बुद्धिप्रयोगी भ्रष्टालु जो परम्पराप्राप्त यस्तुको कुछ भ्रष्टासे मान ही नहीं लेते पर उसका बुद्धिक द्वारा यथा सम्भव समर्थन भी करते हैं । इस तरह साम्प्रदायिक लोगोंमें पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता का आदरभाव स्थान होनेपर भी इस जगह कमनाम्न और उसके मुख्य विषय कमनत्वक सम्प्रथमें एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना प्राप्त है । यह दृष्टि है ऐतिहासिक ।

एक तो इन परम्पराओं में भी साम्प्रदायिक मान्यताके अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करने का युग कभीसे आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युगमें प्रकाशित किए जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जेताँ तक ही सीमित नहीं रहते । जैनतर में उन्हें पढ़ते हैं । सम्पादक, छात्रक, अनुवादक और प्रकाशक का ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ जिस तरह अभिप्रायिक प्रमाणमें जैनतर पाठकों के हाथमें पहुँचे । कहनेकी आवश्यकता ही जरूरत है कि जैनतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकते । अतः एक कमनत्व और कमनाम्नके बारेमें हम साम्प्रदायिक दृष्टिसे चिन्ता ही क्यों न करें और जितने विचार भी अब तक उसके बारेमें हम ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशन का उद्देश्य ठीक ठीक सिद्ध हो नहीं सकता । साम्प्रदायिक मान्यताओंके स्थानमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेके पक्षमें और भी प्रबल दलालें हैं । पहला तो यह कि अब घरे घरे कमविषयक जैन पाठ्यपुस्तक प्रवेश

कालिजोंके पाठ्यक्रममें भी हुआ है जहाँका वातावरण असाम्प्रदायिक होता है। दूसरी दलील यह है कि अब साम्प्रदायिक वाङ्मय सम्प्रदायकी सीमा लाघकर दूर दूरतक पहुँचने लगा है। यहाँतक कि जर्मन विद्वान् ग्लेज़नप जो “जैनिस्मस्”—जैनदर्शन जैसी सबसग्राहक पुस्तकका प्रसिद्ध लेखक है, उसने तो वेताम्बरीय कर्मग्रन्थोंका जमन मापामें उल्टा भी कमीका कर दिया है और यह उसी विषयमें पी० एच्० डी० भी हुआ है। अतएव मैं इस जगह थोड़ी बहुत कमतत्त्व और कर्मशास्त्र सम्बन्धी चर्चा ऐतिहासिक दृष्टिसे करना चाहता हूँ।

मैंने अभी तक जो कुछ वैदिक और अवैदिक धृत तथा मार्गका अधलोकन किया है और उसपर जो थोड़ा बहुत बिचार किया है उसके आधारपर मेरी रायमें कर्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली नीचे लिखी वस्तुस्थिति राम तोरसे फलित होती है जिसके अनुसार कर्मतत्त्वावेचारक सन परम्पराओंकी शृंगला ऐतिहासिक क्रमसे मुसद्गत हो सकती है।

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किम आधार पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अयके सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टिमें इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व माननेके लिए बाधित न था जो अच्छे धुरे जन्मान्तर या परलोककी प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चाबाक परपराक न मसे निग्यात हुआ। पर साथही उस अति पुराने युगमें भी ऐसे चिंतक थे जो बतलाते थे कि मृत्युके बाद जन्मान्तर भी है*। इतना ही नहीं

* मेरा ऐसा अभिप्राय है कि हम देश में किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक मार्ग आया और वह ज्यों ज्यों फैलता गया त्यों त्यों इस देशमें उस प्रवर्तक धर्मके आनेके पहलेसे ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्मकी दूसरी शाखा ईरानमें

बलिक इस दरम्यान लाने अलग और भी थैठ कनिष्ठ लोक है। ये पुनत्रम और परलोकवादो कहलाते थे और ये ही पुनत्रम और परलोकक कारण रूपसे कमतत्वका स्वीकार करते थे। इनका दृष्टि यह रही कि अगर कम न हो तो जन्म जन्मांतर एवं इहलोक परलोकका मध्यस्थ ही नहीं सकता। अतएव पुनत्रमही मान्यताके आधारपर कमतत्वका स्वीकार आवश्यक है। ये ही कमतादी अनेक परलोकवादों तथा आदिष्ट कहते थे।

कमतादिओंके मुख्य दो दल रहें। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कमका बल जन्मान्तर और परलोक असत्य है, पर थैठ जन्म तथा थैठ परलोकके वाले कम भी थैठ ही चाहिये। यह दल परलोकवादी होनेसे तथा थैठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूपसे धर्मका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे, धर्म अथ-काम एसे तीन ही पुरुषार्थोंका मानता था, उसका दृष्टिमें मायका अलग पुरुषार्थ रूपसे स्थान न था।

परयोत्प्रेषणधर्मरूपमें विकसित हुई। और मारतमें आनवादी याज्ञिक प्रवर्तक धर्मका शाखाका निवर्तक धर्मवादिओंके साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव हुआ। यज्ञके पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा कर्म, मोक्ष ध्यान, योग, तपस्या आदि विविध मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध आनुवंशिक मानते थे और न आनुवांशिकी नियत व्यवस्था। उनके मनानुसार किमी भी धर्मकार्यमें बलिके लिए पत्नीका सहचार अनिवार्य न था प्रचलित समयमें एक दूसरेका सम्बन्ध बिच्छुर हो जाता था। जबकि प्रवर्तक धर्ममें इससे सब कुछ लक्ष्य था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें यार्हस्थ और त्यागाधर्म की प्रधानतावाले जो संवाद पाये जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मोंके विरोधपूर्ण हैं। प्रत्येक निवर्तक धर्मवालेके दर्शनके सूत्रमें मोक्षको ही पुरुषार्थ लिखा है जबकि याज्ञिक मार्गके सब विधान स्वयत्की बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अर्थोंमें उन दोनों धर्मोंका समन्वय भी हो गया है।

जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्मका उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दलके मन्तव्यका सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेपमें यह है कि धर्म-शुभकर्मका पठ स्वर्ग और अधर्म अशुभकर्मका फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हींके द्वारा जन्म-जन्मान्तरकी चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मतके अनुसार जधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्थाका समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एव विहित आचरणोंसे धर्मकी उत्पत्ति बतलाकर तथा निम्न आचरणोंसे अधर्मकी उत्पत्ति बतलाकर सब तरहकी सामाजिक सुव्यवस्थाका ही उक्तेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मशास्त्री नामसे प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादिओंका दूसरा दल उग्रमुक्त दलसे मिलजुल विरुद्ध दृष्टि रखनेवाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्मका कारण भ्रम अवश्य है। शिष्टसम्मत एव विहित कर्मोंके आचरणसे धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर यह धर्म भी अधर्मकी तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौपा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवनका लक्ष्य है और मोक्षके वास्ते कर्ममान, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्मका उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्नसे वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्मका उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मतका सूचक है। इसके मतानुसार जन्म आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दलकी दृष्टिके विरुद्ध ही कर्मकी उत्पत्तिमा असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्मका मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं, किन्तु अज्ञान और राग द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण

ती न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अभयभी
उत्पत्ति होती है । इसके मतानुसार पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं रागद्वेषमूलक
जैसे अथवा एवं ही है । यह निरन्तर धमरादिद्वय सामाजिक न होकर
व्यक्तिविकासवादी रहा । जब इसने कर्मका उच्छेद और मात्त पुरुषार्थ मान
लिया तब इसे कर्मके उच्छेदक एवं मात्तके जनक कारणोंपर भी विचार
करना पड़ा । इसी विचारके फलस्वरूप इसने आ कर्मनिराकरण स्थिर
किए वहीं इस दलका निरन्तर धम है । प्रत्येक और निरन्तरधमकी शिक्षा
बिल्कुल परस्पर विरुद्ध है । एकका ध्येय सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षा और
सुव्यवस्थाका निमाण है जब दूसरेका ध्येय निष्ठा आत्मनिराकरण मुक्तरी प्राप्ति
है, अतएव मान जात्मगामी है । निरन्तर धम ही धमरा, परिभाषक,
सत्यही और योगमात्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है । कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं
रागद्वेष जनित होनेसे उसकी आत्मनिराकरण निवृत्ति का उपाय अज्ञाननिरोधी
सम्पूर्ण ज्ञान और रागद्वेषविराधी रागद्वेषनाशरूप समय ही स्थिर हुआ ।
बाकीके तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयमके ही
साधनरूपसे मान गए ।

निरन्तर धमरादिओंमें अनेक पक्ष प्रचलित थे । पक्ष पक्ष भेद कुछ
तो बादोकी स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुताका आधारों या और कुछ अर्थोंमें
तत्त्वज्ञानकी बुद्धि उदी प्रतिभापर भी अवलंबित था । ऐसे मूलमें तीन पक्ष
रहे ज्ञान पक्ष है । एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा
परमाणुवादा होकर भी प्रधानकी छायावाला था । हममेंसे पहला परमाणु
वादी मोक्ष समयक होनेपर भी प्रवर्तकधमका उतना विरोधी न था जितने
कि गिहल दो । यही पक्ष आगे जाकर न्याय वैशेषिक दर्शनरूपसे प्रसिद्ध
हुआ । दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्मनिराकरण कर्मनिवृत्तिका
समयक इससे प्रवर्तकधम अथात् भौत स्मार्तकर्मकी भी द्वेष बतलाता था ।

यही पक्ष सांख्ययोग नामसे प्रसिद्ध है और इसीके तत्त्वज्ञानकी भूमिकाके ऊपर तथा इसीके निवृत्तिवादकी छायामें आगे जाकर वेदातदशन और सत्यासमागकी प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधानच्छायापन अथात् परिणामी परमाणुवादका रहा जो दूसरे पक्षकी तरह ही प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक निरोधी था। यही पक्ष जैन एव निग्रय दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। बौद्ध-दशन प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी है पर वह दूसरे और तीसरे पक्षके मिश्रणका एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। सभी निरतक धादिजाका सामान्य लक्षण यह है कि किसी न किसी प्रकारसे कर्मोंकी जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहासे फिर जन्मचक्रम आना न पड़े।

ऐसा मान्य नहीं होता है कि कभी प्रवर्तकधर्म मान्य प्रचलित रहा हो और निवर्तक धर्मवादका पीछेछे प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है जब कि समाजमें प्रवर्तक धर्मकी प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म ध्यत्तिजों तक ही सीमित होनेके कारण प्रवर्तक धर्म-धादिओंकी तरफसे न केवल उपेक्षित ही था बल्कि उसके विरोधकी चोटें भी सहता रहा। पर निरतक धर्मधादिओंकी जुदी जुदी परंपराओंने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वोंका क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्मके होते हुए भी सारे समाजपर एक तरहसे निरतकधर्मकी ही प्रतिष्ठाकी मुहर लग गई। और जहाँ देखो वहाँ निवृत्तिकी ही चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्तिके विचारोंसे ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निरतकधर्मनादिओंको मोक्षके स्वरूप तथा उसके साधनोंके विषयमें तो ऊहापोह करना ही पड़ता था पर इसके साथहा साथ उनका कर्मतत्त्वा के विषयमें भी बहुत विचार करना पड़ा, उन्होंने कर्म तथा उसका भेदाकी परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ स्थिर कीं। कार्य और कारणकी दृष्टिसे कर्मतत्त्व का विविध वर्गीकरण किया। कर्मकी फलदान शक्तियोंका विवेचन किया।

जुदे जुदे विपारोंकी काल मयादाएँ सोचो । कर्मोंके पारस्परिक रुग्णपर भी
 विचार किया । इस तरह निवर्तक धमपादिओंका साक्षात् कमतत्परिणाम
 शास्त्र व्यवस्थित हो गया और हममें दिन प्रतिदिन नये नये प्रश्नों और
 उनके उत्तरोंके द्वारा अधिनाधिक विकास भी होता रहा । ये निवर्तक धम
 वादी जुदे जुदे पक्ष अपने सुभीतके अनुसार जुदा जुदा विचार करते रहे
 पर जनतक इन सबका संमिश्रित ध्येय प्रवर्तक धमवादका खण्डन रहा तब
 तक उनमें विचार विनिमय भा होता रहा और उनमें एकवाक्यता भी
 रही । यही तत्त्व है कि न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, जैन और बौद्ध दर्शन
 के कमपरिणाम साहित्यमें परिमाणा, मात्र, वर्गीकरण आदिका शब्दशः और
 अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखनेमें आता है, जब कि उक्त दर्शनोंका मौजूदा
 साहित्य उस समयकी अधिनाश पैदाश है जिस समय कि उक्त दर्शनोंका
 परस्पर सन्धान बहुत कुछ घट गया था । माधवादियोंके सामने एक अछि
 समस्या पहलेसे यह थी कि एक तो पुराने यदकम ही अनन्त है, दूसरे
 उनका क्रम । पक्ष भोगनेके समय प्रत्यक्षज्ञानमें नय नय भी कम बघते हैं,
 फिर इन सब कर्मोंका स्वभाव उच्छेद कैसे समझ है, इस समस्याका हल
 भी माधवादिओंने यही रास्ता लिया था । आन हम उक्त निवृत्तिवादी
 दर्शनोंके साहित्यमें उस हलका बगन संश्लेष या निष्कारसे एकसा पाने हैं ।
 मद वस्तुस्थिति इतना सूचित करनेके लिए पयाप्त है कि कभी निवर्तक-
 वादि-जोंके भिन्न भिन्न पक्षोंम रात विचार विनिमय होता था । यह सब
 कुछ हाते हुए भी धारे धारे ऐसा समय आगया जब कि ये निवर्तकवादी
 पक्ष आपसमें प्रथम बितने नब्बदीक न रहे । फिर भी हरएक पक्ष कमतर-
 क नियम ऊदापोह वा करता हो रहा । इस बीचमें ऐसा भी हुआ कि
 क्रिस्ता निवर्तक वादिपक्षमें एक साक्षात् कमचितक बगली स्थिर हो गया जो
 आर मा'उसकी प्रश्नोंकी अपेक्षा कमके नियमों ही गहरा विचार करता
 था और प्रधानतया उसीका अध्ययन अध्यापन करता था जैसा कि अ-प

अन्य विषयके साथ चित्तक वग अपने अपने विषयमें किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्रका चिन्तनार्थ जैन दर्शनका कर्मशास्त्रानुयागधर वर्ग या कर्मसिद्धांतज्ञ वर्ग है।

कर्मके बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायोंके बारेमें तो सब मोक्षवादी गौण मुख्यभावसे एक मतही हैं पर कर्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें ऊपर निर्दिष्ट साथ कर्मचिन्तक वर्गका जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्मका चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म ब्रतलाते थे जब कि प्रथावादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म ब्रतलाते थे। परंतु आत्मा और परमाणुको परिणामी माननेवाले जैन चित्तक अपनी जड़ो प्रक्रियाके अनुसार कर्मको चेतन और जड़ उभयके परिणामरूपसे उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्यके प्राप्त अन्तःकरणही तरह समीच विनाशशील था, जिसमें कर्मरूप विनाश भी समझ है और जो जड़ परमाणुओंके साथ एक-रस भी हो सकता है। वैशेषिक आदिके मतानुसार कर्म चेतनधर्म होनेसे वस्तुतः चेतनसे जुदा नहीं और सांख्यके अनुसार कर्म प्रकृतिधर्म होनेसे वस्तुतः जड़से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकोंके मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभयरूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व सम्बंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्वके चिन्तनमें परस्पर विचारविनिमय अभिजाधिक होता था। यह समय कितना पुराना है यह निश्चयरूपसे तो कहाही नहीं जा सकता पर जैनदर्शनमें कर्मशास्त्रका जो चिरकालसे स्थान है, उस शास्त्रमें जो विचारोंकी गहराई, शृंगलायुद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावोंका असाधारण निरूपण है इसे ध्यानमें रखनेसे यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन दर्शनकी विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथके पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्याके धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और

यही विषय जाग्रावणीय पूर्व तथा कमप्रसाद पूर्वके नामसे विभूत हुए । ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्वशतका मतलब मगवान् महावीरके पहलेसे चला आनेवाला शास्त्र विशेष है । नि सदेह ये पृथक्स्तुत मगवान् पादवनाथके पहलेसे ही एक या दूसरे रूपमें प्रचलित रहे । एक ओर जैन चिन्तकोंने कमतत्त्वके चिन्तनकी ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सार्व-योगने ध्यानसाधकी ओर सविशेष ध्यान दिया । आगे जाकर जब तपागत हुए हुए तब उन्होंने भी ध्यानपर ही अधिक भार दिया । पर सबाने त्रिसप्तमें मिले कमचिन्तनको अपना रखा । यही सबय है कि सूक्ष्मता और विस्तारमें जैन कमशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है । फिर भी सार्व योग, बौद्ध आदि दर्शनोंके कर्मचिन्तनोंके साथ उठना बहुत कुछ साम्य है और मूर्खमें एकता भी है जो कमशास्त्रके अभ्यासिआके लिए शतव्य है ।

सामान्यरूपसे संज्ञित ऐतिहासिक अवलोकन करनेके बाद अब मैं प्रस्तुत अनुवाद तथा अनुवादक आदिके बारेमें थोड़ा लिख देना जरूरी समझता हूँ । जब मने ६० स० १९१७ से १९१९ तकमें चार कमग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद किया तब मने कुछ सम्भावित मित्रोंने मुझसे कहा कि तुम कमग्रन्थ जैसे मामूली ग्रन्थोंपर शक्ति क्यों खर्च करते हो ? पर मैंने अपना अनुवाद पूरा ही किया । मेरा धारणा पहलसे यह तो थी हो कि भारतीय दर्शनमें का सांप्रदायिकता उस गढ़ है, ज्ञानके क्षेत्रमें भी जो चौकावृत्ति बंध गई है वह तुलनात्मक तन्त्र अध्ययनके द्वारा ही मिट सकती है । इस धारणासे अनुसार मैंने कमग्रन्थोंके अनुवादके साथ प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि रूपसे कुछ न कुछ लिखा । मैंने उस समय यह सोच लिया था कि कमतत्त्वके बारेमें भी ऐसा लिखना कि निमसे सहोदर भाई जैसे जेताभर दिगम्बर दा पिरके कमसे कम ज्ञानके प्रवेशम तो एक दूसरे निकट आवें और परस्पर आदरशील बनकर उदारभावसे एक

दूसरेका साहित्य पढ़ें । इस विचारके अनुसार चारों कमग्रन्थोंके अनुवादोंमें उत्तरोत्तर श्वेताम्बर दिगम्बर ग्रन्थोंके आधारपर अधिनाधिक तुलना मैंने की थी । आगे मेरा इरादा यह था कि पाचवें छठे कमग्रन्थोंके अनुवादमें तो और भी विशेष तुलना करूँ । पाचवें कमग्रन्थका दो तिहाई अनुवाद मैंने कर भी लिया था और उसकी कापिया आगरा रखी थी । मैं उसे पूरा करूँ इसके पहले ही अहमदाबाद चला गया और अन्य प्रवृत्तिमें यह काम छूट गया । जब कभी आगरा आता तो उन कापिओंको समाल लेता । फिर भी अवसर न आया कि उसे मैं पूरा करूँ । क्रमशः वे कापिया भी गुम हुई । शहर मेरे पुराने मित्र नाथू दयाल चन्दजीका बार बार अनुरोध होता रहा कि बाकीके कमग्रन्थोंका हिंदी अनुवाद पूरा हो । मैं ऐसे योग्य आदमीकी तलाशमें था कि जो इस कामके लिए पूरा क्षम हो । काशीमें ५० कैलाशचन्दजी परिचित थे । और वे धर्मशास्त्रके अध्यापक भी हैं । उनकी विचार तथा लेखनकी विशदतासे मैं पूरा परिचित था । अतएव मैंने उन्हींसे पञ्चमक्रमग्रन्थका अनुवाद करनेको कहा । उन्होंने मेरा अनुरोध और कामका बोझ होते हुए भी मान लिया और बहुत श्रमसे इस अनुवादको तैयार किया ।

५० कैलाशचन्दजी दिगंबराय कर्मसाहित्यके तो प्रारम्भगी थे ही, पर जब मैंने उनसे मेरी अनुवादविषयक दृष्टि सूचितकी तब उन्होंने श्वेताम्बरीय कर्मनिषयक करीब करीब महत्त्वका संपूर्ण साहित्य पढ़ डाला और फलतः यह अनुवाद तुलनात्मक दृष्टिसे तैयार किया । मेरे प्रथमके चार अनुवादोंमें दिगम्बरीय साहित्यकी तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी कि इस अनुवादमें है । कारण स्पष्ट है । पंडितजीको सारा दिगम्बरीय कमशास्त्र स्मरण है । इसतरह प्रस्तुत अनुवादमें श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असलमें एकही स्रोतक दो प्रवाहमान हैं वे गगायमुनाका तरह मिल गए हैं । उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्य-

यनके बाद ही लिया है। उसकी भाषा वा मानो निम्न प्रवाह है। इस तरह मुझे जो पाचर्य कमग्रन्थका अनुवाद न कर सन्नेरा असंतोष था वह इस अनुवादसे दूर ही नहीं हुआ बल्कि एक प्रकारका संतुष्टता भी हुआ है। इस अनुवादके द्वारा श्वेताम्बरीय अम्ब्यासि-जोंका दिगम्बर परंपराका तत्त्व जाननेकी बहुत कुछ सामग्री मिलेगा। और वा दिगम्बरीय अम्ब्यासी इस अनुवादको पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मयका खौरम भी अनुभूत होगा। प० कैलाशचन्द्रका दिगम्बर परंपरा है। उनमें किष्ट अनुवादकी आरंभ और दिगम्बर परंपराके अम्ब्यासि-जोंका ध्यान गया था निःसंदेह वे मौजूदा ज्ञानधरातलसे बहुत कुछ ऊँचा उठेंगे। और उनका ज्ञानका दायरा विस्तीर्ण होगा। पहिलीजिने अनुवाद पूरा करतक बाद मुझको सुनाया तब अमुक भाग सुननेके बाद मैंने उसे सच सद्दय मित्र हीराचन्द्र देव चन्दका अहमदाबाद देरानेके वास्तु मेत्र दिया, जैसा कि मैं अपने अनुवादीके नाममें भी करता रहा। आयुत हीराचन्द्र भाइया कमलाकाके निषयमें गानेश्वर श्वेताम्बरीय-कमग्रन्थोंके शिष्यम जो स्थान है वह मेरी जानकारीम और किसी श्वेताम्बर विद्वानका नहीं है। उन्होंने बड़ी लगन और दिल-चस्पीसे इस अनुवादको बारीकीके साथ देखा और मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी उन्होंने कुछ सुवनाए सुशरणाकी दृष्टिसे कीं। प० कैलाशचन्द्रजाने उन सुवनाओंमेंस जो ठीक थीं उसके अनुसार यथास्थान सुधार किया। इसतरह अन्तमें यह ग्रन्थ तैयार होकर अम्ब्यासि-जोंके संमुख उपस्थित होता है। म० प० कैलाशचन्द्रका तथा भाद हीराचन्द्र दोनोंके अमर मूच्य समझता हूँ और एतदर्थ अपनी आरसे तथा मदलकी जोरसे उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

प्रकाशक मन्त्रालये कमग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके हिन्दी साहित्यमें एक नया ही प्रस्थान शुरू किया है। यों तो परमश्रुत्वमानक मन्त्रालयी आरसे दिगम्बरीय जीवकाण्ड और कमणाण्ड ग्रन्थोंके दिगम्बरीय

विद्वानोंके द्वारा किए गये अनुवाद बहुत पहलेसे ही प्रसिद्ध थे । और उन अनुवादोंका पुनः संस्करण भी एक प्रसिद्ध दिगम्बर पंडितके द्वारा ही हुआ है जो दिगम्बरीय कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ समझे जाते हैं और निम्नकी मातृभाषा भी हिन्दी है । फिर भी आ० मण्डल द्वारा प्रकाशित और प्रकाशमान प्रस्तुत अनुवादके साथ जब उन जीवरूपाण्ड कर्मकाण्डके अनुवादोंकी तुलना करता हूँ तब कहना पड़ता है कि मण्डलका प्रयत्न कदा ज्यादा सफल और व्यापक है । मंडलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी कर्मग्रन्थके बाद तो गुजराती भाषामें भी कर्मग्रन्थोंके अच्छे अनुवाद प्रसिद्ध हुए हैं, जो प० मंगलदासके किए हुए हैं । और जिनमें मण्डलके द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादमेंसे जमुनासामग्री भी अक्षरान्तर ली गई है । मंडल के हिन्दी अनुवाद हिन्दीभाषी मान्ताओंके अलावा गुजरातमें इतने अधिक प्रचलित हुए हैं कि मंडलकी पुस्तकोंकी निम्नोक्त बड़ा भाग गुजरातमें ही हुआ है । प्रस्तुत अनुवाद भी गुजरातमें बहुत प्रचलित हागा और समय है कि इसके आभयसे गुजरातमें भी अनुवाद तैयार हो ।

अन्तमें मैं दो एक बातोंकी आर पाठकोका ध्यान रखता हूँ । प० कैलाशचन्द्रजीने अपनी स्पष्टभाषिताके अनुसार खुद ही कहा है कि अम्यास-के कारण दिगम्बरीय परिभाषाओं और सूक्तोंसे जितना मैं परिचित हूँ उतना श्वेताम्बरीय परिभाषाओंसे नहीं । यह उनका कहना वास्तविक है । और इसमें कोई दोष नहीं प्रत्युत गुण है । फिर भी उन्होंने श्वेताम्बरीय परिभाषाओं को समझने और अपनाओका भरसक प्रयत्न किया है । प्रस्तावनामें उन्होंने द्वाविनातरीय ग्रन्थोंका परिशीलन करके मतलबकी ठीक २ बातें लिखी हैं, जहाँ कहीं जैन ग्रन्थके हवालेका उल्लेख आया वहाँ उद्धरण विशेषरूपसे दिगम्बरीय ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किए हैं । यह स्वाभाविक है । क्योंकि उन्हें श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उतने उपस्थित और समझा नहीं हो सकते जितने दिगम्बरीय ग्रन्थ । पर इससे श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय अम्यासियोंको ता

सम्पादकका वक्तव्य

साठे तीन वर्षों लगभग हुए, ५० सुखलाहरी प्रेरणासे मने पञ्चम ग्रन्थके अनुवादका कार्य हाथमें लिया था। अनुवाद ग्रन्थकार श्रीदेवेन्द्र सूरिजी स्वरचित टीकाके आधारपर किया गया है। संस्कृतगीतामें जो विशेष धर्म आई है, उनका सारांश भाषाभूमिमें दे दिया गया है। आनन्दकथा-नुसार ५० अध्यायोंमें विनियोजित गुजराती टनसे भी सहायता ली गई है। ग्रन्थकारने अपनी संस्कृत टीकामें पहली गायिकाके प्रारम्भमें प्रतिपादित बारह विषयाका बारह द्वारोंके रूपमें विभाजन किया है। अर्थात् जैसे अन्य ग्रन्थों का विभाजन अध्याय, सर्ग, परिच्छेद आदिने रूपमें पाया जाता है वैसे ही इस ग्रन्थका विभाजन बारह द्वारोंके रूपमें किया गया है। किन्तु गुजराती टनमें १६ प्रवृत्तियाँ, ४ प्रकारके वच, ४ उनके स्तामी, १ उपशमभेदि और १ शमभेदि, इस प्रकार ग्रन्थमें प्रतिपादित छन्दोंमें विषयाको लेकर छन्दोंसे द्वार प्रवृत्तियम है। किन्तु मने कई बातोंका विचार करके ध्यानसे द्वार ही रक्ते हैं—वच और उनके स्तामीयों पृथक् पृथक् द्वारमें न रखकर एक एक द्वारमें ही रखा है। उचित तो यही था कि ग्रन्थकारके अनुसार बारह ही द्वार रखे जाते, किन्तु प्रारम्भमें कुछ भागका द्वारोंमें विभाजित करके बाप बहुभाषाको बिना द्वारके ही रखना उचित नहीं जान पड़ा। अतः यह अनधिकार चेष्टा करनी पड़ी।

कुछ परिमाणभा, नामों तथा भाषाओंका लेकर कमविषयक दिग्दर्शक और शब्दांशर साहित्यमें भी मतभेद पाया जाता है। इसके सिवा कर्मियों और सैद्धान्तिकोंमें भी अनेक भाषाओंका सम्बन्धमें मत भेद है। प्रस्तुत ग्रन्थमें चर्चित विषयोंके सम्बन्धमें इस तरहका मतभेद मेरे दृष्टिगत नहीं हो सका, उह मने टिप्पणीमें दे दिया है। आशा है पुनरा-श्मक अध्ययनमें प्रमियोंके लिये ये टिप्पण्य बचिकर होंगे। इस तरहका अप

भी अनेक मतभेदोंका मैंने सकलन किया था और इच्छा थी कि उन्हें एक स्वतंत्र परिशिष्टमें दे दूंगा । किंतु कुछ ग्राहस्थिक शैलियोंमें पँस जानेके कारण मैं अपनी उस इच्छाको पूरा न कर सका ।

दिगम्बर साहित्यका अभ्यासी होनेके कारण उसीकी मायताएँ, परिभाषाएँ और सज्ञाएँ मेरी स्मृतिमें समाइ हुई हैं, फिर भी मैंने अनुवादमें दवेताम्बर परम्पराका पूरा ध्यान रखनेका भरसक चेष्टासी है । छापनेसे पहले अहमदाबादके कर्मगाल्लोंने निशिष्ट अभ्यासी विद्वान् पं० हीराचन्द्रजी ने इस अनुवादको आश्रोपात्त पढ़कर अपने जो सुझाव भेजे थे, उसके अनुसार अनुवादमें संगाधन माँ कर दिया गया है । आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित पञ्चम कमग्रन्थके प्रथम संस्करणके आधारपर यह अनुवाद किया गया था । बादको नवीन संस्करणके प्रकाशित हो जानेपर उसके आधारसे गाथाओंका संशोधन करके पाठान्तर नीचे टिप्पणमें दे दिये गये हैं ।

अन्तमें मैं उन सभी महानुभावोंका आभार स्वीकार किया बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने किसी भी प्रकारसे इस कायमें सहायग दिया है । उनसे प्रथम मैं हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापक पण्डितवर सुखलाल जीका कृतज्ञ हूँ, जिनके सहज स्नेहवश मुझे यह काम हाथमें लेना पड़ा । मुझे इस बातकी भी प्रसन्नता है कि मेरे इस कायसे उन्हें सन्तोष हुआ है । और उन्होंने मेरे अपुराधपर इस पुस्तकका प्राक्कथन लिखनेका भी कष्ट किया है । पं० हीराचन्द्रजीने पूरे अनुवादको ध्यानपूर्वक पढ़कर जो सुझाव भेजनेका कष्ट किया था, उसके लिये उनका मैं बहुत ही आभारी हूँ । हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनागमके अध्यापक पं० दलमुरजी मालविणियाने चलाई वगैरहके सम्प्रथम मुझे उचित सलाह दी है । स्याद्वाद विद्यालय काशीके न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने प्रेस तथा टाइप वगैरहके चुनावमें त्रियात्मक सहायग दिया है । जत उन दोनों विद्वानोंका भी मैं आभारी हूँ । मण्डलके मनी बाबू दयालचन्द्रजी बीह्राके सौजन्यपूर्ण

व्यवहारक लिये भी मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ । उन्होंने अध्यवसायस यह प्रथम वर्तमान रूपमें प्रकाशित हो सका है ।

मेरे अनुज प्रा० खुशालचन्द्र एम० ए० साहित्याचार्यने प्रारम्भसे ही मूल संशोधनमें मेरा हाथ नटाया था । निरु संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कांग्रेसक आरम्भ सत्रोंका काम करते हुए उन्हें सरकारने नजरबन्द कर लिया । अतः उनकी चल यात्राके बाद स्वाहाद विद्यालय काशीके सुयोग्य स्नातक पण्डित अमृतालालजी शास्त्रीसे इस सम्बन्धमें मुझे पूरी सहायता मिली । अतः अपने इन दोनों मित्रोंका भी मैं आभारी हूँ ।

काशी
पीप कृष्ण प्रकाशनी
पा० नि० स० १४६८

बैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रधानाध्यापक स्वाहाद वि० जैन
विद्यालय, काशी ।

प्रस्तावना

१ कर्मसिद्धान्त

यह ग्रन्थ, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है, कर्मसिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है। अतः कर्मसिद्धान्तके कुछ मुख्य मुद्दोंपर प्रकाश डालना आवश्यक है।

१ कर्मसिद्धान्तका आशय—ससारमें बड़ी निपमता दिखाई देती है। कोई अमीर है कोई गरीब, कोई सुन्दर है कोई घुरूप, कोई बलिष्ठ है कोई कमजोर, कोई बुद्धिमान है कोई मूर्ख। तथा, यदि यह विपमता विभिन्न कुलोंके मनुष्योंमें ही पाई जाती, तब भी एक बात थी। किन्तु एक ही कुलकी तो कौन कहे, एकही माताकी कोखसे जन्म लेनेवाली सन्तानोंमें भी इसका साम्राज्य देखा जाता है। अधिक क्या कहें, पशुपति भी इस निपमतासे नहीं बच सक्ती है। उदाहरणके लिये कुत्ताको ही ले लीजिये—एक वे कुत्ते हैं जो पेट भरनेके लिये इधर उधर घूमते फिरते हैं, जिन्हें खाज और घाव हो रहे हैं और उसपर भी मार खाते डोलते हैं। दूसरे वे कुत्ते हैं जो पेटभर दूध रोटी खाते हैं, मोटरोंमें बैठकर घूमते हैं और राजकुमाराकी तरह जिन्का पालन-पोषण होता है। सारांश यह है कि ससारमें जिनपर दृष्टि डालिये उधर ही निपमता दिखाई देती है। इसका क्या कारण है? क्यों एकही माता पितासे जन्म लेनेपर भी एक बुद्धिमान होता है दूसरा मूर्ख, एक स्वस्थ होता है दूसरा रोगी, एक सुन्दर होता है

दूसरा कुरूप २ इस विषयताका कारण है प्राणियोंके अपने अपने कर्म । या सब प्राणियोंके कर्म जुदी जुदी तरहके होते हैं, अतः उनका फल भी जुदा जुदा होता है । यही कारण है कि मसारक चगचर प्राणियोंमें इतना विषमता देखी जाती है । इससे कमिन्तर तुलसादासजीन रामायणमें लिखा है—

“करम प्रधान विश्वकरि राजा,

जो जस करहि सा तस फल चाररा ।”

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसाही फल भागना पड़ता है । मोटे तौरसे यही कर्मसिद्धांतका आशय है । इस सिद्धान्तका जैन, सार्व, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक वगैरह आत्मशादी दशम सा मानते ही हैं, हिन्दु अनात्मशादी बौद्ध दशम भी मानता है । इसी तरह हर्षरवादा और अनीश्वरवादी भी इसमें प्रायः एकमत हैं ।

१ इसके सम्बन्धमें राजा मित्रिद और स्थविर नागसुन्दर निम्न सवाद अवगोकनीय है—“राजा बोले—“भन्ते ! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरहके नहीं होते ? कोई कम आयुवाला, कोई दाढ़ आयुवाला, कोई बहुत शक्ति, कोई भारी, कोई अछूत, कोई बड़ सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई बड़े प्रभाववाले, कोई गरीब, कोई धनी, कोई नीच कुलवाले, कोई ऊँचे कुलवाले, कोई बेरुफ और कोई होशियार क्या होते हैं ?

स्थविर बोले—“महाराज ! क्या कारण है कि सभी वनस्पतियाँ एक जैसी नहीं होती ? कोई खट्टी, कोई नमकान, कोई तीखी, कोई चट्ट, कोई कहेली और काढ़ मीमी क्यों होती हैं ?

भन्ते ! मैं समझता हूँ कि बोजाक मित्र मित्र होनेसे ही वनस्पतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं ।

महाराज ! इसी तरह सभी मनुष्याके अपने अपने कर्म भिन्न भिन्न होनेसे वे सभी एकही तरहके नहीं हैं । काढ़ कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले होते हैं ।

महाराज ! भगवानने मा कहा है—हे मानव ! सभी जोर अपने कर्मों से ही पञ्च भोग करते हैं, सभी जोर अपने कर्मोंके आप भालिक हैं, अपने कर्मोंके अनुमा हो नाना योनियोंमें उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म हीसे ऊँचे और नीचे हुए हैं ।” मिडिन्द प्रश्न, पृ० ८० ८१ ।

न्यायमधरीकार जयन्तने भी यही बात दर्शाई है । यथा—

“तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्रपरायणाः ।

द्रव्यसंप्रदुर्गकाग्रजनसो मूर्खेकादयः ॥

मनोभयनया केचित् सन्ति पारायतादयः ।

जगतो यद्य वैचित्र्यं सुखदुःखगदिभेदतः ।

कृपिभेवादिमाम्बेऽपि निरुक्षणफलोदयः ॥

अकस्माद्विधिछाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।

कविफलमयनेऽपि यनेऽप्यफगता क्वचित् ॥

तन्नेतद् दुर्वेद दृष्टाकारणाद् अभिगारिणः ।

तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

न्या० मञ्ज०, पृ० ४२ (उत्तरभाग)

अर्थात्—कोई कोई मूर्खिका बगैरह विशेष लोभो होते हैं, कटूनर बगैरह विशेष कामी देखे जाते हैं । ससारमें कोई सुखी है तो कोई दुःखी है । खेती नौकरी बगैरह करनेपर भी किसीको विशेष लाभ होता है और किसीको उल्टा नुकसान उठाना पड़ता है । किसीको अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसीपर बैठे निशाने बिचली गिर पड़ती है । किसीको बिना प्रयत्न किये ही फलप्राप्ति होजाता है और किसीको यत्न करने पर भी फल

२ कर्मका स्वरूप—उपयुक्त कमसिद्धान्तके बारेमें इस्वरवादियों और अनीस्वरवादियोंमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फलदानक सम्बन्धमें मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, पिरना, हँसना, बालना, सांचना, निचारना वगैरह। परलोकवादी दाशनिकाका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कारका नैय्यायिक और वैशेषिक धर्म या अधर्मके नामसे पुकारते हैं। योगी उसे कर्माशय कहते हैं, गौड़ उसे अनुशय जादि नामोंसे पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म जरा मरणरूप सत्कारके चक्रमें पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वसे सलित हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्वके कारण वे सत्कारके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग द्वेषना अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्माके बंधनका ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दाशनिकोंके निम्न मन्तव्योंसे स्पष्ट है—

गौड़ ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्नमें लिखा है—

“(मरनेके बाद) कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं ?

निमित्तमें फलेश (चित्तका मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण

प्राप्ति नहीं होती। वे सब बातें किसी दृष्टिकारणकी वजहसे नहीं होती, अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

१ ‘स कर्मवन्धसंस्कारो धर्माधमगिरोच्यते।’

न्या० मज्ज० (उत्तरभाग) पृ० ४४।

२ प्रास्त० कदली० पृ० २७२ वगैरह।

३ ‘कृतामूल कमाशय ॥ २-१२ ॥ योगद०

४ ‘मूल भवस्यानुगम्य । अभिधर्म० ५-१।

करते हैं और जो फलेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते ।

भन्ते ! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं ?

महाराज यदि ससारकी ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट जायगी तो नहीं करूँगा ।" पृ० ३९

और भी—“अविद्याके होनेसे सस्कार, सस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम और रूप, नाम और रूपके होनेसे छ आयतन, छ आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भ्रम, भ्रमके होनेसे जन्म और जन्मके होनेसे बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख घेबेनी और परेशानी होती है । इस प्रकार इस दुःखोंके सिलसिलेका आरम्भ कहासे हुआ इसका पता नहीं ।" पृ० ६२ ।

योगदर्शनमें लिखा है—

“वृत्तयः पञ्चनव्य हिंसाऽक्लिंसाः” ॥ १-५ ॥

“क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः हिंसाः ।” व्या० भा० ।

“प्रतिपत्ताऽर्थमवसाय तत्र सक्तो हिंशो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः हिंसा इति । तत्त्वयै० ।

“तथा जातीयका = क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा सस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते । वृत्तिभिः सस्कारा सस्कारेभ्यश्च वृत्तय इत्येव वृत्तिसस्कारचक्र निरन्तरमावर्तते ।” भास्वती ।

अर्थात्—पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, जो हिंश भी होती हैं और

अग्निष्ट भी हाता है । जिन वृत्तियाँ कारण द्वेष होता है और जो कर्मा-
गणक सञ्चयके लिये आचारभूत हाती हैं उन्हीं द्विष्ट कहते हैं । अर्थात् हाता
अर्थका जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करनेसे कर्मा-
गणक सञ्चय करता है । इस प्रकार धर्म और अधर्मको उत्पन्न करौवाली
वृत्तियाँ द्विष्ट नहीं जानी हैं । द्विष्टातीत्य अर्थात् अद्विष्टातीत्य सत्कार
वृत्तियोंक ही जारा होते हैं और वृत्तियाँ भस्कार से होती हैं । इस प्रकार
वृत्ति और सत्कारका चक्र सदा चलता रहता है ।

सांख्यकारिकामें लिखा है—

‘सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्ती ।

तिष्ठति सत्कारवशात् चक्षुर्भ्रमवद् धृतशरीर ॥६७॥’

“सत्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति ।

सत्कारवशात्—कर्मवशादित्यर्थ ।” माठ० छ० ।

अर्थात् धर्म और अधर्मको सत्कार कहते हैं । उसीके निमित्तसे शरीर
बनता है । सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर धर्मादिक पुनः भ्रम करनेमें समर्थ नहीं
रहते । फिर भी सत्कारनी बचहसे पुरुष सत्कारमें ठहरा रहता है । जैसे,
जुलाबके दण्डका सम्पर्क दूर हो जाने पर भी सत्कारक वशासे बाक धूमता
रहता है । क्योंकि बिना पर दिये सत्कारका शय नहीं होता ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय यौगैरहको धर्मके और हिंसा, असत्य, स्तेय यौ-
रहको अधर्मक साधन बनकर प्रशस्तपात्रोंमें लिखा है—

“अग्निदुषो रागाद्वचता प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वर्पा-
धर्मसहितात् प्रह्लेद्रमजापतिपिष्टमनुप्यलोकेषु आशयानुरूप
रिष्टशरीरोद्भयमिष्यसुखादिभिर्यागो भवति । तथा प्रकृष्टाद्
धर्मात् स्वर्गधर्मसहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अग्निष्ट
शरीरोद्भयमिष्यसुखादिभिर्यागो भवति । पर प्रवृत्तिलक्षणाद्

धर्माद् अधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुन पुन
संसारचक्रो भवति ।" पृ० २८०-२८१ ।

अथात्—राग जीर द्वेषसे युक्त अज्ञानी जाय कुछ अधर्मसहित मित्तु
प्रवृत्त धर्ममूलक कामोंके करनेसे ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, मित्तु-
लोक और मनुष्यगर्भमें अपने आश्रय=स्वर्गस्थानके अनुरूप इष्ट शरीर,
इन्द्रियविषय और सुखादिक प्राप्त करता है। तथा कुछ अधर्मसहित मित्तु
प्रवृत्त अधर्ममूलक कामोंके करनेसे प्रेतयोनि तिर्यग्यानि वगैरह स्थानोंमें
अनिष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और दुःखादिक प्राप्त करता है। इस प्रकार
अधर्मसहित प्रवृत्तिमूलक धर्मसे देव, मनुष्य, तिर्यक्ष जीर नारकानें (जन्म
लेखर) बारम्बार संसारचक्रमें करता है।

न्यायमञ्जरीकारने भी इसी मतमें व्यक्त करते हुए लिखा है—

‘यो ह्ययं देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषु शरीरसर्गः, यश्च प्रतिवि-
षय बुद्धिसर्गः, यश्चात्मना सह मनसः संसर्गः, स सर्वं प्रवृ-
त्तेरथ परिणामविभवः । प्रवृत्तेश्च सर्वस्या त्रियात्वात् क्षणि-
कत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दश्चात्र आत्मसंस्कार कर्म
फलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव × × न च जगति तथाविध
किमपि कार्यमस्ति वस्तु यत्र धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्तसम्भवम् ।’

पृ० ७० ।

अथात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनिमें जो शरीरकी उत्पत्ति देगी जाती
है, प्रत्येक वस्तुका जाननेके दिने जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, और आत्माका
मनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्तिका ही परिणाम है। सभी
प्रवृत्तिगो त्रियारूप होनेके कारण यद्यपि क्षणिक है, किन्तु उनसे होनेवाला
आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्दसे कहा जाना है, कमजोरके भोगने
पर्यन्त स्थिर रहता है। × × × संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म
या अधर्मसे व्याप्त न हो।

इस प्रकार विभिन्न दाशनिष्ठके उक्त मत-प्रयोगोंसे यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्तिके मूलमें राग और द्वेष रहते हैं। तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका सत्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। सत्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे सत्कारकी परस्पर अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम सत्कार है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें उक्त मतोंसे निमित्त है।

३ जैनदर्शनानुसार कर्मका स्वरूप—जैनदर्शनके अनुसार कर्मके दो प्रकार होते हैं—एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। यद्यपि अथ दर्शनमें भी इस प्रकारका विभाग पाया जाता है और भावरूपकी तुलना अन्यदर्शनोंके सत्कारके साथ तथा द्रव्यरूपकी तुलना यागद्वयनकी प्रवृत्ति और न्यायदर्शनकी प्रवृत्तिके साथकी जा सकता है। तथापि जैनदर्शनके कर्म और अन्यदर्शनके कर्ममें बहुत अन्तर है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक सत्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषा आदिको नियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ उती तरह घुन मिल्न जाता है, जैसे दूधमें पानी। यह पदार्थ है सा भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है क्योंकि जीवके कम अर्थात् नियासी बनहसे आकृष्ट होकर वह जीवसे भव जाता है। जाण्य यह है कि जहाँ जय दर्शन राग और द्वेषसे आरिष्ट तीव्र प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते हैं, और उस कर्मसे क्षणिक होनेपर भी उक्त सत्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका मन्तव्य है कि रागद्वेषसे आरिष्ट तीव्र प्रत्येक क्रिया का साथ एक प्रकारका द्रव्य आत्मामें आता है, जो उसके रागद्वेषपरिणामोंका निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाता है। कालान्तरमें वही द्रव्य आत्माको

१ 'क्रिया नाम आत्मना प्राप्य वाद कर्म, तन्निमित्तमाप्तपरिणाम पुद्गलोऽपि कर्म।' शब्दचरणासार अमृत० टी०, रा० २५, पृ० १६५।

शुभ या अशुभ फल देता है । इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैनदर्शन छ द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धम, अधम, आमाश और काल । अपने चार जोर जो कुछ हम चर्मचक्षुआंसे देखते हैं सब पुद्गल द्रव्य है । यह पुद्गल द्रव्य २३ तरहकी वगणाओंमें विभक्त है । उन वर्गणाओंमेंसे एक कामण वगणा भा है, जा समस्त ससारमें व्याप्त है । यह कामण वगणा ही जीवाके कर्मोंका निमित्त पाकर कमरूप परिणत हो जाती है । जैसा कि आचार्य उन्दकुन्दने लिखा है—

“परिणमदि जडा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुठो ।

स पविमदि कम्मरय पाणाउरणादिभापेहि ॥९५॥” प्रउचनसार

अर्थात्—जब राग-द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है, तब कमरूपी रज ज्ञानावरणादिरूपसे उसमें प्रवेश करता है ।

इस प्रकार जैनसिद्धान्तके अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवके साथ बंधको प्राप्त हो जाता है ।

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक । ऐसी दशामें उन दोनोंका बंध ही सम्भव नहीं है । क्योंकि मूर्तिकके साथ अमूर्तिकका बंधता हो सकता है, किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बंध कदापि सम्भव नहीं है । ऐसी आगह्वा की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

१ “उवभोजजमिदिण्हि य हृदिय काया मणो य कम्माणि ।

ज हवदि मुत्तमण्ण त मव्व पुग्गल जाणे ॥ ८२ ॥ पयास्ति०

अर्थात् इन्द्रियसे हम जो कुछ भोगते हैं वह सब तथा इंद्रियों, शरीर, मन, द्रव्यकर्म और भा जो कुछ मूर्त पदार्थ हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य जानना चाहिये ।

२ इन वर्गणाओंका स्वरूप जाननेके लिये इसी पञ्चमकर्मग्रन्थकी गा० ७५-७६की टीका देखनी चाहिये ।

अन्य दृग्गन्त्री तरह जैनद्वारा भी जाय और कर्मके सम्प्रधाने प्रसाह को अनादि मानता है। किसी समय यह जीव मर्यादा शुद्ध था, बादका उसके साथ कर्मोंका बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस भाष्यता में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। पञ्चास्तिकायमें तीन जीव कर्मके इस अनादि सम्प्रधान जीवपुद्गलमन्त्रके नामसे अभिहित करते हुए लिखा है—

“जो एतत्तु स्वसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।

परिणामादो कम्म कम्मोदो होदि गदित्तु गन्ती ॥ १२८ ॥

गदिमधिगदस्स दहो दहादो इदियाणि जायते ।

नेहिं दु विषयगहण तत्तो गमो उ दोसो था ॥ १२९ ॥

जायदि जीवस्से उ भावो ससारचक्रयालम्भ ।

इदि जिणचरेहिं भणिदो अणादिणिघणो सणिघणो था ॥ १३० ॥”

अर्थ—जा जीव ससारम स्थित है अर्थात् जन्म और मरण चक्रमें पड़ा हुआ है उसका सम और द्वैपरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे नये कर्म बनते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर होता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियाँसे विषयोंका ग्रहण करता है। विषयोंके ज्ञानसे राग आर द्वैपरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार ससारचक्र चक्रमें पड़े हुए जीवके भ्रमार्थ कर्म और कर्मसे मार हाते रहते हैं। यह प्रसाह अवश्य जीवकी अपेक्षासे अनादि अन्त है और भयजनक अथ तान अनर्गल सात है।

इससे स्पष्ट है कि चाव अनादिमालसे मूर्तिर कर्मोंसे बँधा हुआ है। जब तीन मूर्तिर कर्मोंमें बँधा है, तब उसके चा नये कर्म बँधत हैं, ये कर्म जीवमें स्थित मूर्तिर कर्मोंके साथ ही बँधत हैं, क्योंकि मूर्तिरका मूर्तिरके साथ संयोग होता है आर मूर्तिरका मूर्तिरके साथ उभ होता है। अत आत्मा-में स्थित पुरातन कर्मोंके साथ ही नये कर्म बन्धने प्राप्त होते रहते हैं। इस

प्रकार परम्परासे कथञ्चित् मूर्ति आत्माके साथ मूर्तिक कमद्रव्यका सम्बन्ध जानना चाहिये ।

सारांश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तत्त्व सत्कारको कर्म कहते हैं, किन्तु जैनदर्शन जानसे सम्पन्न मूर्तिद्रव्य और उसके निमित्तसे होनेवाले रागद्वेषरूप भावोंको कर्म कहता है ।

॥ कर्मोंका कर्ता भोक्ता कौन—सांख्यके सिवाय प्रायः सभी वैदिकदर्शन किसी न किसी रूपसे आत्माका ही कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता कहते हैं । किन्तु सारय भोक्ता तो पुण्यको ही मानता है, किन्तु कर्ता प्रधानको मानता है । जैनदर्शनोंमें कर्तृका निरूपण दो दृष्टियाँसे किया जाता है, एक दृष्टि निश्चयनय कही जाती है और दूसरी व्यवहारनय ।

जो परनिमित्तसे विना कर्मोंके असली स्वरूपका कथन करता है, उसे निश्चयनय कहते हैं और परनिमित्तकी अपेक्षासे आ वस्तुका कथन करता है उसे व्यवहारनय कहते हैं । जैनधर्ममें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका विचार मोहही होता नयेसे किया गया है ।

हम पहले मतलब आये हैं कि जैनधर्ममें कर्म केवल जीवके द्वारा किया गया अच्छे बुरे कर्मोंका नाम नहीं है, किन्तु जीवके कर्मोंके निमित्तसे जो पुद्गलपरमाणु आदि हुए हैं और उस चीजसे बंधनेवाला हो जाते हैं, ये पुद्गलपरमाणु कर्म कहे जाते हैं । तथा उन पुद्गलपरमाणुओंके फलानुभव होनेपर उनके निमित्तसे जीवमें जो काम-क्रोधद्वेष भाव होते हैं, ये भी कर्म कहे जाते हैं । पहले प्रकारके कर्मोंको द्रव्यकर्म और दूसरे प्रकारके कर्मोंको भावकर्म कहते हैं । जीवके साथ इसका अनादि सम्बन्ध है । इस कर्मोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्वके बारेमें अब हम निश्चयदृष्टिसे विचार करते हैं तो जीव तो द्रव्यकर्मोंका कर्ता ही प्रमाणित होता है और तब उनके फलका भोक्ता ही प्रमाणित होता है, क्योंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक है, पुद्गलद्रव्यके विचार है, अतः पर है । उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है ? चेतनका

कर्म चैतन्यरूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतनरूप । यदि चेतनका कर्म भी अचेतनरूप होन लगे तो चेतन और अचेतनका भेद नष्ट होकर महान् स्वरूप दाय उपस्थित होगा । अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्म है, परमाणुका कर्म नहीं है । या जैसे जल स्वभावका गीतक होता है, किन्तु अग्निका सम्प्रदाय होनेसे उष्ण हो जाता है । यहाँपर इस उष्णताका कर्म जानको नहीं कहा जा सकता । उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जन्म अग्निके सम्बन्धसे आगच्छ है, अतः आगतुक है, अग्निका सम्प्रदाय अलग होते ही चले जाती है । इसी प्रकार जीवके अगुद भागका निमित्त पारर जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं, उनका कर्म स्वयं पुद्गल ही है, जब उनका कर्म नहीं हो सकता, फिर तो अपने भावोंका कर्म है । जैसे सारथके मतमें पुरुषके सयोगसे प्रवृत्ति का कर्म गुण व्यक्त हो जाता है और वह सृष्टिप्रक्रियाको उत्पन्न करना शुरू कर देता है, संपाति पुरुष अन्तर्ही कहा जाता है, उसांतरह जीवके रागद्वेषादिक अगुद भावोंका सहारा पारर पुद्गलद्रव्य उसका ओर स्वरूप आहृत होता है । उसमें जायका कर्मत्व ही क्या है ? जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारमें कायदा जा रहा हो, और कोई सुन्दरी उसका माहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसका पुरुषका कर्म कर्मत्व है ? कर्म तो वह ही है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमान है । इसीतरह—

“जीवपरिणामहेतु कर्मस्य पुगला परिणमति ।

पुगलकर्मणिमित्तं तदेव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८६ ॥

यदि कुत्रचिद् कर्मगुणे जीवो कर्म तदेव जीवगुणे ।

अणोष्णनिमित्तेण दुःपरिणाम जाण दाण्हपि ॥ ८७ ॥

एण कारणेण दुःकत्ता आदा सणमावेण ।

पुगलकर्मकदाण ण दुःकत्ता सम्पमावाण ॥ ८८ ॥”

समयप्राप्त

‘जीव तो अपने रागादिरूप भावोंको करता है, किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गलद्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादिरूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पुद्गलकर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं, तथापि न तो जीव पुद्गलकर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गलकर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावोंका कर्ता नही है।’

साख्यके दृष्टान्तसे सम्भवतः पाठकोंको यह भ्रम हो सकता है कि जैन-धर्म भी साख्यकी तरह जीवको सर्वथा अकृता और प्रकृतिका तरह पुद्गलको ही कर्ता मानता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। साख्यका पुरुष तो सर्वथा अकृता है, किन्तु जैनोंका आत्मा सर्वथा अकृता नहीं है, वह अपनी जात्मा के स्वाभाविकभाव ज्ञान, दर्शन, सुख योगरह और वैभाविकभाव राग, द्वेष, काम मोहादिकका कर्ता है, किन्तु उनके निमित्तसे जो पुद्गलोंमें कर्मरूप परिणमन होता है, उसका वह कर्ता नहीं है। सारांश यह है कि वास्तवमें उपादान कारणको ही किसी वस्तुका कर्ता कहा जा सकता है, निमित्त कारणमें जो कर्तारोंका व्यवहार किया जाता है वह व्यावहारिक=लीनिक है, वास्तविक नहीं है। वास्तविक कर्ता तो वही है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। इस दृष्टिसे घटना कर्ता मृत्तिमा ही है, न कि कुम्भकार। कुम्भकारका जो लोहमें घटना कर्ता कहा जाता है, उसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि घटपयायमें निमित्त कुम्भकार है। वास्तवमें तो घट मृत्तिमाका ही एक भाग है, अतः उसका कर्ता भी वही है।

जो बात कर्तृत्वके धारेमें कही गयी है, वही बात भोक्तृत्वके धारेमें भी जाननी चाहिये। जो निम्नका कर्ता ही नहीं वह उसका भोक्ता कैसे हो

सकता है। अतः आत्मा जब पुद्गलमूर्तता का ही नहीं, तो उनका भावा भी नहीं हो सकता। वह अपने जिन राग द्वेपरूप भावना का है, उससे दशमों उद्देशा भावा है। चैने पराहारमें कुम्भकारका घण्टा भावा कहते हैं, क्योंकि घण्टा बँचकर वह जो हुआ ब्रह्मा है, उससे अपने शरीर और पुद्गलका मरण-सोपान करता है। किन्तु वास्तवमें तो कुम्भकार अपने भावा का ही भावा है। उचितरह आत्मा भी पराहारसे स्वप्नमूर्तके परावरूप मिलनेवाले सुख दुःखादिना भावा कहा जाता है, वास्तवमें तो वह अपने चैतन्यभावाका ही भावा है। इस प्रकार कर्तृत्व और भानुत्वके धारण इति-मेव जैनधर्मकी द्विविध व्यख्या है।

५ फर्म अपना फल कैसे देते हैं—इश्वरको जगतका नियन्ता माननेवाले वैदिकदर्शन जोरका कर्मकरनेमें सक्त किन्तु उसका फल भागनेमें परतर्क मानते हैं। जैसाकि महाभारतमें लिखा है—

“मयो जतुरमीशोऽयमात्मन सुखदुःखयो ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वधमेव वा ॥”

अर्थात्—वह जस भावा अपने सुख और दुःखका स्वामी नहीं है। इश्वरक द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरकमें जाता है।

भगवद्गीतामें भी लिखा है—

‘कर्मते च तत कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।’ ७-२२ ॥

‘मैं जिसका निश्चय करदेता हूँ वही इच्छित फल मनुष्यको मिलता है।’

इस प्रकार कर्मोंका फल इश्वराधीन होनेपर भी फलका निश्चय भागिया क अ-उ बुरे कर्मके अनुरूपही किया जाता है। जैसा कि भगवद्गीतामें लिखा है—

“नादत्ते कस्याचित् पाप न चैव सृष्टं विभु ।” ५-१७ ।

अर्थात्—परमेस्वर न तो किसीके पापको लेता है और न पुण्यको, अर्थात् प्राणिमात्रको अपने कर्मानुसार सुख दुःख भोगने पड़ते हैं ।

इस प्रकार जो सारी सृष्टिका संचालक परमेस्वरको मानते हैं, उनके मतसे कर्मफलका देनेवाला परमेस्वरसे भिन्न कोई दूसरा हो ही कैसे सकता है ? किंतु जैन दर्शन इस्वरको सृष्टिका नियन्ता नहीं मानता जत कर्म-फल देनेमें भी उसका हाथ होही कैसे सकता है ? ऐसी दशामें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि तब कर्मफल कौन देता है ? अचेतन फर्मोंमें स्वयं तो यह शक्ति हो नहीं सकती, कि वे अपना अच्छा या बुरा फल स्वयं दे सकें । उसके लिये तो कोई बुद्धिमान चेतन ही होना चाहिये ।

जैन दर्शन कहता है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं, उसके लिये किसी अन्य आयाधीशकी आवश्यकता नहीं है । जैसे, शराब नशा करती है और दूध पुष्टि करता है । जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीरमें पुष्टि आती है । शराब या दूध पीनेके बाद यह आवश्यकता नही होती, कि उसका फल देनेके लिये कोई दूसरा नियामक शक्तिमान हो । उसीतरह जीवके प्रत्येक कार्यात्मक, वाचिक और मानसिक परिस्तरके साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते हैं और राग द्वेषका निमित्त पाकर उससे बँध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओंमें भी शराब और दूधकी तरह अच्छाई या बुराई करनेकी शक्ति रहती है, जो चैतन्यके सम्यग्बोधसे व्यक्त होकर उसपर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभावसे भुग्व हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक या दुःखदायक होते हैं । यदि कर्म करते समय जीवके भाव अच्छे होते हैं तो बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तरमें उससे अच्छा ही फल मिलता है । तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तरमें उसका फल भी बुरा ही मिलता है । मानसिक भावोन्मा अचेतन वस्तुके ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है

और उस प्रमावकी वजहसे उस अचेतनका परिणाम कैसे अच्छा या बुरा होता है, इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये हमें डाक्टरों और वैद्योंके भोजन सम्बन्धी नियमागर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमें किसी तरहका धाम नहीं होना चाहिये भोजन करनेसे आधा घटा पड़तेसे हेरर भोजन करनेके आधा घटा घाद तक मनमें काइ अशान्ति कारण निचार न आना चाहिये। ऐसी दशामें जो भोजन किया जाता है उसका परिणाम अच्छा होता है और बुरा विकार-कारक नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत यदि काम मोषादि भावोंकी दशामें भोजन किया जाये तो उसका परिणाम ठीक नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि फलक भावोंका असर अचेतन पर पड़ता है और उसीके अनुसार उसका निराक होता है। अतः चोखका कर्म करनेमें हमेशा जीर फल भोगनेमें परतत्र माननका आवश्यकता नहीं है।

यदि इन्द्रको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातका दापक माया नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा इन्द्र मरने वालेका मृत्युका दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जि। पुरुषोंके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष

को न देखते, क्योंकि वे राजाका पालन करते हैं। उसी तरह किसीका घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्ववृत्त कर्मोंका फल भुगतता है, क्योंकि इन्द्र ने उसके पूर्ववृत्त कर्मोंकी यही सजा निपटकी होगी, तभी तो उसका भव किया गया। यदि कहा जाय कि मनुष्य फल करने में स्वतन्त्र है अतः घातका कार्य इन्द्रप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छाका परिणाम है। तो कहना होगा कि संसार दशमं काइ भी प्राणी, जन्तु स्वतन्त्र नहीं है, सभी अपने-अपने कर्मोंसे बंध हुए हैं। जैसा कि महाभारतमें भी लिखा है—'कर्मणा बध्यते जन्तु' अर्थात् प्राणी कर्मसे बध्यता है। और कर्मको परमराजनादि हे एषो परिधिपतिमें

'बुद्धि कर्मानुसारिणी' अर्थात् 'कर्मके अनुसार प्राणीकी बुद्धि होती है' न्यायके अनुसार किसी भी कामको करो या न करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। शायद कहा जाये कि ऐसा दृष्टांत तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि जीव कर्मसे बंधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अन्धे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अन्धे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको समागकी ओर ले जाता है और बुरे कर्मका अनुसरण करनेवाली बुद्धि मनुष्यको कुमागकी ओर ले जाता है। समागपर चलनेसे मुक्ति-गम और कुमागपर चलनेसे बन्धन-ग्रहण होता है। अतः बुद्धिके कर्मानुसारिणा होनेसे मुक्तिलाभमें कोई बाधा नहीं आती। अतः,

जब उक्त प्रकारसे कर्म करोमें जीव स्वतन्त्र नहीं है तो पातकका घातनरूप कर्म उसकी किसी दुर्बुद्धिका ही परिणाम होना चाहिये। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्ववृत्त कर्मका फल होना चाहिये। किन्तु जब हम कर्मका फल ईश्वराधीन मानते हैं तो उसका उत्पादक ईश्वरका ही कहा जायगा। यदि हम ईश्वरको फलदाता न मानकर जायके कर्मोंमें ही स्वतः फलदानकी शक्ति मान लें, जैसाकि हम पहले बतला आये हैं तो उक्त समस्याएँ आसानीसे हल हो जाती हैं क्योंकि मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारके संस्कार डाल देते हैं जिनसे वह मोघम आकर हत्या तक कर बैठता है। किन्तु जब हम ईश्वरको फलदाता मानते हैं तो हमारी विचारशक्ति कहती है कि किसी विचारशील फलदाताको किसी व्यक्तिके खाते कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमें हो, न कि दूसरेको उसके द्वारा सजा दिलवानेके रूपमें हो। उक्त घटनामें ईश्वर पातकसे दूसरेका घात कराता है, क्योंकि उसे उसके बरिये दूसरेको सजा दिलवानी है। किन्तु पातकको जिस दुर्बुद्धिके कारण वह परना घात करता है उस

बुद्धिका दुष्ट करनेवाले कर्मोंका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेका सजा भागनी पड़ी । अतः इश्वरको कर्मफलदाता माननेमें इसी तरह अन्य भी कह एक अनुपपत्तियों रखी जाती है । जिनमेंसे एक इस प्रकार है—किसी कर्मका फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसीका कुछ माह बाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसीका सामान्तरमें मिलता है । इसका क्या कारण है ? कर्मफलके उपभागमें यह समयकी विभक्ता क्यों देखी जाती है ? इच्छाके सिवाय इसका कोई सन्तोषकारक समाधान इश्वरवादियोंकी ओरसे नहीं मिलता । किन्तु कर्ममें ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मशास्त्री जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोंका बुद्धिगम्य उत्तर देता है जैसाकि हम आगे बतलायेंगे । अतः इसका फलदाता मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

६ कर्मका भेद कर्मके भेद शास्त्रकारोंने दो दृष्टियोंसे किये हैं—एक विभाक्का दृष्टिसे और दूसरे विभाक्काद्वयी दृष्टिसे । कर्मका एक किस किस रूप होता है और कब होता है प्रायः इन्हीं दोनों बातोंका लेकर भेद किये गये हैं । कर्मके भेदोंका साधारणतया ज्ञेयता प्रायः सभी दर्शनकारोंने किया है किन्तु जैनोक्त दर्शनोंमेंसे यागदर्शन और बौद्ध-दर्शनमें हा कर्मशाय और उसके विभाक्का कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है और विभाक् तथा विभाक्काली दृष्टिसे कुछ भेद भी गिनाये हैं । परन्तु जैनदर्शनमें उसके भेद प्रमेदा और विविध दशाओंका बहुत हा विस्तृत और साक्षीशून्य वर्णन पाया जाता है । तथा, जैनदर्शनमें कर्मोंका भेद तो विभाक्की दृष्टिसे ही गिनाये हैं किन्तु विभाक्के होने, न होने, अमुक समयमें होने वगैरहकी दृष्टिसे वा भेद हा करते हैं उन्हें कर्मोंकी विविध दशाके नामसे चिह्नित किया है । अर्थात् कर्मोंके अमुक अमुक भेद हैं और उनका अमुक अमुक अवस्थाएँ होती हैं । अन्य दर्शनाम इस तरहका भेदविभाक् नहीं पाया जाता, जैसा कि नीचेके वर्णनसे स्पष्ट है ।

कर्मके दो भेद तो सभी जानते और मानते हैं—एक अच्छा कर्म और दूसरा बुरा कर्म । इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारोंने शुभ अशुभ, पुण्य पाप, कुशल अकुशल, शुक्ल कृष्ण आदि नामोंसे कहा है । इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारोंने विभिन्न दृष्टिोंसे कर्मके विभिन्न भेद किये हैं । गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं । जो उक्त भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं । साधारणतया फलदानकी दृष्टिसे कर्मके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं, किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या पूर्व जन्ममें, वह सन संचित कहा जाता है । इसी संचितका दूसरा नाम अदृष्ट और भीमासक्तोंकी परिभाषाम अपूर्व भी है । इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है उसी समय के लिए वह दृश्य रहती है । उस समय के बीत जाने पर वह निया स्वरूपत शेष नहीं रहती, किन्तु उसके दृश्य अत एव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं । उन सब संचित कर्मोंको एक दम भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामोंमेंसे कुछ परस्पर निरोधी अर्थात् मले और गुरे दोनों प्रकारके फल देने वाले हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं । इस लिये इन दोनों कर्मोंको एकदम भोगना असम्भन है । अत एव संचितमें से जितने कर्मोंके फलोंकी भोगना पहले शुरू होता है उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं । लोकमान्य तिलकने अपने गीताई रहस्यमें क्रियमाण भेद को ठीक नहीं माना है । वे लिखते हैं —

“क्रियमाण का अर्थ है—जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है । परन्तु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है । अत

एव क्रियमाणं कर्म का तीक्ष्ण भेद माननेके लिये हमें फोड़ कारण नहीं देख पड़ता ।

वेदान्त सूत्र में (४-१-१५) कर्मके प्रारब्ध काय और अतारब्धकाय में दो भेद किये हैं । तिलनी इन्हें हा उचित समझते हैं ।

योगदर्शन में कर्माधिक दो भेद किये हैं एक दृष्टजन्मवेदनीय और दूसरा अदृष्ट जन्मवेदनाय । जिस जन्मम कर्म का संचय किया गया है उसी जन्ममें यदि वह फल देता है तो उसे दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं, और यदि दूसरे जन्ममें फल देता है तो उसे अदृष्ट जन्मवेदनीय कहते हैं । दोनोंमेंसे प्रत्येक दो भेद और भी हैं—एक नियतविशेष और दूसरा अनियत विशेष । थोड़े दर्शनमें कर्मके भेद कइ प्रकारसे गिनाये हैं । यथा—सुप्तवेदनीय, दृष्टवेदनीय और न दृष्ट सुप्तवेदनीय, तथा कुशल, अकुशल और अन्याहृत । दोनों का जाग्रत एक ही है—ता सुप्त का अनुभव करावे, जो दृष्ट का अनुभव करावे और जो न दृष्ट का और न सुप्त का अनुभव करावे । प्रथम तीन भेदोंके भी दो भेद हैं—एक नियत और दूसरा अनियत । नियतके तीन भेद हैं—दृष्टजन्मवेदनीय, उपपन्नवेदनीय और अपरम्पराय वेदनीय । अनियतके दो भेद हैं—विशेषकाल अनियत और अनियत विशेष । दृष्ट जन्मवेदनीयके दो भेद हैं—सहस्रारवेदनीय और असहस्रारवेदनीय । राग भेदोंके भी चार भेद हैं—विशेषकालनियत, विशालनियत, विशालनियत विशेषकाल अनियत, नियतविशेष नियतवेदनाय और अनियतविशेष अनियतवेदनीय ।

हम पहले बतला आये हैं कि जैन दर्शनमें कर्मसे जाग्रत जीवकी निष्ठाक साथ जीवकी आर आहृत होने वाले कर्मपरमाणु प्राप्त हैं । ये कर्मपरमाणु जीवकी प्रत्येक निष्ठाक समय जिस जैनदर्शनमें योगके नामसे कहा जाता है, आत्मा की आर आहृत होते हैं और आत्माके राग, द्वेष,

मोह आदि भावों का, जिन्हें जैन दर्शनमें कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर आत्मासे बंध जाते हैं। इस तरह कमपरमाणुओं को आत्मा तक लाने का काम योग अर्थात् जीव का कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया करती है और उसके साथ बंध कराने का काम कषाय अर्थात् आत्माके राग द्वेष रूप भाव करते हैं। सरासरी यह है कि आत्मा की योगशक्ति और कषाय, ये दोनों ही बंधके कारण हैं। यदि आत्मामें कषाय नष्ट हो जाये तो योगके रहने तक कम परमाणुओं का आस्वय-आगमन तो अवश्य होगा किन्तु कषायके न हानेके कारण वे वहाँ टहर नहीं सकेंगे। दृष्टान्तके तौर पर, योग को वायु की, कषायको गोंद की, आत्मा को एक दीवार की और कमपरमाणु को धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवार पर गोंद बगैरह लगी हो तो वायुके साथ उड़ने वाली धूल दीवार पर आकर चिपक जाती है। यदि दीवार माफ चिपकी और सुखी हो तो वायुके साथ उड़कर आनेवाली धूल दीवार पर न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है। यहाँ धूल का कम या अधिक परिमाणमें उड़ना वायुके वेग पर निर्भर करता है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी तेज उड़ती है और वायु धीमी होती है तो धूल कम उड़ती है। तथा दीवार पर धूल का कम या अधिक दिनों तक चिपके रहना उस पर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओं की चिपकाहट की कमो-बेशी पर निर्भर करता है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो तो उस पर लगी हुई धूल जन्दी झड़ जाती है, यदि किसी पेड़ का दूध लगा हो तो कुछ देरमें झड़ती है और यदि फोड़ गाढ़ लगी हो तो बहुत दिनोंमें झड़ती है। यही बात योग और कषायके बारेमें भी जाननी चाहिये। योग शक्ति जिस दजे की होती है आकृष्ट होने वाले कमपरमाणुओं का परिमाण भी उसीके अनुसार कमती बढ़ती हुआ करता है। यदि योग शक्ति उत्कृष्ट होती है तो कमपरमाणु भी अधिक संख्यामें आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। यदि योगशक्ति जप्य या मध्यम दजे की होती है तो कमपरमाणु भी कम या

कुछ अधिक परिमाणम आत्मा की आर आहृष्ट होते हैं । इसी तरह कषाय यदि तीव्र हाती है तो कर्मपरमाणु आत्माके साथ अधिक दिना तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र देते हैं । तथा यदि कषाय हल्की हाती है तो कर्मपरमाणु कम समय तक आत्मासे बंध रहते हैं और फल भी कम देते हैं । यह एक साधारण नियम है । इसमें कुछ अपवाद भी हैं । अस्तु,

इस प्रकार योग और कषायसे आत्माके साथ कर्मपरमाणुओंका बंध हाता है । वह बंध चार प्रकारका हाता है—प्रवृत्तिबन्ध, प्रदेष्टव्यबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुमागबन्ध । स्वभावको प्रवृत्ति कहते हैं । बँधनेवाले कर्म परमाणुओंकी संख्याको प्रदेष्ट कहते हैं । तथा कालका मयादानो स्थिति और फलदान शक्तिको अनुमाग कहते हैं । आत्माकी आर आहृष्ट होनेवाले कर्मोंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्याका हीन या अधिक होना, ये दो काम योगपर निर्भर हैं । तथा उन्हीं कर्मपरमाणुओंका आत्मा के साथ कम या अधिक कालतक टहरे रहना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्तिका पड़ना, ये दो काम कषाय करता है । इसतरह प्रवृत्तिबन्ध और प्रदेष्टव्यबन्ध योगसे हाते हैं और स्थितिबन्ध और अनुमागबन्ध कषायसे होते हैं । इन बंधोंमेंसे प्रवृत्तिबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, गैदनीय, माहनीय, आयु, नाम, मोन और अन्तराय । ज्ञानावरण आत्माके ज्ञान-गुणका ध्यान करता है । इसीकी वजहसे काह जल्पशक्ती और काह विरोधशक्ती देये जाते हैं । दर्शनावरण आत्माके दर्शनगुणका धारता है । आवरण यानी टोंकनशक्ती वस्तु, अर्थात् वह चीज का ज्ञान या दर्शनको हँकती है, उन्हें प्रकट नहीं होने देती । वेदनीय, या सुख या दुःखका चेन्न अनुभवन करता है । मोहनाय, या आत्माका माहित करता है, उसे सच्चे भागका भान नहीं होने देता, तथा सच्चे भागका भान हो जानेपर भी उसपर चलने नहीं देता । आयु, या अमुक समयतक जावका किसी एक शरीरमें रोके रहता है । इसके उद जानेपर ही जीवकी मृत्यु कही जाती है । नाम, जिसकी वजहसे अण्ड

या बुरे शरीर, अङ्ग-उपाङ्ग वगैरहकी रचना होती है । गोत्र, जिसकी वनइसे जीव ऊँचे कुलका या नीचे कुलका कहा जाता है । अन्तराय, जिसकी वजहसे इच्छितवस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न पड़ता है । इन आठ भेदों-मेंसे, जिन्हें आठ कर्म कहते हैं, शानावरण, दशनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म धातिकर्म कहे जाते हैं, क्योंकि ये चारों आत्माके गुणाका घात करते हैं । शेष चार कर्म अधाती कहे जाते हैं, क्योंकि ये आत्माके गुणोंका घात नहीं करते । इन आठ कर्मोंमेंसे भी शानावरणके पाँच, दशनावरणके नौ, वेदनोयके दो, मोहनीयके अष्टाईस, आयुके चार, नामके तिरानवे, मात्रके दो और अन्तरायके पाँच भेद हैं । धातिकर्मोंमें भी दो विभाग हैं—देशधाती और सर्वधाती । जो कर्म आत्मगुणके एक देशका घात करता है वह देशधाती है और जो उसका पूरी तरहसे घात करता है, वह सर्वधाती है । चार कर्मोंके ४७ भेदोंमेंसे २६ देशधाती हैं और २१ सर्व-धाती हैं । धातिकर्म तो पापकर्म ही कहे जाते हैं, किन्तु अधातिकर्मके भेदा मेंसे कुछ पुण्यकर्म हैं और कुछ पापकर्म, जो कि अनुवैदमें गिनाये हैं । जैसे, मनुष्यके द्वारा खाया हुआ भोजन पारुष्यलीमें जाकर रस, मज्जा, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाता है, उसीतरह आत्माके द्वारा ग्रहण किये गये परमाणु भी शानावरणादि रूप परिणत हो जाते हैं, और उनका बँटवारा बँधनेवाले सब कर्मोंमें होता जाता है । जोव जिस प्रकारके बाँगके द्वारा कैसे कर्मोंको फल प्राप्तिता है और उनका बँटवारा कैसे हाता है, तथा रिपतिग्रह और अनुभागबन्धका क्या नियम है, इत्यादि बातें इस पञ्चम कर्मग्रन्थके अन्दर बताई हैं, अतः उनके पिष्टपेषणकी यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

जैनदर्शनमें वर्णित कर्मके इन भेदोंकी तुलनाके योग्य कोई भेद इतर-

१ इन सभी भेदोंका स्वरूप जाननेके लिये इसी ग्रन्थमात्रमें प्रकाशित प्रथमक्रममें यकी देखना चाहिये । २ देखो माया १५ १७ ।

दशनोंमें वर्णित पूर्वोक्त भेदोंमें नहीं पाया जाता। यागदशनमें कमका त्रिषाक तीन रूपसे बतलाया है—जन्मके रूपमें, आयुके रूपमें और योगके रूपमें। किन्तु अमुक कमाशय आयुके रूपमें अपना फल देता है, अमुक कमाशय जन्मके रूपमें अपना फल देता है और अमुक कमाशय भोगके रूपमें अपना फल देता है, यह बात वहाँ नहीं बतलाई है। यदि यह भी यहाँ बतलाया गया होता तो यागदशनके आयुत्रिषाकवाले कर्मागवकी जैनदर्शनक आयुत्रयसे और कर्मत्रिषाकवाले कर्मागवकी नामकर्मसे तुलना की जा सकती थी। किन्तु यहाँ तो सभ्य कमाशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं। जो कमाशय हृदयमवदनाय होता है वह कवच का ही रूप फल देता है, जन्मान्तरम न जानसे उसका त्रिषाक जन्मरूपसे नहीं होता। इस पहले ही लिए आयु ^१ कि जन्म दशका भूमिभाग इतर दशनोंमें नहीं पाया जाता। इतर दशनोंमें वर्णित कर्मके जो भेद पहले गिनाये हैं, जैनदृष्टिसे वे कर्मोंकी निश्चि दशाएँ हैं, जैसा कि आगक वचनसे स्पष्ट है।

कर्मोंकी विविध दशाएँ—जैन सिद्धांतमें कर्मोंकी दस मुख्य अवस्थाएँ जन्म कर्मोंमें जाननाला दस मुख्य त्रिषाएँ बतलाई हैं, किन्हीं कारण कहते हैं। उनके नाम—बन्ध, उद्धतन, अपर्यतन, सत्ता, उदय, उदारणा, संनमग, उपशम, निवृत्ति और निरावृत्ति हैं। कमपरमाणुओंका आत्माके साथ सम्बन्ध जानका रूच कहते हैं। यह सबसे पहला अवस्था है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था हा नी नहीं सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृति-बन्ध, रिपतिग्रन्थ, अनुष्ण रूच और प्रदक्षनरूच। अर्थात् जब कमपरमाणु आत्माके साथ सम्बन्ध प्राप्त होते हैं तो उन्म आत्माके योग और कषाय रूप भावसे चार वर्गों होता है। प्रथम तुरन्त ही उनमें शानादिरूपी घातने वरैरक्षा स्वभाव पड़ जाता है, दूसरे उनकी स्थिति भी बँध जाती है कि ये अमुक समस्त आत्माके साथ बंध रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल

देनेकी शक्ति पढ़ जाती है। चौथे वे नियत परिमाणमें जात्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसा कि पहले स्पष्टरूपसे बतलाया है। दूसरी अवस्था या क्रिया उद्वतना है। स्थिति और अनुभागके बढ़नेकी उद्वतना कहते हैं। तीसरी अवस्था अपवर्तना उससे ठीक उल्टी है। अर्थात् स्थिति और अनुभाग का घटना अपवर्तना कहा जाता है। बंधके बाद ये दोनों क्रियाएँ होती हैं। किसी अंशुम कर्मका बंध करनेके बाद यदि जीव अच्छे काम करता है तो उसने पहले बाँध हुए पुरे कर्मकी स्थिति और फलदानशक्ति घट सकती है। जैसे, राजा श्रेणिशने मुनिके गलेमें मरा हुआ साँ टाला ता उस समय इस पुरे कामके निमित्तसे उसने साँटों नरककी आयुका बंध किया था। किंतु बादकी जन उसे धरने उक्त कामनर पश्चात्ताप हुआ और उसने भगवान महावीरके समनशरणमें अधिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया तो शुभ परिणामोंके प्रभावसे उसकी बाँधी हुई आयु घटकर पहले नरककी ही रह गई थी। यह जन अपवर्तनाकरणका ही फायदा है। इसीतरह अंशुमकर्मकी जघन स्थिति बाँधनर यदि कोई और भी बुरे काम करने लगे तथा उसके परिणाम पहलेसे भी अधिक फटपित हो जायें ता बाँध हुए कर्मकी स्थिति और फलदानशक्ति पुरे भागोंका असर पाकर बढ़ सकती है। इस उद्वतना और अपवर्तनाके कारण कोई कर्म जल्द फल देता है और काद देरमें। किसीका तीव्र फल होता है और किसीका मन्द।

बधनेके बाद कम तुरन्त ही अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है, इसका कारण यह है कि बधनेके बाद कर्म अस्तित्व रूपमें रहता है। जैसे गरान पीते ही अपना असर नहीं करती किन्तु कुछ देर बाद अपना असर करती है। उसीतरह कर्म भी बधनेके बाद कुछ समयतक सत्कारूपमें रहता है। इस कालका जैन परिभाषामें अबाधाकाल कहते हैं और यह कर्मकी स्थितिपर निर्भर है। एक बोटी-कागी सागरकी स्थितिमें एक सौ वर्षप्रमाणअबाधाकाल होता है। अर्थात् यदि किसी कर्मकी

स्थिति एक काग-कागि सागर बाँधी हा ता वह कम सौ वर्षके बाद अपना फल देना प्रारम्भ करता है। और तत्पश्चात् फल देता रहता है, जब तक उसकी स्थिति पूरा न हो। आयुर्कर्मकी अपाधाके नियमम कुछ अस्वाद हैं, जिनका विवेचन इसी ग्रन्थके अनुवादमें किया है। इसप्रकार वैधनेके बाद कर्मके फल न देकर मौजूद रहने का मत सत्ता कहते हैं। और फल देनेको उदय कहते हैं। यह उदय दो तरहका होता है—एक फलादय दूसरा प्रदग्नाय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलादय या विपाकादय कहा जाता है, किन्तु जब कम उदयमें आकर भी बिना फल दिए ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदग्नादय कहते हैं। फलादय की उपमा सबसे सुखीसे और प्रदग्नादयकी उपमा शिवना युक्तीसे दी जा सकती है।

बौद्ध दशानम कर्मके मत यत्नते हुए कुछ ऐसे कर्म बताये हैं, जिनका निराकरण नियत है और कुछ ऐसे कम बताये हैं, जिनका निराकरण नियत नहीं है। जैन दशानम में भी नियतकालमें कमके फल देने को उदय कहा जाता है और नियतकालसे पहले अर्थात् अनियतकालमें कमके फल देनेको उदाराण कहते हैं। जैसे, आमक मांसिममें आम नैचनेवाले आमोंको जाती परानेक लिए पड़ते ताइकर भूने बगैरहमें दया देते हैं जिससे वे आम वृक्षी अपेक्षा जाती पक जाते हैं। इसातरह कर्मका भी कमी कथा नियत समयसे पहले निराक हा जाता है। यही निराक उदीरणा कहा जाता है। इस उदीरणाके लिए पहले अस्वतनाकरणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है। स्थिति कम जानेपर कम नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब काइ बादमी पूरी आयु भोगे बिना असमयमें हा मर जाता है तो उसकी लाकम अशाल्मृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुर्कर्मका उदीरणाका हा जाना ही है। अपवर्तना हुए बिना उदीरणा नहीं हो सकती।

एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको सक्रमणकरण कहते हैं। यह सक्रमण कर्मके मूल भेदोंमें नहीं होता है। अर्थात् पहले गिनाये हुए कर्मोंके आठ भेदोंमेंसे एक कर्म दूसरे कर्मरूप नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप नहीं हो सन्ता और न दर्शनावरण ज्ञानावरणरूप हो सन्ता है। यही बात अन्य कर्मोंके बारेमें भी जाननी चाहिये। किन्तु एक कर्मके अर्थात् भेदोंमेंसे एक भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीयकर्मके दो भेद—सातवेदनीय और असातवेदनीयता परस्परमे सक्रमण हो सन्ता है। सातवेदनीय असातवेदनीयरूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीय हो सकता है। यद्यपि सक्रमण सजातीय प्रवृत्तियोंमें हो होता है, किन्तु आयुर्कर्म इसका अपवाद है। चार आयुर्कर्मोंमें परस्परमे सक्रमण नहीं होता। नरकनी आयु बौध लैनेयर जीन को नरकमें ही जाना होता है, वह किसी अन्य गतिमें नहीं जा सन्ता।

कर्म को उदय, उदीरणा, निषत्ति और निकाचना, इन चारों ही क्रियाओंके अयोग्य कर देने को उपशमन अवस्था कहते हैं। कर्म को उद्धतन और अपवर्तनके सिवाय दोष करणोंके अयोग्य कर देने को निषत्ति कहते हैं और समस्त करणोंके अयोग्य कर देने को निकाचना कहते हैं।

इतर दशनोंमेंसे केवल योगदशान (व्यास भाष्य) में ही हमें कर्मों की कुछ अवस्थाओं का वर्णन मिला है। माध्यमराने अष्ट अम-

॥ दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इन तीनों करणोंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

‘उदये सकममुदये चतसुवि दादु कमेण णो सङ्ग ।

उवसत्त च निषत्ति णिकाचिद् होदि ज कम्म ॥४४०॥’ कमकाण्ड

अर्थात् कर्मका उदयमें आनेके अयोग्य होना उपशम है। उसमें सक्रमण और उदयना न हो सन्ता निषत्ति है। और उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमण और उदय, चारों का ही न हो सन्ता निकाचित है।

२ “यो ह्यष्टनम्भवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गति -कृत

वेदनाय अनियमितपाक कर्म की तीन अवस्थाएँ मत्ताह हैं—१ किये हुए कर्मका विना विनाश हुए ही नष्ट हो जाना, २ प्रधान कर्ममें आयापगमन ३ और नियत विनाश वाले प्रधान कर्मक द्वारा अभिभूत होकर बहुत काल तक बने रहना । साधारण तौरसे इनमेंसे दूसरी अवस्थाको सद्गमनकरण और तात्पर्यको निवृत्ति कहैरह कहा जा सकता है । योगदर्शनमें ही कर्मों के मूल कारण कल्पा को भी चार अवस्थाएँ मत्ताह हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार । इन सिद्धांतके अनुसार ये कल्पेष्ट मात्रकमसे पृथक् वस्तु नहीं हैं अतः ये चार अवस्थाएँ मा प्रसारांतरसे कर्म की ही अवस्थाएँ समझनी चाहिये । जिनमेंसे कर्मका उद्योग होने के बाद बनता उदय नहीं होता तनु रूप को अवस्था का प्रसुप्त कहा जा सकता है । कर्मका उपशम अथवा क्षीयमान उसकी तनुत्व अवस्था है । अपनी किसी विरोधी प्रवृत्ति के उदय वगैरहके कारण किसी कर्म प्रवृत्तिके उदयका रुकना विच्छिन्न अवस्था है । उदय उदार अवस्था है । कर्मम होने वाली ये दस अवस्थाएँ मुख्य हैं । इनमेंसे उद्योग, उदय और सत्ताके प्रसुप्त अभुय और तान्त्र निरन्तर वगैरह भदनी अपेक्षासे अन्य भद्र भी होते हैं जो इस प्रश्नके प्रारम्भमें ही वर्णित हैं ।

कर्म की इन विविध दशाओंके सिवाय जैनदर्शनमें कर्मोंका त्याग, कर्मोंकी स्थिति, कर्म कौन प्रवृत्ति ग्रहणी है, किसका उदय होता है, किसकी सत्ता रहती है, किसका क्षय होता है ? आदि कर्मविषयक चर्चाके प्रत्येक आवश्यक जङ्गल बगल किया है । अन्य दशानाम यह कोई स्वतन्त्र विषय नहीं समझा गया और इस लिये उसकी चर्चाके लिये स्वतन्त्र प्रश्ननिर्माण

स्यात्रिषकस्य नाम प्रधानकर्मण्ययापगमनं वा, नियतविपाकप्रधान कर्मणा अभिभूतस्य चिरमवस्थानम् ।' पृ० १७१ ।

१ अत्रिधाभेऽप्रसुप्तेषां प्रसुप्तवस्तुविच्छिन्नोदाराणाम् ।' २, ४ ।

की ओर किसीका ध्यान नहीं गया। किन्तु जैनदर्शनमें इसका प्रमुख स्थान होनेके कारण कर्मविषयक साहित्य अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है और उसका जैन साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

२ कर्मविषयक साहित्य

भगवान् महावीरके दिव्य उपदेशके समग्रके रूपमें गणधरदेवके द्वारा जो द्वादशांग साहित्य सम्वहीत हुआ था, उसमें एक उप विभाग कर्मप्रवाद नामसे था। उसमें जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट होता है, कर्मविषयक वर्णन था। इसके सिवाय द्वितीय पूर्वके एक विभाग का नाम कर्मप्राभृत था और पञ्चम पूर्वके एक विभागका नाम कपायप्राभृत था। उनमें भी कर्मविषयक वर्णन था। किन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायमें आज वह साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके आधार पर जो कर्मविषयक साहित्य रचा गया है, वह आज भी उपलब्ध है और प्रकाशमें आ चुका है। दोनों ही सम्प्रदायोंके उस विपुल साहित्यको देखकर सहजमें ही इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि कर्मसाहित्यका जैनदर्शनमें क्या स्थान है और कर्मविषयक साहित्य उसकी कितनी विपुल सम्पत्ति है।

१ जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका स्थान—इससे पाठक जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यके स्थानकी महत्ताका अनुमान सरलतासे कर सकते हैं। यदि जैन साहित्यसे कर्मविषयक साहित्यको पृथक् कर दिया जाय तो उसकी विपुलताकी तो गहरी क्षति पहुँचेगी ही, साथ ही साथ उसका महत्त्व भी हीन हुए बिना न रहेगा। दूसरे शब्दोंमें जैन साहित्यमें कर्मसाहित्यका वही स्थान है जो संस्कृत साहित्यमें व्याकरणका है। वैसे व्याकरण और

१ इसी सन्दर्भसे प्रकाशित प्रथम कर्मग्रन्थके परिशिष्टमें दोनों सम्प्रदायोंके कर्मविषयक साहित्यकी तालिका दी गई है।

बड़े विद्याल और गहन हैं। उनमें साधारण बुद्धिवा प्रथम तो प्रवेश ही कठिन है, प्रवेश हा जानेपर भी उसमेंसे कुछ मतलबी बात निकाल लेना और भी कठिन है। अत यदि प्रत्येक विषयको लेकर जुद जुदे कमग्रन्थों को रचना न की जाती तो कमग्रन्थक साहित्यके पठन पाठनमें प्रास्ताहन नहीं मिलता। ऐतान्तरसाहित्यमें ६ कर्मग्रन्थ प्राचीन ह। उनमें यन्त्रि कमसाहित्यके एक एक विषयकी चचाह, तथापि न सा ये एक आचार्यके बनाये हुए ह और न एक समयमें ही उनकी रचना हुई है। उनके निमाता भी भिन्न भिन्न ह आर उनका रचनाकाल भी भिन्न है। उनके साथ लगे प्राचीन विनोयणसे यह भी स्पष्ट है कि वे पुराने ह किन्तु पुराने होनेपर भी पुरानोंके साथमें प्राचीन विनोयण लगानेका पद्धति नहीं दम्बी जाता। अत यह प्राचीन विनोयण केरत उनका पुरानापन बतलानेके लिये ही नहीं लगाया गया, किन्तु उसके बने नवान कम ग्रन्थोंसे उनका पृथक् पृथक् बतलानेके लिये लगाया गया है। आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने उन प्राचीन कमग्रन्थोंका अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ बनाय थे। कमग्रन्थ एक ही परिमाणमें प्राचीन कर्मग्रन्थसे छोटे थे दूसरे उनका कोई विषय इनमें छूटने नहीं पाया, तीसरे इनमें अन्य अनेक नय विषयोंका भी समग्र किया गया। कारण यह है कि प्राचीन कमग्रन्थोंके संकलनमें सा बुद्धियाँ रह गई थीं उन्हें देवेन्द्रसूरिने पूरी कर दिया। मग भिन्न भिन्न आचार्योंकी रचनाओंमें वह समबद्धता और एक दृष्टि कैसे रह सकती ह जो एक ही आचार्यकी सङ्कलित की गई रचनाओंमें पाइ जा सकती है। फलत जनताने उन्हें सूर गपनाया और मुनि श्री चतुर विनयजीके शब्दोंमें 'थोड़ा एक गणया गाछ्या विद्वानों सिवाय भाग्ये जे कोई जाणतु हरो आचार्य श्री देवेन्द्र सूरिना कर्मग्रन्थों सिवाय थोडा प्राचीन कर्मग्रन्थों पण छे जेने आधारे आचार्य देवेन्द्रसूरि पोटाना कर्मग्रन्थोंनी रचना करी छे।'

१ 'सटीक चत्वार कर्मग्रन्थ' की प्रस्तावना में।

अर्थात् थोड़ा एक विद्वानोंके सिवाय माग्यसे ही कोइ जानता होगा कि देवेन्द्रसूरिके कर्मग्रन्थोंके सिवाय कोइ प्राचीन कर्मग्रन्थ भी है, जिनके आधारपर आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंकी रचनाकी है । जैसे दिगम्बर साहित्यमें गोम्मटसारकी सङ्कलनाके बाद लोग ध्वला, जयध्वला सरीखे महान् सिद्धान्तग्रन्थोंको भी भूल गये, उसी तरह इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद लोग प्राचीन कर्मग्रन्थोंको भूलने लगे । इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचनाके बाद श्री जयतिलकसूरिने संस्कृत कर्मग्रन्थोंकी रचना की । किन्तु फिर भी उनकी प्रतिष्ठा और ग्राह्यताकी कोइ क्षति नहीं पहुँची । उत्तरकालमें जैनान्तर सम्प्रदायमें इन नवीन कर्मग्रन्थोंके कारण नीर दिगम्बर सम्प्रदायमें गोम्मटसारके कारण कम-विषयक साहित्यके पठनपाठनको रूख प्रोत्साहन मिला । इस तरह जैन साहित्यमें कमसाहित्यका स्थान कमजोर उन्नत होता गया और नवीन नवीन रचनाओंने उसके प्रचारमें बड़ी सहायता की ।

३ नवीन कर्मग्रन्थ

प्रस्तुत पञ्चम कर्मग्रन्थ देवेन्द्रसूरिरचित ८८ नवीन कर्मग्रन्थोंमेंसे पाँचवा कर्मग्रन्थ है । इससे पूर्वक चार कर्मग्रन्थ इसी मण्डलसे पहले प्रकाशित हो चुके हैं । यद्यपि उन कर्मग्रन्थोंके बारेमें उनकी प्रस्तावनाओंमें बहुत कुछ लिखा गया है तथापि बहुत सी बातोंमें परस्परमें सम्बद्ध होनेके कारण उनपर सामूहिक रूपसे विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्रस्तुत पञ्चम कर्मग्रन्थकी परिस्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती ।

१ नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम—प्रथम कर्मग्रन्थका नाम कर्मविपाक है । ग्रन्थके आदिमें, अन्तमें और उसकी स्वोपज्ञाँतिकामें ग्रन्थकारने उसे

१ 'कर्मविपाक समासजो बुद्ध' ।

२ 'इह कर्मविपाकऽयम् ।

३ 'टीका कर्मविपाकस्य' ।

इसी नामसे कहा है । दूसरे कर्मग्रन्थ का नाम कर्मस्तव है । यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आया किन्तु उससे स्वाग्रह टीकाके जोड़में तथा प्रथे स्तिमे ग्रन्थकारने उसे इसी नामसे अभिहित किया है । तासरे कर्मग्रन्थ का नाम बधस्वामित्व है । इस पर स्वाग्रह टीका नहीं है किन्तु अन्य आचार्योंकी 'अवचूरि' है । प्रथमी ग्रन्थ तथा अन्तिम गाथामें 'बधस्वामि' पद आता है । सम्भवतः इसीसे अवचूरिसे तो इस बधस्वामित्व नाम दिया है । अतः यह नाम भी ग्रन्थकारने दिया हुआ हा समझना चाहिये । चौथे कर्मग्रन्थ का नाम पञ्चशीतिक है । यह नाम मूल ग्रन्थमें तो नहीं आता, किन्तु उसका स्वाग्रह टीकाके जोड़ में तथा अन्तिमे और प्रथेस्तिमे उसका यही नाम दिया है । पञ्चम कर्मग्रन्थ का नाम शतक है । ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें यह नाम आता है । अतः पाँचों गरीब कर्मग्रन्थोंके जो नाम प्रचलित हैं वे स्वयं ग्रन्थकारके दिए हुए हैं इसमें किसी प्रकारके सम्बन्धक लिये स्थान नहीं है । उनमें प्रथम तीन नाम तो ग्रन्थमें वर्णित निपयन आधारपर रने गये हैं, क्योंकि प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मप्रवृत्तियोंके विभाजन का वर्णन है, दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणधर्मोंमें कर्मोंके उदय, उदीरण और उत्थान स्तरन—वर्णन किया गया है, और तासरेमें गति आदि भागभागोंमें कर्मग्रन्थके स्वामित्व का विचार किया गया है । तथा अन्तिमे दो नाम ग्रन्थके परिमाणक आधारपर रने गये हैं, क्योंकि चौथे कर्मग्रन्थ ८६ गाथाएँ हैं अतः उसका नाम पञ्चशीतिक है और पञ्चम कर्मग्रन्थ १०० गाथाएँ हैं अतः उसका नाम शतक है ।

२ ये नाम पूर्वजोंके सुनी हैं—पहले बतलाया गया है कि गरीब

१ 'कर्मस्तवस्य विवृतिम् ।

२ कर्मस्तवस्य टीकेयम् ।

३ 'बधस्वामित्वस्य व्याख्येय' ।

४ 'श्री पञ्चशीतिकशास्त्रं ।

५ 'पञ्चशीतिकशास्त्रं समर्थयणाह' ।

६ 'पञ्चशीतिकटीकेयम् ।

७ 'देविदसूरिद्विहितं सधामिण ।

कर्मग्रन्थोंकी रचना प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर हुई है अतः उनके नामोंका भी अपने पूर्वजोंका शृणी होना स्वाभाविक है । किंतु जहाँतक हमें मातृम हो सता है उन कर्मग्रन्थोंमें उनका नाम नहीं दिया हुआ है । अतः यह विचार करनेकी आवश्यकता है कि ये नामकरण सक्षार स्वयं ग्रन्थकारके दिमागकी उपज है या उन्होंने उसमें भी अपने पूर्ववर्तियोंका अनुसरण किया है ?

देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थोंका स्वोपश्रयीरूपमें प्राचीन कर्मग्रन्थोंका बृहत्कर्मविपाक, बृहत्कर्मस्तवसूत्र और शतसूक्तके नामसे उल्लेख किया है । तथा तोसरे कर्मग्रन्थको अर्थचूरिमें बृहद्ग्रन्थस्यामित्य और प्राचीन पञ्चशीतिकका उल्लेख मिलता है । इससे स्पष्ट है कि देवेन्द्रसूरिसे पहले प्राचीन कर्मग्रन्थ उक्त नामोंसे प्रसिद्ध थे तथा उनकी टीकाओंमें उनका यही नाम मौजूद था । इसीसे देवेन्द्रसूरिने भ्रमनिवारणके लिये उनके नामोंके साथ 'बृहत्' विशेषण लगाकर अपने ग्रन्थोंसे उनका पृथक्त्व तथा प्राचीनता सिद्ध की है । उक्त बातकी पुष्टिमें एक और भी उपपत्ति है । प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कर्मग्रन्थका नाम कर्मविपाक यगैरह रत्नकर भी देवेन्द्रसूरिने प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षासे उनमें गाथाभाषा प्रमाण बहुत कम रखा है । मुनिवर चतुरविजयजीके लेखानुसार प्रथम तान प्राचीन कर्मग्रन्थमें गाथाभाषाकी संख्या क्रमशः १६८, ५७ और ५४ है जब कि प्रथम तीन नवीन कर्मग्रन्थोंकी गाथाओंकी संख्या क्रमशः ६०, ३४ और २४ है । किंतु प्राचीन चौथे और पाँचवें कर्मग्रन्थमें क्रमशः ८६ और १०२ गाथाएँ हैं, तथा नवानमें भी क्रमशः ८६ और १०० गाथाएँ हैं । इससे

१ 'उक्त च बृहत्कर्मविपाके' पृ० २६ । 'यदुक्त बृहत्कर्मस्तवसूत्रे' पृ० ९२ । 'यदुक्त श्री शिवशर्मसूरिपादै शतके' पृ० ७९ । सटी० च० कर्म० ।

२ 'उक्त तद् बृहद्ग्रन्थस्यामित्वानुसारेण ।' 'पञ्चशीतिके' इत्यस्य । पृ० १११ सटी० च० कर्म० । ३ देखो, सटी० च० कर्म० की प्रस्तावना ।

स्पष्ट है कि प्रथम तीन नाम गाथासख्याके आधार पर न होनेके कारण उनका नाम पूर्णरूप रखकर गाथासख्यामें कमी करदी, क्योंकि गाथासख्या कम कर देने पर भी उनके नामपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। किंतु चतुर्थ और पंचमका नाम गाथासंख्याके आधारपर था। अब यदि उनकी गाथासख्यामें कमी की जाती तो उसका नामपर असर पड़ता और उस अवस्थामें पुराने नाम पट्टशीतिष और शतकर्म परिष्करण करना पड़ता, जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं था। अतः उन्होंने उनकी गाथासंख्यामें काह फेर नदल नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि नवीन कर्मग्रन्थोंके नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं।

३ कर्मग्रन्थों का पौष्पाप्य—कर्मग्रन्थोंके असली नामके बारेमें निणय हो जाने पर भी उनके 'पहला' 'दूसरा' आदि नामोंके बारेमें यह शङ्का बना ही रहती है कि कर्मविषयक पहला है, इत्यादि कम भी प्राचीन ही है या बादमें उसकी कल्पना की गई है। अतः उसका समाधान होना भी आवश्यक है।

प्राचीनकर्मग्रन्थोंके बारेमें तो यह कहा ही नहा जा सकता कि उनके कर्ताभिने स्वयं उन्हें प्रथम द्वितीय आदि का उपाधि दी थी, क्योंकि वे एक कला की रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न आचार्योंने उन्हें बनाया है। तथा विषयक पहले बना, कर्मस्तव उसके बाद बना, अर्थात्—

१ प्राचीन शतक का गाथा संख्यामें मनभद्र मालव होता है। समी० च० कम० की प्रस्तावना में (पृ० १४) मुनि श्री ब्रह्माविजयजी ने इसकी गाथा संख्या १२ बतलाई है। समी० के परिशिष्ट न० ६ में जो कि प्रथम कर्मग्रन्थसे दिया गया है उसकी गा० सं० १११ लिखी है। शतक की टीका में आचार्य मन्मथारी हेमचन्द्रने गाथासंख्यापरिमाणनिष्पन्न यथायनामक अतकारणम् आदि लिखकर उसकी गाथाओं का परिमाण तो ही बतलाया है।

स्वामित्व उसके भी बाद बना, ऐसा भी कोई ग्रन्थ अभी तक निर्णीत नहीं हो सका है। मुनिवर चतुर विजयजीका मत है—‘आरीने परुदर जोता विक्रमना प्रीजा के चौथा सैकाथी लई विक्रमनी वारमी सदी सुधीमा थयेल जुदा जुदा आचार्यों द्वारा आकर्मग्रन्थोनी रचना उत्क्रम भी ज करायेल होई। हमें भी ऐसा ही पंचता है। अतः कर्मग्रन्थोंका पीवापर्य प्राचीन तो प्रतीत नहीं होता।

नव्यकर्मग्रन्थ एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं अतः देखना चाहिये कि वे उस विषय पर वहाँ तक प्रकाश डालते हैं? इसके लिये उनके रचनानाम पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तब मूलग्रन्थकी गाथाओंके अवलोकनसे पता लगाया जा सके है वहाँ तब हमारे देखनेमें केवल एक स्थल ही ऐसा मिला है जिसमें उसके पूर्ववर्ती कर्मग्रन्थके पढ़नेकी सलाह उसका नाम लेकर दी गई है। तीसरे कर्मग्रन्थकी अन्तिम गाथामें लिखा है कि ‘कर्मस्तयको सुनकरके इसे जानना चाहिये।’ कर्मस्तय द्वितीय कर्मग्रन्थ का नाम है अतः तीसरेसे पहले दूसरे कर्मग्रन्थके पढ़ने की सम्मति प्रथकार देते हैं। इससे कर्मस्तय और यन्धस्वामित्वका पीवापर्य तो स्पष्ट हो जाता है। शेषके लिये हमें उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंका आश्रय लेना होगा।

पहले कर्मविपाकको देखिये। इसकी टीकामें ग्रन्थकारने अपने किसी भी कर्मग्रन्थका उल्लेख नहीं किया है। तथा इसकी पहली ही गाथाके उत्तरार्द्धमें ‘कर्म’शब्दकी व्युत्पत्ति दी गई है, जो उन्होंने अन्यत्र नहीं दी, तथा द्वितीय कर्मग्रन्थ की टीकामें स्वोपेक्ष कर्मविपाक और स्वोपेक्ष कर्मविपाक-टीका का उल्लेख किया है। और चतुर्थकर्मग्रन्थकी टीकामें स्वोपेक्ष-कर्मविपाक टीका का तथा पञ्चम कर्मग्रन्थकी टीकामें कर्मविपाक का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि कर्मविपाक पहला कर्मग्रन्थ है और अन्य

कर्मग्रन्थासे पहले उसकी रचना हुई है। इस तरह प्रथम द्वितीय और तृतीय का पौवाचय तो ठीक बैठ जाता है। केवल चतुर्थ और पञ्चमकी बात शेष रह जाती है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थकी पहली हा गाथाकी टीकामें स्वोपश्र कर्मस्तय की टीकामें गुणस्थानोंका सम्मिश्र वचन करनेका उल्लेख किया है। उधर कर्मस्तय की दूसरी गाथाकी टीकामें स्वोपश्रशतैक टीका तथा स्वोपश्र-पडशीतिर टीकाका उल्लेख किया है और लिखा है कि उपनाम श्रेणिका विस्तृत स्वरूप स्वोपश्रशतकटीकामें दिया है, समुद्रान्तका विस्तृत स्वरूप स्वोपश्रपडशीतिकटीकामें दिया है। शतककर्मग्रन्थके अंतमें उप-शमश्रेणि तथा शतक श्रेणिका वचन आता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शतक की टीका पहले बनाई गई है। अन्यथा कर्मस्तयकी दूसरी हा गाथाकी टीकामें उसके अंतमें वर्णित श्रेणियोंके स्वरूपका उल्लेख न होता। किन्तु शतैक की २६ वीं गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'गुणस्थानोंका अपेक्षासे प्रवृत्ति करने स्वामित्वका विचार लघुकर्मस्तय-की टीकाओं किया है और भागणाओं की अपेक्षासे स्वापक यथस्वामित्व की टीकामें किया है, अतः यहाँ नहीं किया।' इस उल्लेखसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि लघुकर्मस्तयके नामसे ग्रन्थकारने अपने ही कर्मग्रन्थका उल्लेख किया है किन्तु यदि ऐसा होता तो कर्मस्तयकी टीकाके प्रारम्भमें ही शतक टीका का अंतर्गो वर्णित विषयका उल्लेख न पाया जाता। अतः मान्य होता है कि यह लघुकर्मस्तयग्रन्थ साइदूसरा है, और स्वोपश्रकर्मस्तय की टीकासे पहले ग्रन्थकारने शतक टीकाका निमाण कर लिया था। अब यह जाना है पडशीतिक। उसकी रचना वा शतकसे पहले ही हुई जान पड़ती है, क्योंकि शतैक की टीकामें ग्रन्थकारने पडशीतिक शास्त्रका उल्लेख किया

१, पृ० ७३-७४।

२ पृ० ७६।

३ पृ० ३२।

४ इस सम्बन्धमें अभी हम निश्चय नहीं हैं। ले० १ ५ पृ० १०१।

है, जब कि पञ्चशीतिका की टीकामें शतकका उल्लेख नहीं मिलता । किन्तु कर्मस्तव की टीकामें पञ्चशीतिका टीकाका और पञ्चशीतिक टीकाके प्रारम्भमें ही स्योपशकर्मस्तव टीकाका उल्लेख होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ साथ साथ बनाई गई हैं । इस चचासे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाँचों मूल कर्मग्रन्थ उसी क्रमसे बनाये गये हैं, जिस क्रमसे वे प्रथम, द्वितीय वगैरह कहे जाते हैं । किन्तु स्वयं ग्रन्थकारने उन्हें कहीं प्रथम, द्वितीय जादि कहा हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया । मालूम होता है, उनके विषयक्रमको देखा कर ही उन्हें प्रथम द्वितीय आदि नाम दे दिये गये हैं, क्योंकि कर्मसाहित्यमें वर्णनका प्रायः यही क्रम पाया जाता है और यह है भी क्रमबद्ध ही ।

४ कर्मग्रन्थोंका विषय—जैसा कि प्रारम्भमें ही बतलाया है और नामसे भी स्पष्ट है, सामान्यरूपसे कर्मग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय जैन सिद्धांतका प्रधान अङ्गभूत कर्मसिद्धांत ही है । विशेषरूपसे—प्रथम कर्मग्रन्थमें ज्ञानावस्थायी आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेदोंके नाम तथा उनके फलका वर्णन है । दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानाका स्वरूप समझाकर उनमें प्रवृत्तियोंके बाध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका विचार किया है । अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक अमुक गुणस्थानमें अमुक अमुक प्रवृत्तियोंका बाध, अमुक अमुक प्रवृत्तियोंका उदय, अमुक अमुक प्रवृत्तियोंकी उदीरणा और अमुक अमुक प्रवृत्तियोंका सत्त्व होता है । तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गणाओंके आश्रयसे कर्मप्रवृत्तियोंके बाधके स्वामियोंको बतलाया है । अर्थात् यह बतलाया है कि अमुक मार्गणावाला जीव किन किन प्रवृत्तियोंका बाध करता है ? चौथे कर्मग्रन्थमें जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और सत्त्वा ये पाँच विभाग करके उनका विस्तारसे वर्णन किया है । जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लक्ष्या, बाध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों

का चचा की है। मार्गस्थानमें जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अन्यगुह्य, इन छ विषयोंकी चचा की है। और गुणस्थानमें जीवस्थान, योग, उपयोग, उ या, बधद्यु, बध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन नौ विषयोंका वर्णन किया है। भावमें जीवगमिसादि भावोंका जीव सरयामें सरयात अस्वस्थान आर अतःके भर्त्ताका स्वरूप बतलाया है।

पञ्चमकर्मप्रश्नमें, प्रथमकर्मप्रश्नमें वर्णित प्रकृतियोंमेंसे कौन कौन प्रकृतियों भुवविना, अभुवविनी, भुवादया, अभुवात्या, भुवसत्ताका, अभुवसत्ताका, सर्व देश घाती, अजाते, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परान्तमाना आर अमरयतमाना हैं, यह बतलाया है। उसके बाद उही प्रकृतिशामें, कौन कौन क्षत्रविशयी, जीवविशयी, भवविशयी और पुद्गलविशयी हैं, यह बतलाया है। उसके बाद कमप्रकृतिशामें प्रकृति बध, स्थितिबध, रसनध और प्रदेशबध, इन चार प्रकारके बधोंका स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबधको बतलाते हुए मूठ तथा उत्तरप्रकृतिशामें भूयस्कार, अन्यतर, अस्थित और अवक्त्य बधोंका गिनाया है। स्थितिबधका बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतिशामें जपय और उत्कृष्ट विधिति, एन्द्रिय आदि बधोंके उसका प्रमाण निकालनेकी रीति और उत्कृष्ट तथा अवय स्थितिबधके स्वामिप्राप्ति वर्णन किया है। तीसरे अनुभागबधको बतलाते हुए शुभशुभ प्रकृतिशामें तोम या भद्र रस पहनेके कारण शुभाशुभ रसका विराप स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जप य अनुभागबधके स्वामी वगैरहका वर्णन किया है। चौथे प्रदेशबधका वर्णन करते हुए वर्णाशोक स्वरूप उनकी अरणाहता, उद्भूतदलितताका मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियोंमें चैत्रारा, कमरु क्षणमें कारण ग्यारह गुणधेनियों, गुणधेन रचनाका स्वरूप, गुणधेनोका जपय और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसङ्गवश पयोग, सागरोरम और पुद्गलतरावधके भेदाका स्वरूप, उत्कृष्ट तथा जपय प्रदेशबधके स्वामी, योगस्थान वगैरहका अलङ्कार,

और प्रसंगश लोक योगैरहका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमे उपशम-
श्रेणि और क्षपकश्रेणिका सुन्दर कथन किया है।

५ कर्मग्रन्थोंका आधार—पहले बतला आये हैं कि इन नवीन
कर्मग्रन्थोंका नाम प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही रखे गये हैं। तथा उनके
आधारपर ही इनकी रचना हुई है। जिहाने दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन
किया है, उनका भी ऐसा ही कहना है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि
स्वयं ग्रन्थकार इस सम्बन्धमे क्या कहते हैं? पहले, दूसरे तथा तीसरे कर्म-
ग्रन्थोंके आदि या अन्तमे इस सम्बन्धमे कोई उल्लेख हमारे देखनेमे
नहीं आया। चतुर्थ कर्मग्रन्थकी टीकाके अन्तमे लिखा है कि पञ्चसग्रह
आदि शास्त्रोंसे इस पञ्चशीतिशतकको रचा है। तथा पञ्चमकर्मग्रन्थकी
टीकाके प्रारम्भमे प्राचीनशतकके प्रणेता श्रीशिवशर्मसुरिका स्मरण किया
है और अन्तमे लिखा है कि कर्मप्रकृति, पञ्चसग्रह, दृढशतक
आदि शास्त्रोंके आधारपर इस शतकशास्त्रको रचा है। इससे स्पष्ट है
कि इन कर्मग्रन्थोंका आधार प्राचीनकर्मग्रन्थ तो हैं ही, किन्तु कर्मप्रकृति
और पञ्चसग्रहसे भी पर्याप्त सहायता ली गई है। जिस शतकका यह
अनुवाद है, उसकी रचनाका आधार तो मुख्यतया कर्मप्रकृति और
पञ्चसग्रह ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसकी टीकामे १६ जगह कर्म-
प्रकृतिका, चार जगह कर्मप्रकृतिकी चूर्णिका, तीन जगह कर्मप्रकृतिकी
टीकाका, आठ जगह पञ्चसग्रहका तथा दो दोन जगह पञ्चसग्रहटीकाका
उल्लेख मिलता है। इतना अधिक उल्लेख किसी दूसरे ग्रन्थका देखनेमे नहीं
आया। तथा हमने अपने अनुवादके नीचे टिप्पणीमे तुलनाके लिये कहीं-कहीं
जो गाथाएँ उद्धृत की हैं, उनसे भी यही बात प्रकट होती है। शतककी
अनेक गाथाओंपर पञ्चसग्रहकी स्पष्ट छाप है, कहीं कहीं तो थोड़ासा
ही परिवर्तन पाया जाता है। शतककी ३६ वीं गाथाका व्याख्यान

१ प्रयत्न करनेपर भी हमें प्राचीन कर्मग्रन्थ उपलब्ध न हो सके। ले०।

प्रत्यक्षरने पहले पञ्चमग्रहके अभिप्रायके अनुसार किया है, पञ्चाक्षरमष्टतिने अभिप्रायके अनुसार किया है। कर्मप्रवृत्ति और पञ्चसग्रहम कुठ गतांश केर मतभेद है। कर्मप्रवृत्तिनारका मत प्राचीन प्रतीत होता है, फिर भी कहीं-कहीं कर्मप्रत्यक्षरका छत्राव पञ्चसग्रहके मतकी ओर स्थिर बन पड़ता है। यद्यपि उन्होंने दोनोंमें मतोंका समान भावसे अपने पाँचमें स्थान दिया है, और कर्मप्रवृत्तिको स्थान-स्थानपर प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है, तथापि पञ्चसग्रहके मनको उद्धृत करते हुए कही कही उसे अग्रस्थान देनेसे थ चूके नहीं हैं। कहना न होगा कि विशेषसे इहाँ दोना ग्रन्थोंके आधारपर उन्होंने शतक का निमाण किया है।

४ नवीन कर्मग्रन्थोंके रचयिता

१ कर्मग्रन्थोंके रचयिता—इन कर्मग्रन्थोंके रचयिता श्वेताम्बर वाच देवेन्द्रचरि हैं। उन्होंने अपने प्रत्येक कर्मग्रन्थकी अन्तिम गायामें अपना नाम दिया है, और उनकी स्थापक टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। जिससे पता चलता है कि उनका गुरुका नाम भीजगन्नाथचरि था और वे चान्द्रकुलम हुए थे। तथा विजयनगर श्रीधर्मभक्ति और श्रीविजयनगरदसुनिने उनके कर्मग्रन्थोंकी टीकाभाषा संशोधन किया था।

२ उनकी रचना शैली—प्रत्यक्षर भीष्मचरिचरि की रचनाशैली प्रसन्न है। वे संक्षेपमें कितना अधिक कह जाते हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके रचे हुए कर्मग्रन्थ हैं। शतककी सी गायकोंमें उन्होंने कमगाहना पपांश निपट भर दिया है। किन्तु यदि हमारे सामने उनके मूल कर्मग्रन्थ ही होते और स्वोपश्रु टीकाएँ न होती तो उनकी गैलाका हम ठीक ठीक समझ भी सकते या नहीं, यह कहना कठिन है। उनकी गैलीका स्पष्ट दर्शन तो उनकी संस्कृतटीकाओंमें होता है। उनका बढ़ती हुई चाम्धारामें बुद्धकी लगतीसे कमसिद्धान्तस्वी गहन बनमें विचरण करने करते प्राप्त हुए यकान तो दूर

हो ही जाती है साथ ही साथ उसका अवगाहन करते हुए पाठकनी अध्ययननी जो प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, उससे उसके मनमें मन-जीवनका सञ्चार हुए बिना नहीं रहता । वे प्रत्येक विषयका जञ्छा रगटीकरण करते हैं और लिखनेसे पहले तलम्वची उपलब्ध साहित्यको पढ़ डालते हैं । तथा उनसे सम्बन्धमे आ मतान्तर होते हैं, उन्हें भी अवश्य स्थान देते हैं । वे किसी विषयके सम्बन्धमें अपने पाठकनी अधिकारमे रखना नहीं चाहते, प्रत्युत अपनी अध्ययनशीलताके बलपर उसे अनिच्छे अधिक ज्ञानाजनका अवसर देते हैं । उनकी टीकाओंमें आगत कुछ चचाए तो अपने विषयसे मुदर प्रबन्ध कहे जा सकते हैं ।

१ उनकी अध्ययन शीलता-प्रयत्नराने अपनी टीकाओंमे जो अनेक प्रयोसे प्रमाण उद्धृत किये हैं उससे उनकी अध्ययनशीलताना अनुमान सहजमे ही किया जा सकता है । शतककी टीकामे ही ५०के लगभग ग्रन्थोसे उद्धरण दिये हैं, जिनमें आद्यश्रवण, तद्यध्ययन, कर्मप्रकृति, पञ्चसमूह, विशोपणवती वगैरहके नाम उल्लेखनाय हैं । तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम भी दिये हैं, जिनमे तिन भद्रगणि क्षमाभम्भा, गचहस्ती, शिशुशमोसुरि, तथा हेमचन्द्रसुरिका नाम उल्लेखनीय है । बाकीके कम-ग्रन्थाकी टीकाओंमें भी लगभग इतने ही ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं, तथा अनेक ग्रन्थकारोंके नाम दिये हैं, जिनमे उक्त नामाके सिवाय हरिभद्रसुरि, शीलाङ्क और मलयगिरि वगैरहके नाम भी हैं । इस प्रकारके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि देवेन्द्रसुरि उद्दे अध्ययनशाल वे जीर श्वेताम्बर आगम साहित्य तथा कमविषयक साहित्यका उन्हें उद्दा अञ्छा अनुगम था । प्रथम तथा चतुर्थ कमग्रन्थना टीकामे एक स्थानपर प्रज्ञाकर गुप्तका भी एक श्लोक उद्धृत किया है । यह प्रज्ञाकर गुप्त प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक ही प्रतीत होता है । इस उल्लेखसे अनुमान होता है कि उन्हें दशनान्तरका

भी अभ्यास था ।

४ ग्रन्थकारका समय-ग्रन्थकारने अपनी टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशंसा भी दी है । उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम जगन्नाथद्रसूरि लिखा है । गुरुवाचलीमें इन जगन्नाथद्रसूरिके बारेमें लिखा है कि वि० स० १२८५ में उन्होंने अग्रतप धारण किया था, इससे उनकी ख्याति 'तपा' के नामसे हो गई, और इनका वृद्धगच्छ तपागच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसके ये आज पुरुष कहलाये । दैतयाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निमज्जा भी वस्तुपाल तपपाल इनका बहुत आदर करते थे । गुरुवाचलीमें लिखा है कि तपागच्छकी स्थापनाके बाद श्रीजगन्नाथद्रसूरिने अपने गिर्य श्री देवेन्द्रसूरि और निगयचन्द्रसूरिका सूरिपद समर्पित किया था । तथा श्री देवेन्द्रसूरिने उनकी नगरीके पास छेठ जिनचान्क पुर वीरधवलकी, जब उसके निगाह सस्कारनी तैयारी हो रहा था, उस समय प्रतिज्ञा कर वि० स० १३०२ में दांजा दी थी । बादकी वि० स० १३१३ में गुजरातके प्रहादनपुर नामके नगरमें उसे मूरिपद दिया था । यही वीरधवल श्री विद्यानन्दसूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अनन गुरु आदेनेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थों-
। गीताका संशोधन किया, जिसका उल्लेख ग्रन्थिमें स्वयं आदेवेन्द्रसूरि ने किया है । गुरुवाचलीमें यह भी लिखा है कि वि० स० १३२७ में उनका स्वगन्तव्य हुआ । इन उल्लेखोंके आधारपर उनका समय विजयनगर की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है ।

अब देखना चाहिये कि गुरुवाचलीमें प्रतिपादित उक्त समयपर उनके ग्रन्थोंमें पाये जाने वाले उद्धरण वगैरह कहाँ तक प्रकाश डालते हैं । हम पहले लिख आये हैं कि श्री देवेन्द्रसूरि अपनी टीकाओंमें अनेक ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं तथा, अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है ।

१ 'तदादिगणद्विपयावुर्वे श्रीविक्रमात् प्राप तदीयवत्तु ।

वृहद्गणहोत्रे संपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरव्यमान ॥१५॥'

उन उल्लेखोंमेंसे अनेक प्राचीनतर उल्लेखोंको छोड़कर यहाँ हम केवल दो ही उल्लेखोंको लेंगे । श्रीदेवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाओंमें अनेक जगह श्री हेमचन्द्रसूरि और उनके प्राकृत व्याकरणका स्पष्ट उल्लेख किया है । प्रभावक चरितके अनुसार आचार्य हेमचन्द्रकी जन्मतिथि वि०स० ११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा थी और उनका अवसान वि०स० १२२९ में हुआ था । अतः उनका उल्लेख करनेवाले श्री देवेन्द्रसूरि विक्रमकी गारहवाँ शताब्दीके मध्यकालसे पहले तो किसी भी तरह नहीं हो सकते । तथा उन्होंने प्रसिद्ध टीकाकार श्री मलयगिरि का भी उल्लेख किया है । यह मलयगिरि आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्यके सहपाठी माने जाते हैं । इन्होंने सप्ततिका नामक छोटे कगप्रयकी टीकाओंमें सिद्धहेमम्याकरणसे उद्धरण दिया है । तथा अपना भाष्यकवृत्तिमें 'तथा चाहु स्तुतिषु गुरव' करके आचार्य हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यञ्छेद्व्याप्तिशिकाका ३०वाँ श्लोक उद्धृत किया है । इसप्रकार आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले मलयगिरि का उल्लेख श्री देवेन्द्रसूरिने किया है । इतना ही नहीं, किन्तु अपनी टीकाओंमें कहीं कहीं इन्होंने मलयगिरि का शब्दशः अनुसरण किया है । उदाहरणके लिये ऊपर मलयगिरिकी जिस सप्ततिकाकी टीकाका उल्लेख कर आये हैं, उसमें मलयगिरिने विशेषार्थों को कर्मप्रकृति टीका को देखने का अनुरोध-जिन शब्दोंमें किया है उन्हीं शब्दोंमें श्रीदेवेन्द्रसूरि भी अपनी टीका में

१ प्रथ० कर्म० टी० पृ० ४५, ५८ तथा पञ्च० कर्म० टी० पृ० ९ और १८

२ 'यदाहु श्री हेमचन्द्रसूरिपादा स्वप्राकृतलक्षण ।'

३ 'यदाहु सप्ततिकाटीकाया श्रीमलयगिरिपादा ।' द्वि० कर्म टी० पृ० ८१ ।

४ पृ० १३९ ।

५ मलयगिरि लिखते हैं—'इहानिर्गृत्तिकरणे बहु वक्तव्य तत्तु ग्रन्थ गौरवभयास्तोच्यते, केवल विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । पृ० २५० । पञ्च० कर्म० टी०, पृ० १२९ में भी यही शब्द है ।

कर्मप्रवृत्ति टीका को देखने का अनुरोध करते हैं । इससे स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्रसूरिन केवल आचार्य हेमचन्द्रके पश्चात् हुए हैं, वस्तुि 'गुरय' जैसे सम्मानस्वरूप पदसे आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले आचार्य मलयगिरिसे भी शब्दमे हुए हैं । आचार्य मलयगिरिसे आचार्य हेमचन्द्रका स्नु समाकालीन माना जाता है । अतः यदि हेमचन्द्राचार्य वि० स० १२९९ तक रहे हैं तो मलयगिरिका समय वि० स० १२९० तक माना जा सकता है । इसी समयके लगभगमे श्री देवेन्द्रसूरिका जन्म माननेसे वि० स० की तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध उनका समय निश्चित होता है या कि गुणावलीसे भी अनुकूल है ।

कार्तिकी पूर्णिमा
बोनिर्वाणानन्द
२४६८

}

कैलाशचन्द्र शास्त्री
स्वाध्यायविद्यालय काशी

हिन्दी व्याख्या सहित

पञ्चम कर्मग्रन्थका विषयानुक्रम

शाय	विषय	पृष्ठ
१	मङ्गलाचरण और ग्रन्थका विषय	१-३
	ध्रुववर्धिनी, अनुवर्धिनी, ध्रुवोदया, अनुवोदया, ध्रुवमत्ताका, अनुवसत्ताका, यात्रिनी, अयात्रिनी, पुण्य, पाप, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, क्षेत्रविपाका, जीय- विपाका, भवविपाका और पुण्यविपाका प्रकृतिका दृक्षण	२-३
२	१ ध्रुववर्धिनीद्वारा	४-६
	ध्रुववर्धिनी प्रकृतिया	४
	ये प्रकृतिया ध्रुववर्धिनी क्यों है ?	५-६
३-६	२ अनुवर्धिनीद्वारा	६-१५
	अनुवर्धिनी प्रकृतिया	६-७
	प्रकृतियोंके अनुवर्धिनी होनेका कारण	७-९
४	भनादिभनत आदि चार मङ्गलाका स्वरूप	१०-११
५	ध्रुववर्धिनी और ध्रुवोदया प्रकृतियोंमें ठल भगो- का सोपपत्तिक विधान	११-१५
	उक्त भगोंकी कर्मकाण्डमें प्रदर्शित भगोंके साथ तुलना	१५-१६
६	३ ध्रुवोदयद्वारा	१६-१८
	ध्रुवोदया प्रकृतिया	१६
	उन प्रकृतियोंके ध्रुवोदया होनेका कारण	१७-१८

कर्मप्रवृत्ति टीका को देखने का अनुरोध करते हैं । इससे स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्रसूरि ने केवल आचार्य हेमचन्द्रके पञ्चात् हुए हैं, बल्कि 'गुरुव' जैसे सम्मानसूचक पदसे आचार्य हेमचन्द्रका उल्लेख करनेवाले आचार्य मलयगिरिसे भी मदमे हुए हैं । आचार्य मलयगिरिको आचार्य हेमचन्द्रका एक समकालीन माना जाता है । अतः यदि हेमचन्द्राचार्य वि० स० १२९९ तक रहे हैं तो मलयगिरिका समय वि० स० १२५० तक माना जा सकता है । इसी समयके लगभगमे श्री देवेन्द्रसूरिका जन्म मानतेसे वि० स० की तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध उनका समय निश्चित होता है या कि गुगारलीके भी अनुकूल है ।

कार्तिकी पूर्णिमा
बोरनिर्वाण-द
१४६८

}

कैलाशचन्द्र शास्त्री
स्वाध्यायविद्यालय काशी

१. १. १. के बधस्थान	७९-८३
१. १. २. के बधस्थानोंमें भूयस्कारादि बध	८३-८६
१. १. ३. के बधस्थानोंमें सातवें भूयस्कारके सम्बन्धमें	
१. १. ४. समाधान	८३-८४
१. २. स्थितिबन्धद्वारा	८७-१७०
१. २. १. मौकी उत्कृष्ट स्थिति	८७-८८
१. २. २. मौकी अधन्य स्थिति	८८-८९
१. २. ३. प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति	८९-९०
१. २. ४. स्थितिवन्धम अवाधाकाल का प्रमाण	९२-९४
१. २. ५. इकरनाम और आहारकद्विककी उत्कृष्ट तथा अधन्य स्थिति और अवाधा	९४
१. २. ६. कोटीकोटीका प्रमाण	९५
१. २. ७. इकरनामकी स्थितिको लेकर शङ्का-समाधान	९६-९८
१. २. ८. अचित्त, उद्वर्तन और अपवर्तनका स्वरूप	९८
१. २. ९. का प्रमाण	९८-९९
१. २. १०. इंद्रिय, विकसोद्भूत और असनी जीवके आयुकर्मके	
१. २. ११. कृष्ट स्थितिवन्धका प्रमाण	९८-१००
१. २. १२. आयुकर्मके अवाधाकालके सम्बन्धम विचार	१००-१०४
१. २. १३. आयुकर्म तथा उसकी अवाधाके सम्बन्धम	
१. २. १४. अक्षप्रद्वार आदिका मत भेद	१०१-१०४
१. २. १५. अवातर भेदोकी स्थितिके सम्य और कर्मप्रकृतिमें अतर तथा उसका	
	१०५
	१०५-१०६

पञ्चम कर्मग्रन्थ

४८

४ अधुबोदयद्वार

१८-२०

७

अधुबोदया प्रकृतियाँ

१८

उनके अधुबोदया होनेका कारण

१९-२०

अधुबोदयकी परिभाषाके सम्यग्धम शङ्का-समाधान

२०

५-६ ध्रुव अधुवसत्ताद्वार

२१-४२

८-१२

ध्रुवसत्ताका और अधुवसत्ताका प्रकृतियाँ

२१-२२

८-९

१० प्रकृतियोंके ध्रुवसत्ताका होनेका कारण

२३

अनन्तानुबन्ध कषाय अधुवसत्ताका क्यों नहीं है ?

२३-२४

२८ प्रकृतियोंके अधुवसत्ताका हानका कारण

२४-२५

कम प्रकृतिकी टीकामें उ० यशोविजय जी ने अधुवसत्ताका प्रकृतियाँ २८ क्यों बतलाइ हैं ?

२४

१०

गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ताका विचार

२५-३५

बन्ध, उदय और सत्य प्रकृतियों की सवयामें अन्तर होनेका कारण

२६

सम्यक्त्व और मिथ्य मोहनीय बन्धक बिना उदयमें कैसे आती हैं ?

२६-३३

मोहनीय कर्मकी सचोपनामना कौन क्या करता है ?

२७

अधिषयाँ

११

अधिषका स्वरूप

११

अध करण, अपवकरण और अनिशृतिकरण

२८-२९

अन्तरकरणका स्वरूप

२९-३०

प्रथमोपनाम सम्यक्त्व कैसे होता है ?

३०

मिथ्यात्वके तीन पुत्र करनेमें मत भेद

३१-३२

सास्वादन गुणस्थान कब होता है ?

३४

११ गुणस्थानोमें मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबन्धी-

की सत्ताका विचार

३५-३६

अनन्तानुबन्धीकी सत्ताके बारमें कर्मशास्त्रियोंमें मतभेद ३६-३७

१२ गुणस्थानों में आहारकसप्तक और तीर्थङ्कर प्रकृति

की सत्ताका विचार

३७-४०

तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सत्तावाला जीव मिथ्यात्व गुणस्थान-
में कब आता है ?

३९

नरकमें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति होने में मतभेद ४०

४०

१३-१४ ७-८ घाति-अघातिद्वार

४२-४७

सर्वघातिनी, देशघातिनी और अघातिनी प्रकृतिया

४२-४३

प्रकृतियोंके सर्वघातिनी आदि होने में कारण

४३-४७

कर्मकाण्ड ओर कर्मग्रन्थमें सर्वघातिनी और देश-

घातिनी प्रकृतियों की सत्ता में अन्तर होने का कारण

४६

१५ ९ ९-१० पुण्य पापद्वार

४७-४८

पुण्य और पाप प्रकृतिया

४७-४८

१६ १० अपरावर्तमानद्वार

४९-५०

अपरावर्तमान प्रकृतिया

४९-५०

१७ ११ परावर्तमानद्वार

५१-५२

परावर्तमान प्रकृतिया

५१-५२

१८ १२ क्षेत्रविपाकिद्वार

५३-५४

विपाकका स्वरूप

५३

विपाकके भ्रान्त

क्षेत्रविपाका प्रकृतिया

	आनुपूर्वीके स्वरूपमें मतभेद	१
	आनुपूर्वी जीवविपाका क्या नहीं है ?	५४
२०	१४ १५ जीव और भवविपाकिद्वार	५४-५६
	जावविपाका और भवविपाका प्रकृतिर्था	५४-५५
	गतिकमें भवविपाकी क्या नहीं है ?	५५-५६
२१	१६ पुद्गलविपाकिद्वार	५६ ५७
	पुद्गलविपाका प्रकृतिया	"
	रति और अततिक्रम पुद्गलविपाकी क्यों नहीं हैं ?	५७
	पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंकी सख्यामें कर्मकाण्ड	
	और कर्मग्रन्थमें अन्तर होनेका कारण	५७-५८
२१-२७	१७ प्रकृतिरन्ध्रद्वार	५८-८५
२१	बन्धके भेद और उनका स्वरूप	५८-६०
२२	मूल प्रकृतिबन्धके स्थान और उनमें भूयस्कार आदि	
	बन्धोंका विवेचन	६०-६५
	बन्धस्थान का उल्लेख	६१
	मूल प्रकृतियोंमें चार बन्धस्थान	"
	" तान भूयस्कार बन्ध	६२-६३
	" तानि अव्ययतर बन्ध	६४-६५
	" चार अवस्थित बन्ध	६५
२३	भूयस्कार आदि बन्धोंका स्वरूप	६६-६७
२४	दशानुवर्णन कर्ममें भूयस्कार आदि बन्धोंका विवेचन	६७-७०
	मोहनीय कर्म में	"
	गो० कर्मकाण्डके अनुसार मोहनीय कर्ममें भुजाकार	७७-७९
	आदि बन्धोंका विवेचन	७०-७७

- ४६ मूलकर्मोंके स्थितिविधके उत्कृष्ट आदि भेदोंमें सादृ-
श्यगैरह भेदोंका विचार १३३-१३६
- ४७ उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिविधके उत्कृष्ट आदि भेदोंमें
सादृश्यगैरह भेदोंका विचार १३६-१३८
- ४८ गुणस्थानों की अपेक्षासे स्थितिविधका विचार तथा
उसके सम्बन्धमें शङ्का-समाधान १३८-१४१
- ४९-५१ पञ्चेन्द्रियादि जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिविधमें अल्प-
बहुत्व १४१-१४६
- ५२ शुभ और अशुभ स्थितिविधका कारण १४६-१४७
स्थितिविध और अनुभागविधके सम्बन्धमें शङ्का-
समाधान १४८-१४९
- ५३-५४ जीवोंकी अपेक्षासे योगके अल्पबहुत्व तथा स्थिति-
स्थानका वर्णन १४९-१५५
योगका स्वरूप १५०-१५१
स्थितिस्थानका लक्षण १५४
- ५५ अपर्याप्त जीवोंके प्रतिसमय होनेवाली योगकी वृद्धि-
का प्रमाण १५५-१५६
स्थितिविधके कारण अभ्यवसायस्थानोंका प्रमाण १५६-१५७
- ५६-५८ पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें जिन इच्छाओंसे कमप्रकृतियोंका
बन्ध अधिकसे अधिक नितने कालतक नहीं होता
उन प्रकृतियों तथा उनके अवधकालका निरूपण १५७-१६३
- ५८-६० तिहत्तर अनुवधविधनी प्रकृतियोंके निरन्तर बन्ध
कालका निरूपण १६३-१७०

- ३६ बुद्ध प्रवृत्तिर्वाची जय-य स्थिति वडोच बतलाकर
शेषकी जय-य स्थिति निकालनेके लिये एत्र सामान्य
नियम १०६
- इस सामान्य नियमका पञ्चमग्रह और कर्मप्रवृत्तिके
अनुसार अलग अलग इवारवान १०८-११०
- ३७ एकद्रिय जीवक उत्तरप्रवृत्तियदि उत्कृष्ट तथा जय-य
स्थितिवधका प्रमाण १११-११५
- द्वीन्द्रिय त्रान्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अवर्जा पञ्चेन्द्रिय
जीवके उत्कृष्ट तथा जय-य स्थितिवधका प्रमाण ११५-११७
- एकेन्द्रियादिकक स्थितिवधक सम्बन्धमें पञ्चमग्रह
और कर्मप्रवृत्तिम मतभेद १११-११३
- कमकाण्डन एकद्रियादिक जीवके स्थितिवधका
प्रमाण निकालने की शैली ११६
- ३८ आयुर्कर्मका उत्तरप्रवृत्तियाकी जय-य स्थिति ११७
- ३९ जय-य अवाधाका प्रमाण तथा नीचैर्द्वार नाम और
आहारकदिककी जय-य स्थितिके सम्बन्धम मतान्तर ११
- ४०-४१ सुद्रुमवका प्रमाण ११९-१२१
- आवरी, उह्वाम निधास, स्तोव, छव, घडी और
सुहृत्तका प्रमाण १२०-१२१
- ४२ तीयद्वार आहारकदिक और देशाधुके उत्कृष्ट स्थिति
दधने स्वामिबोका विवेचन, शब्दा-समाधान तथा
मतभेद १२२-१२८
- ४३-४४ शेषप्रवृत्तिर्वाक उत्कृष्ट स्थितिवधके स्वामी १२८-१३१
- ४४ ४५ प्रवृत्तिर्वाके जय-य स्थितिवधके स्वामी १३१-१३३

जीव कर्मदलिकोको कैसे ग्रहण करता है ?	२२२-२२३
८० ग्रहण किये गये कर्मदलिकोका मूल कर्मोंमें विभागका क्रम	२२३-२२५
कर्मकाण्डमें वर्णित विभागके क्रम तथा उसकी रीतिका निरूपण	२२५-२२७
१ मूलकर्मोंमें विभक्त कर्मदलिकोका उत्तर प्रकृतियोंमें विभागका क्रम	२२७-२४०
कर्मकाण्डमें वर्णित, उत्तर प्रकृतियोंमें विभागकी रीतिका निरूपण	२३२-२३८
कर्मप्रकृतिमें वर्णित, उत्तरप्रकृतियोंमें कर्मदलिकोके विभागकी हीनाधिकताका निरूपण	२३८-२४३
२ कर्मक्षपणमें कारण गुणध्रेणिके ग्यारह स्थान	२४४-२४६
३ गुणध्रेणिका स्वरूप और प्रत्येक गुणध्रेणिमें होनेवाली निर्वराका प्रमाण	२४७-२५६
४ गुणध्यानोका जय-य और उत्कृष्ट अंतराल उद्बलनका स्वरूप	२५७-२६०
५ सूक्ष्म और वादरके भेदसे दो प्रकारके उद्धार, वा और क्षेत्र पत्योपम तथा सागरोपमका स्वरूप	२६१-२७२
योगद्वार और ज्योतिष्करण्डके अनुसार काल गणनाका प्रमाण	२६१-२६२
आत्माकुल, उत्सेधाकुल और प्रमाणाकुलका स्वरूप	२६३-२६५
गम्यर माहित्यके अनुसार पत्योपमका स्वरूप	२७१-२७२
१८५९ और उसका परिमाण	२७२-२७३
और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तका स्वरूप	२७३-२७५

१०-११

१० अनुमानसंग्रह

१० ४

इत्येव वा अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१॥

११ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम्

११-१२

१२ ११ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१२॥

इति अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१३॥

१३-१४

१४ १२ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१४॥

१४-१५

१५ १३ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१५॥

१५-१६

१६ १४ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१६॥

१६-१७

१७ १५ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१७॥

१७-१८

१८ १६ अनुमानसंग्रह इत्यत्र हीनतमं दृष्टम् ॥१८॥

१८-१९

	जीव कर्मदलिकोको कैसे ग्रहण करता है ?	२२२-२२३
७९-८०	ग्रहण किये गये कर्मदलिकोका मूल कर्मोंमें विभागाका क्रम	२२३-२२५
	कर्मकाण्डमें वर्णित विभागाके क्रम तथा उसका रीतिका निरूपण	२२५-२२७
८१	मूलकर्मोंमें विभक्त कर्मदलिकोका उत्तर प्रकृतियोंमें विभागाका क्रम	२२७-२४०
	कर्मकाण्डमें वर्णित, उत्तर प्रकृतियोंमें विभागाकी रीतिका निरूपण	२३०-२३८
	धर्मप्रकृतिमें वर्णित, उत्तरप्रकृतियोंमें कर्मदलिकोके विभागाकी हीनाधिकताका निरूपण	२३८-२४३
८२	कर्मक्षपणमें कारण गुणध्रेणिके आधारस्थान	२४४-२४६
८३	गुणध्रेणिना स्वरूप और प्रत्येक गुणध्रेणिम होनेवाली निर्णयका प्रमाण	२४७-२५६
८४	गुणस्थानोका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल उद्बलनका स्वरूप	२५८-२६०
८५	सूक्ष्म और घादरके भेदसे दो प्रकारके उद्धार, नद्धा और क्षेत्र पक्षोपम तथा सागरोपमका स्वरूप	२६१-२७२
	ननुयोगद्वारा और ज्योतिष्करण्डके अनुसार कालगणनाका प्रमाण	२६१-२६२
	आत्माहुल, उल्मेधाहुल और प्रमाणाहुलका स्वरूप	२६३-२६५
	दिगम्बर साहित्यके अनुसार पक्षोपमका स्वरूप	२७१-२७२
८६	पुद्गलपरावर्तके भेद और उसका परिमाण	२७२-२७३
८७	घादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तका स्वरूप	२७३-२७५

६३-७४	३० रसवन्धन	१७० १०
	रसवन्धन या अनुभागावधन स्वरूप और उससे प्रकार	१७०
६३	गुण और अगुण प्रकृतियोंमें तत्त्व तथा मन्द अनुभागावधन कारण और छान तथा मन्द अनुभागावधन चार चार विकल्प	१७१-१७१
६४-६५	उक्त चार विकल्प होनेका कारण	१७३-१७६
	किस प्रकृतिमें कितने प्रकारका रसवन्धन होता है ?	१७६-१७७
६५	शुभागुण रसका प्रत्यक्ष स्वरूप	१७८ १८०
६६-६८	मय कर्मप्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागावधन स्वरूप निर्माण	१८१-१८५
६९-७३	सब कमप्रकृतियोंके अथवा अनुभागावधन स्वरूपों का निर्माण	१८५-१९६
७४	मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंके अनुभागावधन उत्कृष्ट अनुकूल आदि विकल्पोंमें सादि वरीरह भेदा का विचार	१९७-२०१
७ -२७	२० प्रवेशवन्धन	२०५-२१०
	प्रवेशवन्धन स्वरूप	२०५
७१-७७	प्रवेश योग्य तथा अप्रमाण योग्य वर्गणाओंका स्वरूप और उनका अवगाहनाका प्रमाण	२०६-२१६
	वर्गणाका लक्षण	२०६
७८ ७९	जीवके प्रमाण करने योग्य कर्मदलितोंका स्वरूप परमाणुका स्वरूप	२१७-२२०
	गुरुत्वा और अगुरुत्वा	२१९-२२०
	रसाणका स्वरूप	२२०

	जीय कर्मदलिकोंको कैसे ग्रहण करता है ?	२२२-२२३
७९-८०	ग्रहण किये गये कर्मदलिकोंका मूल कर्मोंमें विभागका क्रम	२२३-२२५
	कर्मकाण्डमें वर्णित विभागके क्रम तथा उसकी रीतिका निरूपण	२२५-२२७
८१	मूलकर्मोंमें प्रियतम कर्मदलिकोंका उत्तर प्रकृतियोंमें विभागका क्रम	२२७-२४०
	कर्मकाण्डमें वर्णित, उत्तर प्रकृतियोंमें विभागकी रीतिका निरूपण	२४०-२४८
	कर्मप्रकृतिमें वर्णित, उत्तरप्रकृतियोंमें कर्मदलिकोंके विभागकी हीनगधिवत्ताका निरूपण	२४८-२४३
८२	कर्मक्षपणमें धारण गुणध्रेणिके ग्यारह स्थान	२४४-२४६
८३	गुणध्रेणिका स्वरूप और प्रत्येक गुणध्रेणिमें होनेवाली निर्भराका प्रमाण	२४७-२५६
८४	गुणस्थानोंका जय-य और उत्कृष्ट अन्तराल उद्बलनका स्वरूप	२५७-२६० २५८
८५	सूक्ष्म और घादरके भेदमें दो प्रकारके उद्धार, शब्दा और क्षेत्र पल्योपम तथा सागरोपमका स्वरूप	२६१-२७२
	अनुयोगद्वार और ज्योतिष्यरण्डके अनुसार काल गणनाका प्रमाण	२६१-२६२
	आत्माकुल, उत्सेधाकुल और प्रमाणाकुलका स्वरूप	२६३-२६५
	दिगम्बर साहित्यके अनुसार पल्योपमका स्वरूप	२७१-२७२
८६	पुद्गलपरावर्तके भेद और उसका परिमाण	२७२-२७३
८७	घादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तका स्वरूप	२७३-२७५

८८	वादा धर्मसूत्रम क्षेत्र काट और भाव दुर्गलपरा वतका स्वरूप	२७५-२८१
	दिगम्बरसाङ्गिक अनुमान पद्य परावर्तनका स्वरूप	२८१-२८६
८९	उन्मृष्ट प्रदत्तवन्ध और जन्मय प्रदत्तवन्धके स्थाना	२८६-२९६
९०-९२	मृत् और उत्तर प्रवृत्तियाँही अनङ्गाम उन्मृष्ट प्रदेश वन्धके स्थानी	२९६-२९९
९३	मृत् और उत्तरप्रवृत्तियाँही अवेगास जन्मय प्रदेश वन्धके स्थाना	२९९-३०५
९४	प्रदेशवन्धके सादि वगैरह मद्र	३०५ २००
९५-९६	योगस्याय प्रवृत्ति, स्थिति स्थितिय साध्यवस्थान स्थान, अनुमानवन्धसाध्यवस्थान, कर्मप्रदेश और रसप्रदेश परस्परम अनङ्गाम	३००-३०६
९९	प्रवृत्ति, प्रदत्त, स्थिति और अनुमानवन्धका कारण	३०७
९७	घन, काक अणि और प्रवृत्तका स्वरूप	३०८-३१२
	काकका आकार	३०९
	अणोकोवन्ध समीकरण	३०९-३१०
	उद्गच्छाका समीकरण	३१०-३१९
९८	२१ उपशमथनिद्वार	३१३-३२८
	उपशम थैलिका घनम	३१४
	अनन्तानुबन्धी कथायक उपशमनकी विधि	३१४-३१६
	अनन्तानुबन्धी कथायके उपशमन मतभेद	३१६
	दर्शनप्रिक्रमा उपशम	३१७
	पारित्रमोहनोपक उपशमनका विधि	३१७-३२२

५ श्रीवीतरागाय नमः ५

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित शतकनामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ

प्रथम ही ग्रन्थकार हृष्टदेवको नमस्कार करके ग्रन्थमें वर्णित विषयका निरूपण करते हैं—

नमिय जिणं ध्रुवघोदयसत्ताघाडपुल्लपरियत्ता ।

सेयर चउहविवागा बुच्छं वधमिह सामी य ॥ १ ॥

अर्थ—जिन भगवान्को नमस्कार करके ध्रुवगन्धिनी, अध्रुवगन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्तागा, अध्रुवसत्तागा, घातिनी अघातिनी, पुण्य, पाप, परावर्तमाना, अवर्तमाना, क्षेयविवागा, जीवविवागा, भव-विवागा आर पुद्गलविवागा प्रवृत्तिवाका, तथा उधके भेद, उनके स्वामी और उपगमभेदा तथा क्षयश्रेणीका कथन करूंगा ।

इस गाथामें ग्रन्थकारने मङ्गलके साथ ही साथ उन श्रुत कर दिया है, जिनका निरूपण इस कमग्रन्थमें किया है—
प्रमेदोंकी प्रकृति भी कहते हैं, और उनसे अनेक अन्तर्भावका वर्णन इस कमग्रन्थमें ग्रन्थ, स्थितिग्रन्थ, अनुभागग्रन्थ, और जोन जीन किम प्रकृति, स्थिति, भी उल्लेख है । इस प्रकार

दोषदत्तरिलिहिय
सयगमिण आयसरणद्वा

० श्रीवीतरागाय नमः ३६

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित शतकनामक

पञ्चम कर्मग्रन्थ



प्रथम ही ग्रन्थकार इष्टदेवको नमस्कार करके ग्रन्थमें वर्णित विषयका निर्देश करते हैं—

नमिष जिण धुमरघोदयमत्ताघाडपुन्नपरिपत्ता ।

सेयर चउहविनागा घुच्छ उधविह मामी य ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन भगवानका नमस्कार करके, धुमरघिनी, अघुमरघिनी, भुवाद्या, अनुवाद्या, भुवसत्ताका, अघुमसत्ताका, घानिनी अनातिनी, पुण्य, पाप, पराजितमाना, अजराजितमाना, क्षयनिगासा, जीवनिगासा, मव-निगासा और पुट्टनिगासा प्रजनिगासा, तथा उधने भेद, उनसे स्वामी और उपजमश्रेणा तथा क्षयमश्रेणाका कथन करूंगा ।

भावार्थ—इस गाथामें ग्रन्थकारने मद्गलके माय हा माय उन विषयोंका भी निर्देश कर दिया है, जिनका निरूपण इस कर्मग्रन्थमें किया गया है । कमर भेद-ग्रभेतानी प्रकृति भी कहते हैं, और उनकी अनेक अवस्थाएँ हाती हैं । उनमेंसे साल्ट अवस्थाआका वजन इस कर्मग्रन्थमें किया है । तथा, उधने भेद-ग्रभेतिग्रध, स्थितिग्रध, अनुभागग्रध, और प्रदेशग्रधका ज्ञान भी किया है । और कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति-अनुभाग वा प्रदेशग्रधमें-स्वामी है, यह भी ज्ञातलाया है । इस

आज्ञास विषयता ता गाथाय नाम निदेश किया है, और 'च' गन्धसे उपगमनेका और ध्वनिकेणी सङ्ग्रहण का गइ है। अथात् उपगमनेकी और ध्वनिकेणी वचन या इस ग्रन्थम किया है। इसप्रकार इस गाथाक द्वारा १२ नियमोंका वचन करने का प्रतिपाद किया है—भुवग्धा आदि १२, निराक ६, वध ४, उसकें त्यागो ४ और 'च' गन्धसे दाना प्रेरितों।

सद्वृत्ताकें लिय गाथामें निदिष्ट दृष्ट विषयोंकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। अतः उनकी परिभाषाएँ नाच दा जाना हैं—

भुवग्धावर्णी प्रवृत्ति—अने कारणकें हातपर, जिस कमप्रवृत्तिमें ग्रन्थ जग्य होता है, उसे भुवग्धावर्णी प्रवृत्ति कहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति जग्य वधविच्छेदप्रयत्न वधनी भी है और नहीं भी वधनी।

अभुवग्धावर्णी प्रवृत्ति—ज वक कारणकें हात हुए भा, जो प्रवृत्ति वधनी भा है और नहीं भा वधनी, उसे अभुवग्धावर्णी कहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति अने वधविच्छेदप्रयत्न वधनी भी है और नहीं भी वधनी।

भुवोदया प्रवृत्ति—अने उदयकालके अन्त तक जिस प्रवृत्तिमें उदय धरावर रुक जाता रहता है, उसे भुवोदया कहते हैं।

अभुवोदया प्रवृत्ति—अने उदयकालके अन्ततक जिस प्रवृत्तिमें उदय धरावर नहीं रुका, कभी उदय होता है और कभी रुक जाता, उसे अभुवोदया कहते हैं।

भुवसत्ताका प्रवृत्ति—सम्पत्त्य जादि उत्तरगुणाका प्राप्ति हातसे परदे, अथात् सिध्दात्तद्वारा समा सखारी जासके आ प्रवृत्ति सदा वर्तमान रहता है, उसे भुवसत्ताका कहते हैं। और—

१ 'नियद्वयसमवेति हि भवमिज्जो जाण होइ पयडीण।

वधो ता अभुवाओ, पुवा जमयणिज्जवधाओ ॥१५३॥'

२ "सर्वोच्छिन्ना उदभा जाण पगइण

घोरिठ्ठो वि हि समयइ जाण भू

अधुसत्ताका प्रकृति-मिथ्यात्वदशाम जिस प्रकृति की सत्ताका नियम नष्ट होना, उसे अधुसत्ताका कहते हैं ।

घातिनी प्रकृति-जो कमप्रकृति आत्माके ज्ञानादिगुणोंका घात करती है, उसे घातिनी कहते हैं । वह दो प्रकारकी होती है एक मयघातिनी और दूसरी देवघातिनी ।

अघातिनी प्रकृति-जो प्रकृति आत्मिक गुणोंका घात नष्ट करती, उसे अघातिनी कहते हैं ।

पुण्य प्रकृति-जिसका फल शुभ होता है ।

पाप प्रकृति-जिसका फल अशुभ होता है ।

परायतमाना-जिस दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनोंको गेकर जिस प्रकृतिका बंध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे परायतमाना कहते हैं ।

अपरायतमाना-किसी दूसरी प्रकृतिके बंध, उदय अथवा दोनों का गेके बिना जिस प्रकृतिका बंध, उदय अथवा दोनों होने हैं, उसे अपरायतमाना कहते हैं ।

क्षेत्रविपाका-नया शरीर धारण करनेके लिये जो जीव गमन करता है, उस समय ही अर्थात् विप्रदगतिमें जो कमप्रकृति उदयमें आता है, उसे क्षेत्रविपाका कहते हैं ।

जीवविपाका-जो प्रकृति जीवमें हो अपना फल देती है, उसे जीवविपाका कहते हैं ।

भयविपाका-जो प्रकृति नर-नारकादि भयम ही फल देती है, अर्थात् जिसके फलसे जीव सत्कारम करना है उसे भयविपाका कहते हैं ।

पुद्गलविपाका-जो प्रकृति शरीररूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुका

१ "विगियारिय जो गच्छइ बंध उर्य च अन्नपगईए ।

सा हु परियत्तमाणी अगिबोरो अपरियत्ता ॥१६१५॥ पद्यस० ।

म अगता फल देता है उसे पुद्गलविगारा कहते हैं ।

इसप्रकार इस ग्रन्थमें वर्णित विभिन्न प्रकृतियोंकी परिभाषाएँ अपनी चाहि ।



१. भुवचन्धिद्वार

इत्यानुसार प्रथम द्वारम भुवचन्धिनी प्रकृतियाँ गिनाये हैं—

वक्षचउत्तेय कम्मा गुल्लह-निभिणो-वघाय-मय-कुच्छा ।

मिच्छ-कसाया-चरणा विग्घ भुवचन्धि सगचत्ता ॥ २ ॥

अर्थ—वक्ष, गच्छ, रस, स्पर्श, तैजस, कामण, अगुरुलघु, निर्माण, उपगत, भय, पुण्ड्रा, मिथ्यान्व, साहस कषाय पाँच ज्ञानान्तरण, ना दर्श-नान्तरण और पाँच अन्तराय व मेक्षणस प्रकृतियों भुवचन्धिनी हैं ।

भानार्थ—इस गायाम प्र चकारने भुवचन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाया

१ पञ्चमद्वारकी निम्न गायामें भी कमप्र-यसे मिलता सुन्ता निर्देश है—

“भुवचन्धि भुकोन्व-स-वघाह-परिवसमाण भसुभाभो ।

पथ य सण्णट्ठियक्खा वगट्टे य विचागभो चउहा ॥ १३२ ॥”

म भुवचन्धी, भुवोदय, सर्वघाती, परावर्तमान और अधुम तथा इनके
अभुवचन्धी अधुवोदय, देहघाती, अपरावर्तमान और गुम द्वारों
का तथा चार प्रकारकी रिपाका प्रकृतियाँ चत्थ किया है ।

गोमट्टसार कमकण्ठमें भुवसत्ताका, अधुवसत्ताका परावर्तमाना और
अपरावर्तमाना प्रकृतियोंको छ-दकर नैघ प्रकृतियोंका यथास्थान निर्देश किया है ।

२ पञ्चमद्वार में भुवचन्धिप्रकृतियों की इस प्रकार गिनाया है—

“नागतरावदमण, भुवचन्धि कमायमिच्छमयकुच्छा ।

अगुरुलघुनिमिणतय ववघाय वण्णचउकम्म ॥ १३३ ॥”

है। अपने अपने सामान्य कारणोंके हानेपर भी जिन कर्मप्रवृत्तियाँ नष्ट
जगत् होना है, उन्हें ध्रुवबन्धिनी कहते हैं। मूठ कम जाठ हैं—ज्ञानावरण,
दर्शनावरण, वेदनाय, माहनीय, जायु, नाम, मोन और अन्तराय। नष्ट-
दशम इनकी उत्तरप्रवृत्तियाँ क्रमशः ५+९+२+२६+४+६७+२+५+१२०
होती हैं। उनमेंसे वण, गण, रस, मर्ग, तैजस, कामण, अगुरुलुप्त,
निमाण और उपगत, नामकमना ये नौ प्रवृत्तियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं, क्योंकि
चारा ही गतियोंके जागने तैजस और कामण शरीर अगत् हाते हैं।
तथा, औदारिक और वैत्रिय शरीरमेंसे सिता एकसा नष्ट जगत् हानेके
कारण वण, गण, रस और स्वप्न जगत् नष्ट हैं। तथा गगनका वध
हानेपर निमाण, उपगत और अगुरुलुप्त नष्ट जगत् होता है। इमलिय
नामकम की ये नौ प्रवृत्तियाँ अपने कारणोंके हानेपर अवश्य नष्टी हैं।
अतः ध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं।

भयमोहनीय और पुण्यमाहनीयक नष्टकी विरोधिना कोश प्रवृत्ति
नहीं है, इमलिय वदनों कर्मप्रवृत्तियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं। मिथ्यात्वमोहनाय,
मिथ्यात्वमाहनायक उदयम जगत् नष्टा है, अतः यह भी ध्रुवबन्धिनी है।
तथा अनन्तानुबन्धनाय, मान, माया और लोभना उदय रहते हुए अन-
न्तानुबन्धो कषायका नष्ट अवश्य होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके
उदयरूप अपने कारणोंके होते हुए अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया,
लोभना नष्ट अवश्य होता है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयरूप अपने
कारणोंके होते हुए प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभना वध अवश्य
होता है। इसी तरह संज्वलन कषायके उदयरूप अपने कारणोंके होते हुए
संज्वलन कषाय क्रोध, मान, माया, लोभना नष्ट अवश्य होता है। अतः
ये साष्ट कषाय भी ध्रुवबन्धिनी हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उत्तीव्र
प्रवृत्तियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं।

तथा, ज्ञानावरणकर्मकी पोंच, दर्शनावरण कर्मकी नौ और अन्तराय

कर्मों के प्रकृतियों अपने अपने बंधविच्छेद करने के लिये तर अवश्य प्रयत्न है, तथा इनको निराधिका पाद अन्य प्रकृति भी नहीं है, अतः वे सब भूतचरित्रों के लिये हैं ।

इस प्रकार ये सैतांगिक कर्मप्रकृतियों अमल मिथ्यात्व, अविरति, कर्मद आदि कारणों से होने वाले कर्मों के अन्तर्गत हैं, इसलिये ये भूतचरित्रों हैं । इनमें शान्तिरक्षण-पाद, दशनाश्रयणी नी, मातायग उन्नाम, नामकर्मों नी और अतः परम पाद, इस प्रकार पाँच कर्मों का उच्चर प्रकृतियों सम्मिलित हैं ।



२ अनुबन्धिद्वार

द्वितीय द्वार का प्रारम्भ करा हुआ अनुबन्धिना प्रकृतियों के प्रवृत्ति हैं—
तणु-चगा मिह-सघयण-जाह-गड-स्वगड पुन्वि-जिणु-सास ।
उज्जोया-पत्र-परमा-तमगीसा गोप वपणिय ॥ ३ ॥
हासाहलुयलदुग-वेय-आउ तेनुत्तरी अनुबन्धा ।

अर्थ—आर तान—आहारिक, वैयर्थ्य और आहारिक, उपाङ्ग तान—
॥ अहाराङ्ग, वैयर्थ्य अहाराङ्ग और आहारिक अहाराङ्ग, मर्यादा
उह—मन्त्राङ्ग, अहाराङ्गमण्डल, म्याति, पुन्वि, वामन और पुन्वि,
सहनन उह—वज्रकर्मनागच, कर्मनागच, नागच अधनागच, कोलिना

१ गोमन्त्रार कर्मकाण्ड में इन प्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

“वातिनिमिच्छकसाया भयतजगुरदुगतिमिणवणचउ ।

सत्तत्तालपुत्राण

॥ १२४ ॥”

० यशोविजयज्ञान अपना टीका में भूतचरित्रों की प्रकृतियों को गिनाया है ।

दसो—कर्मप्रकृति बंधनकरण शृङ्ख ९ ।

और सेवात, जाति पाँच—एन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, गति चार—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक, विहायोगति दा—प्रशस्त और अप्रशस्त, जानुपूर्वी चार—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी तीव्रर, उद्धास, उग्रात, आतन, पराधात, तस आदि तस जयात् तसदगक और स्थावर दगक, गोत्र दो—उच्च और नीच, यद नीच दा—मातृदनाय और जमातवेदनोय, हास्य आदि दो युगज अथात् हास्य, रति और मोरु, जरति, वेद तीन—स्त्री, पुरुष और नपुंसक, आयु चार—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु और नरकायु, ये तिहत्तर प्रकृतियों अधुवचन्धिनी हैं ।

भावार्थ—इस डेढ़ गायाम ग्रन्थकारने अधुवचन्धिनी प्रकृतियाँ बतलाया है । ग्रन्थके सामान्य कारणाके रहनेपर भी इनका ग्रन्थ नियमित रूपसे नष्ट होता, अथात् कभी ग्रन्थ होता है और कभी ग्रन्थ नष्ट होता, इसलिये मैं अधुवचन्धिनी कहने हैं । कारणाके रहनेपर भी इनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ ग्रन्थ तो इसलिये नहीं होता कि उनका निरोधिनी प्रकृतियों उनका स्थान ले लेती हैं, और कुछ प्रकृतियाँ स्वभावसे ही कभी ग्रन्थ होती हैं और कभी नहीं ग्रन्थ होती ।

इसका खुलामा निम्नप्रकार है—शरीरनामक्रमके पाँच भेदोंमेंसे तैजस और कामजना ता अधुवचन्धि बतला आया है । शेष तीन शरीर और उनके तीन अङ्गोपाङ्गोंमेंसे एक समयमें एक जीवक एक शरीर और एक अङ्गोपाङ्ग ही ग्रन्थ होता है, अतः परस्परम निरोधी होनेके कारण ये प्रकृतियों अधुवचन्धिनी हैं । छः सस्थानाओंमें भी एक समयमें एक ही सस्थानका ग्रन्थ होता है, अतः वे भी अधुवचन्धि हैं । मनुष्य और तिर्यञ्चके प्रायोग्य प्रकृतियाँका ग्रन्थ होनेपर ही छह सहननामसे एक समयमें एकका ग्रन्थ होता है और देव तथा नारकके प्रायोग्य प्रकृतियाँका ग्रन्थ होनेपर एक भी सहनन नहीं ग्रन्थ होता, अतः सहनन भी अधुवचन्धि है । तथा, पाँच जातियाँ-

मूलमोमें नामकमना जहायन गायत्री दा, षदनोयरी दा, माहनायका सात जीर जायुद्धमना चार प्रकृतियाँ अभ्युत्थिता है ।

अब वध या उदयनी अपभ्राम प्रकृतियाँ भद्र बतात है—

भगा अणाइमाई अणतमत्तुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

अर्थ—इन कमप्रकृतियोंमें अनादि जनन, अनादि-मान्त सादि-अनन्त, आर सात्रि गान, इन प्रकार चार भद्र दान है ।

भावार्थ—जमानुमान अभ्युत्थिता प्रकृतियों गिनाने बाट, भगादय प्रकृतियों जगना चाहिय था । किन्तु कमप्रकृतियाँ अभ्युत्थित और अभ्युत्थित की चचास पात्राई हृदयम यह जाननी उत्सुकता दाना स्वाभाविक था कि कमप्रकृतियाँ कितना दशाएँ दाना है । उस उत्सुकताका निराकरण करने के लिये ग्रन्थकारन वध भद्रास कथा किया है । कम-प्रकृतियों अभ्युत्थिता और अभ्युत्थिता दान के कारण जैसे न-धरी दशाएँ जानने का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, जसा तद्द जाग भुगादया और अभुगा दया प्रकृतियों गिनाने कारण उत्पत्ती जगाएँ भी जतलाना आवश्यक था । जत उत्त चारा भद्रास प्रथम भी जगा जना चाहिय और उदय-म मा । अर्थात् प्रथम भी उत्त चारा भद्र हात है और उदयम भी । चारा भद्रास जगन कमना इस प्रकार है—

अनादि अनन्त—जिम वध या उदयनी परम्परास प्रगाइ अनादि

१ पञ्चसमग्र में कहा है—

“होइ भगाइ अणतो अणाइ-सतो य साइ सतो य ।

यधो भमन्वभ-वोवसत-नीवेसु इह तिगिहो ॥ २१६ ॥”

अर्थ—वध तीन प्रकारका होता है—अनादिअनन्त अनादिसात और सादिसात । समव्यभिं अनादिअनन्त य व होता है, भ-योमें अनादिसात व-ध होता है और उपशान्तमाइ गुणस्थानसे च्युत हुए जीवोंमें सादिसात व-ध होता है ।

कालसे त्रिना त्रिती रात्राउके चला जाता है मध्यम न कभी व्युच्छिन्न हुआ और न आगे कभी हागा, उस वध या उदयकी अनादि-अनन्त कहते हैं। ऐसा वध या उदय अभव्य ओवर्न ही होता है।

अनादि सान्त-जिस वध अथवा उदयकी परम्पराका प्रवाह अनादिकालसे त्रिना त्रिती रात्र रात्र चला आनेपर मा आगे व्युच्छिन्न हो जायगा, उस अनादि-सान्त कहते हैं। यह भयरे हा होता है।

सादि-अनन्त-यह भद्र त्रिती भी वध या उदय प्रकृतिम घटित नहा हाता, क्योंकि जो वध अथवा उदय सादि हाता है, वह कभी भी अनन्त नहा हो सक्ता।

सादि सान्त-जो वध अथवा उदय ओवर्न रात्र पुन प्रारम्भ हाता है और फालान्तरम पुन व्युच्छिन्न हो जाता है, उस वध अथवा उदयका सादिसान्त कहते हैं।

अन ध्रुवग्रन्थिना और ध्रुवादया प्रकृतियाम उक्त मङ्गाणा पढाते हैं—

पढमाधिया ध्रुवउदडसु, ध्रुवग्रधिसु तडअवज्जभंगतिग।

मिठमि तिन्नि भगा, दुहावि अधुना तुरिअ भगा ॥५॥

अर्थ—ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें पहला और दूसरा, अथात् अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त भद्र हाता है। ध्रुवग्रन्थिप्रकृतियोंमें तीसरे सादि-अनन्त मङ्गका ठाडकर ग्रन्थके ताना मङ्ग होते हैं। मिथ्यात्वप्रकृतिम भी अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादिसान्त, ये तीन ही मङ्ग हाते हैं। तथा, दोना ही ग्रन्थकी अधुवग्रन्थियाम, अथात् अधुवग्रन्थिनी और अधुवोदयामें, केवल चतुर्थमङ्ग सादिसान्त ही होता है।

भावार्थ—चतुर्थ गाथाके उत्तरार्द्धम अनादि-अनन्त आदि चार मङ्गाणा केवल निर्देश किया था। यहाँ उल्लेख किया है कि उन चार मङ्गामें किन किन प्रकृतियोंम कौन कौन मङ्ग हाते हैं ? हम पहले लिख

आय है कि जिन प्रवृत्तिवाक्य भुवच और अमृवच के कारण जिनके भव
नगनेका आवश्यकता हुई, उमा प्रकार जिन प्रवृत्तिवाक्यके भुव उदय और
अमृव उदयका निर्देश किया जायगा, उन उदयके भा भद्र वाला
जायसक हुआ । प्रथम अनुसार ता भुवोदय और अमृवोदय प्रवृत्तिवाक्य
गिनानेके जिन ही उदयप्रवृत्तिवाक्य अनादि-अनन्त आदि भद्र वाला
जायसक है । किन्तु वैसा करनेसे कुछ पुनरुक्ति हो जानेकी सम्भावना भी और
असह्य प्रथम विचारमें कुछ वृद्धि हो जानका भय भी था । अतः सरलता
ध्याय मन्त्रोंका विचार करके, उदय प्रवृत्तिवाक्य गणना करनेसे पूर्वही, यद्यपि
प्रवृत्तिवाक्य साधही साथ उदयप्रवृत्तिवाक्य भा भद्रका निर्देश कर दिया है,
जिसका खुलता इस प्रकार है—

निमज्ज, स्थिर, अस्थिर, अगुरु, शुभ, अशुभ, संवत्, कामज,
व्यवहारीक, पंच ज्ञानायन, पंच अन्तराय और चार दण्डायन, इन
छः भुवोदयप्रवृत्तिवाक्य अमृवोदयवाक्यके अनेकोंसे अनादि-अनन्त भद्र
होता है, क्योंकि अमृवोदयवाक्य भुवोदयप्रवृत्तिवाक्यके उदयका न ता आदिवा
है और न अतः होता है । तथा, पंच ज्ञानायन, चार दण्डायन और
पंच अन्तराय, इन चोद प्रवृत्तिवाक्य उदय सरहर्ष गुणस्थान तकने जिनके
अनादिकालसे हैं । किन्तु सरहर्ष गुणस्थानक अन्तम जिन इन प्रवृत्तिवाक्यके
अनादि उदयका विच्छेद होजाता है, तब इनका उदय अनादि सन्त कहा
जाता है । इसी प्रकार निमज्ज, स्थिर, अस्थिर, अगुरु, शुभ, अशुभ,
काम कामज, व्यवहारीक, संवत्वा इन चार भुवोदय प्रवृत्तिवाक्यके अनादि
संयोगकेवला नामक सरहर्ष गुणस्थानके अन्तम व्युत्पिन्न होजाता
है, तब इनका उदय अनादि सन्त कहलाता है । इस प्रकार भुवोदयप्रवृत्ति-
वाक्यका वक्त दाही भद्र धर्मित होता है—एक अनादि-अनन्त, जो अमृवकी
अवगमे होता है, और दूसरा अनादि-सा त, जो अमृवका अनेकोंसे होता
है । साथ दो भद्र-सादि-अनन्त और सादिमान् धर्मित नहीं होते हैं, क्योंकि

किसी प्रकृतिसे उदयना विच्छेद होकर यदि पुनः उसका उदय होने लगता है तो वह उदय सादि कहा जाता है। किंतु उक्त ध्रुवोदयप्रकृतियोंके उदयका विच्छेद बारहव और तेरवें गुणस्थानके अन्तम होता है और उन गुणस्थाना म पहुँच जानेसे प्राद का जीव नीचे नहीं जाता, सभी मुक्त होजाते हैं, अतः उक्त प्रकृतियामा सादि उदय नहीं होता, और इसलिये शेष दो भङ्ग भी नष्ट होते।

ध्रुवग्रन्थिप्रकृतियोंम तीसरे भङ्गके सिवाय शेष तीन भङ्ग ही घटित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला भङ्ग अभव्यजीवोंकी अपेक्षा से होता है, क्योंकि अभव्यजीव के ध्रुवग्रन्थिप्रकृतियाँ का वध अनादि अनन्त होता है। पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, चार दर्शनावरण, इन चौदह प्रकृतियोंके ग्रन्थकी अनादि सन्तान जब दसवें गुणस्थानके अन्तम व्युच्छिन्न होजाती है, तब दूसरा भङ्ग अनादि-सान्त घटित होता है। ग्यारहवें गुणस्थानम उक्त चौदह प्रकृतियाँ का वध न करके, मरण होजानेसे कारण जयना ग्यारहव गुणस्थानका समय पूरा होजानेसे कारण, कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से व्युत्त होकर, जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियामा वध करता है और दसवें गुणस्थानम पहुँच कर पुनः उनकी वध-व्युच्छिन्ति करता है, तब चतुर्थ सादिसान्त भङ्ग घटित होता है।

सञ्चलनकषायका अनादिकालसे वध करने वाला कोई जान नीच गुणस्थानम पहुँच कर जब उसके वधका निरोध करता है, तब दूसरा भङ्ग अनादिमान्त होता है। यही जीव नीच गुणस्थानसे व्युत्त होकर जब पुनः सञ्चलन कषायका वध करता है और नीचे गुणस्थानम पहुँच कर जब पुनः उसके वधका निरोध करता है, तब चौथा सादिसान्त भङ्ग होता है। निद्रा, प्रचला, तैजस, कामण, वणचतुष्प, जगुरुल्लु, उपघात, निमाण, भय और जुगुप्सा, इन तेरह प्रकृतियाँ अनादि वध जब पाठव गुणस्थानम व्युच्छिन्न होता है, तब दूसरा अनादि-सान्त भङ्ग होता है।

जब आग्ने गुणस्थानस गिनने पचास बार पुन उस प्रवृत्तिमय सादिवध होता है और कालान्तरम जाठने गुणस्थानम पहुँचनेपर जब पुन उनका वधमा मिच्छद् हाजाता है, तब चौथा सादि-भान्त भङ्ग होता है । चारा प्रवृत्तिस्थानपरण कयायास वध पाचव गुणस्थानाक जनादि है । छठ आदि गुणस्थानम उनका वधमा अभाय होजातेक कारण तात है । अत दूसरा भङ्ग होता है । वहास गिरकर पुन उनका वध होने पर, जब पुन छठे जादि गुण स्थानाम उनका वधमा अभाव होता है, तब चौथा भङ्ग होता है । चौथ गुणस्थानक जप्र-साग-स्थानापरण कया वका जनादि वध कर जब पँचव आदि गुणस्थानाम उसका अग्रप करता है, तब दूसरा भङ्ग होता है । वहास गिरकर पुन उसका वध करक जब पुन पँचव आदि गुणस्थानाम उसका अग्रप करना है, तब चौथा भङ्ग होता है । मिथ्यात्व, स्थानादि जादि तान अति अनन्तानुब-धीनपाय-का जनादिवधक मिथ्यादृष्टि जब सम्बन्धनी प्राप्ति हाजानेपर उनका वध नश करता, तब दूसरा भङ्ग होता है । पुन मिथ्यात्वम गिरकर, जब प्रवृत्तिपास वध करक जब पुन सम्बन्धनी प्राप्ति होनेपर उनका वध नहीं करता तब चौथा भङ्ग होता है । इस प्रकार भुव-विप्रवृत्तिपाम लोच भङ्ग हात है । लोचस भङ्ग सादि-जनन्त नहीं हाता है ।

साधाक प्रारम्भमे हा भुवाज्यप्रवृत्ति मे हा भङ्ग पतगय है । किन्तु मिथ्यात्व नामक भुवादयप्रवृत्तिम तान भङ्ग होते हैं । इसा यातका मिच्छद्भि मिश्र भमा'स पतगया है । पद-ग अनादि अनन्त भङ्ग होता है, कयाकि उनका मिथ्यात्वक उदयमा अभाय न कमी हुआ और न हाता । दूसरा जनादिसा भङ्ग जनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके हाता है, कयाकि पन्ने पहल सम्बन्धनी प्राप्ति हातपर उसने मिथ्यात्वक उदय मा जनाव हाजाता है । किन्तु सम्बन्धक छूट जानेक बाद, पुन मिथ्यात्व-का उदय हातपर, जब पुन सम्बन्धका प्राप्ति होनेके कारण मिथ्यात्वके

उदयना जन्त होता है, तब तोंसग सादिसान्त भङ्ग घटित होता है । इस प्रकार ध्रुवादया मित्यात्वप्रकृतिमान तान भङ्ग होने हैं, जीर शेष ध्रुवादय-प्रकृतियाम दो भङ्ग होते हैं ।

अनुवादना और अनुवयन्धिनी प्रकृतिनाम कल एक सादिसान्त भङ्ग हा जाता है, क्योंकि उनका यथ और उदय अनु है, कमी होता है और कमी नहा जाता । इस प्रकार यथ और उदय प्रकृतियाम अनादि-जनन्त आदि भङ्गास भ्रम जानना चाहिय ।

१ गोमट्टसार कमकाण्डमें प्रकृतिबन्धका निरूपण करते हुए यथके चार प्रकार बतलाये हैं—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव । तथा उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

“सादी अवयवसे सेडिबणासुगे अनादी हु ।

अमवसिद्धिहि ध्रुवो भवसिद्धे अध्रुवो यथो ॥ १२३ ॥”

अर्थात्— यथ न होकर पुन बन्धके होनेको सादिवन्ध कहते हैं । जिस गुणस्थान तक जिस कमका यथ होता है, उस गुणस्थानसे आगेके गुणस्थानको यहाँ थैणी कहा है । उस थैणिमें जिस जीवने पैर नहीं रमा है, उसके उस प्रकृतिका अनादिवन्ध होता है । अमव्य जीवके ध्रुवयथ होता है और भव्यजीवके अध्रुवयन्ध होता है ।”

इस परिभाषासे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षरने ध्रुवसे अनन्तका और अध्रुवसे सान्तका ग्रहण किया है । क्योंकि अमव्यका यथ अनन्त और भव्यका यथ सान्त होता है । आगे ध्रुवयन्धिनी और अध्रुवयन्धिनी प्रकृतियोंमें इन भङ्गोंको निम्न प्रकार बतलाया है—

“घातितिमिच्छकमाया भयतेनगुरुदुगणिमिणवण्यचभो ।

सत्तेतालधुवाण चदुघा सेसाणय सु दुघा ॥ १२४ ॥”

अर्थात्—“सितालीय ध्रुवयन्धिप्रकृतियोंमें उक्त चारों प्रकारके यन्ध होते हैं और शेष ७३ अध्रुवयन्धिप्रकृतियोंमें दो ही यन्ध—सादि और अध्रुव होते हैं ।”

३ ध्रुवोदयद्वार

ध्रुवप्रथिनी और अध्रुवप्रथिनी प्रकृतियोंका तथा प्रसङ्गगत उक्त प्रकृतियोंमें तथा प्रसादका और अनुसादका प्रकृतिप्रथम भागका स्थानकक अत्र ध्रुवादयप्रकृतियोंका गिनाते हैं—

निमिष धिर-अधिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउयन्ना ।
नाण-तराय-दसण-मिच्छ ध्रुवउदय सगवीसा ॥ ३ ॥

अर्थ—निमाण, धिर, अधिर, अगुरुलघु, गुम, अगुम, तैजस, कामण, यण गंध, रस, स्पर्श, पोंच ज्ञानावगण, पोंच अन्तराय, चार दण-

कमग्रन्थमें ध्रुवप्रथिप्रकृतियोंमें तीन भङ्ग बतलये हैं और कर्मकाण्डमें चार किन्तु दोनोंकी आन्तरिक तुलना करनेपर दोनोंमें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि कमग्रन्थमें सहायी भङ्ग बतलाये गये हैं, जैसे अनादि अनन्त, और कर्मकाण्डमें प्रत्येक यथा अनादि और ध्रुव । सीलिये कर्म ग्रन्थमें सादि अनन्त भङ्ग न बन सकनेके कारण तब ही भङ्ग बतलाये हैं क्योंकि प्रकृतियोंमें सब सहायी भङ्ग नहीं बन सकने, परन्तु सब एक भङ्ग बन जाते हैं । अत्रुवप्रकृतियोंमें कर्मग्रन्थमें केवल एक सादिसान्त भङ्ग ही बनलाया है और कर्मकाण्डमें दो-सादि और अध्रुव । किन्तु इसमें भी कोई अन्तर नहीं है क्योंकि सादि और अध्रुव अर्थात् सात्त को मिलानस एक सादिसान्त भङ्ग तैयार होता है और दोनोंको अलग अलग गिननेसे ये दो हो जाते हैं ।

इस प्रकार कचप्रकृतियोंमें ता कर्मकाण्डमें सादि आदि भङ्ग बनला दिये हैं किन्तु उदयप्रकृतियोंमें उनकी कोई चर्चा नहीं की गई है ।

१ पञ्चमग्रन्थमें ध्रुवोदयप्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

निम्माणधिराधिरसवकम्मवण्णाद् अगुरुसुहमसुह ।

नाणतरायन्सग दसणचउ मिच्छ निष्पुदय ॥ १-४ ॥”

नाशरण और मिथ्यात्व, ये सत्तादस प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं । अर्थात् अपने अपने उदयनिच्छेदकाल तक इनका उदय बराबर बना रहता है ।

भाषार्थ—इस गायामें ध्रुवोदयप्रकृतियोंके नाम बतलाये हैं । कर्मा-की उदयप्रकृतियाँ १२२ हैं । उनमें २७ प्रकृतियाँ ध्रुवोदया हैं । उनमें नि-माण, स्थिर, अस्थिर, अशुक्लपु, शुभ, अशुभ, तेजस, कामण तथा वगादि चार, ये चारही ध्रुवोदयप्रकृतियाँ नामरुमकी हैं । चारों गतिके जीवोंके इनका उदय मरदा रहता है । तेरहवें गुणस्थानमें अन्तम इनके उदयका अन्त होता है । किन्तु वहाँ तक सभी जीवोंके इन चारही प्रकृतियोंका उदय रहता है । इसीसे इन्हें ध्रुवोदया कहते हैं । इनमें स्थिर, अस्थिर तथा शुभ और अशुभ ये चार प्रकृतियों निरोधिनी कही जाती हैं । किन्तु ये चारही अपना-पने निरोधिनी हैं, उदयसी अपेक्षासे निरोधिनी नहीं हैं । स्थिर तथा अस्थिर का उदय एक साथ होता है, क्योंकि शरीरमें स्थिर नामरुमके उदयसे हाड दाँत वगैरह स्थिर होते हैं और अस्थिर नामरुमके उदयसे रुधिर, मूत्रादि अस्थिर होते हैं । इसी प्रकार, शुभनामरुमके उदयमें मस्तक आदि शुभ अङ्ग होते हैं और अशुभनामरुमके उदयमें पैर वगैरह अशुभ अङ्ग होते हैं । अतः उदयसी अपेक्षामें ये प्रकृतियाँ अनिरोधिनी हैं ।

१ कमकाण्डमें वैसे तो ध्रुवोदयप्रकृतियोंको नहीं गिनाया है, कि तु नवप्रश्न चूलिका नामक अधिकांशमें ध्रुवोदयवन्धिनी प्रकृतियोंको गिनाते समय ध्रुवोदयप्रकृतियोंका निर्देश करना पड़ा है, क्योंकि ध्रुवोदयप्रकृतियों ही स्वोदयवन्धिनी हैं । यथा—

“ मिच्छ सुहमस्य घादीओ ॥ ४०२ ॥

तेजसुग वण्णचक धिरसुहसुगलगुरुणिमिण धुवउदया ।”

अर्थात्—मिथ्यात्व, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें व्युत्पन्न होनेवाली घातिकर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ, तेजस, कामण, वर्णचतुष्क, स्थिर और शुभका युगल, अशुक्लपु, निर्माण, ये ध्रुवोदयप्रकृतियों स्वोदयवन्धिनी हैं । अर्थात् अपने उदयमें ही इनका बंध होता है ।

यह प्रकृति भी अभुवोदया है। इस प्रकार ९५ प्रकृतियों अभुवोदया हैं। इनके उदयका निच्छेद होने पर भी पुन उदय होने लगता है।

शब्दा-यदि अभुवादयनी यही परिभाषा है तो मिथ्यात्वको भी अभुगोच्य कहना चाहिये, क्योंकि सम्बन्धकी प्राप्ति होनेपर उसका उदयका निच्छेद हो जाता है, और सम्बन्धने छूट जाने पर पुन उसका उदय होने लगता है।

उत्तर-उदयके निच्छेदक न होने पर भी इन्द्रिय, धेन, बाल आदिक निमित्तम किन प्रकृतियोंका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है, उह अभुवादया कहते हैं। जैसे, बारहवें गुणस्थान तक निष्ठाका उदय चलता है। किन्तु उसका उदय सबदा नहीं होता। परन्तु मिथ्यात्व कमम यह बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका उदय कबल पहलही गुणस्थानम चलता है और वहाँ उसका उदयका प्रगट एक शून्यक लिय भी नहीं करता, अत वह भुवादय ही है।



यहाँ पूर्वमाटीश्वरकवसे तीन अथवा चार पूर्वकोटी लेना चाहिये, जैसा कि कोट्याचार्य ने अपनी टीकामें लिखा है-

‘तिसृभिश्चतसृभिर्वा पूर्वकोनिभिरधिकानीनि नेष १’ पृ० ७८२।

१ कर्मप्रकृतिकी यशोविषयक टीकामें उवोदया और अभुवोदया प्रकृतियोंको गिनाया है-पृ० १०।

५-६ ध्रुव-अध्रुवसत्ताकद्वार

पञ्चम और षष्ठ द्वारका एक साथ उद्घाटन करते हुए दो गाथाओं से ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियोंको गिनाते हैं—

तस-चन्द्रग्रीस सगतेय-कम्म ध्रुवमधि सेस नेयतिगं ।

आगिडतिग वेयणिय दुज्जुयल सगउरल सासचऊ ॥ ८ ॥

खगई-तिरिदुग नीयं ध्रुवसता सम भीस मणुयदुग ।

चिउविकार जिणा-ऊ हारसगु-चा अध्रुवसता ॥ ९ ॥

अर्थ—रस, चादर, पयास, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, रघावर, सूक्ष्म, अग्रास, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुभग, दुस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, ये रसादिक बोंस प्रकृतियों, पाँच वण, पाँच रस, दो गंध, आठ सद्य, ये वणादि रास प्रकृतियों, तैजसशरीर, कामणशरीर, तैजसतैजसग्रधन, तैजसकामणग्रधन, कामणकामणग्रधन, तैजससह्यातन, कामणसह्यातन, ये तैजसकामणमस्तक, धगचतुष्क, तैजस और कामणके सिंगाय दोष इच्छात्तीस ध्रुवप्रतिप्रकृतियों, तान वेद, आकृति-त्रिक अर्थात् ६ सस्थान, ६ संहनन और पाँच जाति, वेदनीय, हास्य रति और गोक अरतिके दो युगल, औदारिकारार, औदारिकभद्रोपाङ्ग, औदारिकसह्यात, औदारिकऔदारिकग्रधन, औदारिकतैजसग्रधन, औदा-रिककामणग्रधन, औदारिकतैजसकामणग्रधन, ये सप्त औदारिक प्रकृतियों, उद्धास, उद्योग, आतप और पराधात, ये उद्धास आदि चार, दो विद्यायोगति, तियश्चगति, तियज्ञानुपूर्वी, नीचगोय, ये एकसी तीस प्रकृतियों ध्रुवसत्ताका हैं—सम्भक्त्वमी प्राप्ति होनेसे पहले सभी जीवोंके इनकी सत्ता रहती है। तथा, सम्यक्त्व, मित्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरसानुपूर्वी, वैत्रियारार, वैत्रियभद्रोपाङ्ग, वैत्रिय-सह्यातन, वैत्रियतैजसग्रधन, वैत्रियकामणग्रधन, वैत्रिय-

यत्तैः सप्तकामगणन, च वैभिय एकादश, त्रिनाम, चार आयु, आहारन
गरीर, आहारकअङ्गाया, आहारकसङ्घातन, आहारकआहारकगणन
आहारकनैः सप्तगणन, आहारकसप्तगणन, आहारकनैः सप्तकामगणन, च
आहारकमतन, और उच्चगोन, च अष्टादश प्रकृतियों अनुसत्ताका है ।

भारार्थ—इन दो साधनाओं में भुवसत्ताका और अनुवसत्ताका प्रकृ-
तियोंकी गणनाकी है । जिसमें १३० प्रकृतियों भुवसत्ताका है और २८ प्रकृ-
तियों अनुवसत्ताका है । दोनोंका चढ़ मिलकर १५८ होता है, जो पूर्वोक्त
उदयप्रकृतिपाते ३६ अधिक है । इस आधिक्यका कारण यह है कि नभ
और उदय प्रकृतियोंमें नामगमकी प्रकृतियोंसे कुछ प्रकृतियों परस्पर
अन्तर्भूत करती जाती हैं । जैसे, नभ और उदयमें वगादि चार प्रकृति
का ही समावेश किया जाता है और सत्ताम प्रत्येक भेद लेकर उनकी
बोस प्रकृतियों गिनी जाती हैं । इस प्रकार सालह प्रकृतियों तो बच
जाती हैं । तथा, नभ और उदयमें नभननामगम और सद्वातन
नामगमकी प्रकृति का धृक्से न गिनकर शरीरनामगम ही उनका
समावेश कर गते हैं । च वन नामगमकी १५ प्रकृतियों हैं और सद्वातन
नामगमकी पाँच, इस प्रकार सत्ताम बीस प्रकृतियों बच जाती हैं । मर
मिलकर ३६ प्रकृतियों सत्ताम अधिक हो जाती है । इन १५८ प्रकृतियोंमें
१३० प्रकृतियों भुवसत्ताका है । यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है यह है
कि नभ और उदयमें भुवगणिनी और भुवउदयगाली प्रकृतियोंकी संख्या
अभुवगणिनी और अभुवउदयगाली प्रकृतियोंकी संख्यासे बहुत कम थी ।
किन्तु सत्ताम उनमें किन्तुल गिनीत दगा है । इसका कारण यह है कि
जिन समय किसी प्रकृति नभ हो रहा है उस समय उस प्रकृति का उदय
भी होना आवश्यक नहीं है । इस प्रकार जिन समय किसी प्रकृति का उदय

१ कम प्रकृतियोंके भ्रममेदों और उनका स्वरूप जाननेके लिये इसी
मण्डलमें प्रकृतिगत प्रथम कर्मप्रश्न रचना चाहिये ।

हो रहा है, उस समय उसका बंध भी होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रकृति वषट्कार है और जिसका उदय हो रहा है, उन दोनों ही सत्ता-का होना आवश्यक है। अतः वषट्कार और उदयदशा की प्रकृतियाँ सत्ता में रहती ही हैं। तथा, मिथ्यात्वदशा में जिनकी सत्ता नियम से नहीं होती, ऐसी प्रकृतियाँ भी कम ही हैं। इन कारणों से ध्रुवसत्ता की प्रकृतियों की संख्या अधिक है और अध्रुवसत्ता की कम। अस्तु,

प्रसादि प्रीति, वृणादि प्रीति और तैजससामणसतन्त्री सत्ता सभी सत्तारी जीवों में रहती है, अतः ये ध्रुवसत्ता हैं। सैतालीस ध्रुवधनी प्रकृतियों में से वषट्कार और तैजस तथा कामणों इनलिये कम कर दिया है कि उन्हें गाथा के प्रारम्भ में ही जल से गिरा दिया है। जैसे तो जो ध्रुवधनी हैं उन्हें ध्रुवसत्ता का होना ही चाहिए, क्योंकि जिनका बंध सदा होता है उनकी सत्ता सदा क्या न रहेगी? तीनों वेदों का बंध और उदय अध्रुव प्रकृतियों का था किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है, क्योंकि वेदों का बंध जारी जारी से होता रहता है। आकस्मिक अथात् संस्थान सम्पन्न, और जाति भी पृथक् ध्रुवसत्ता है। परस्पर में दली की समानता होने की अपेक्षायें वेदनीय-द्विध ध्रुवसत्ता है। दाम्य, रति और अरति शोक की सत्ता नौवे गुणमय तत्त्व सभी जीवों में होता है। औदारिकसत्ता की सत्ता भी सदा रहती है, क्योंकि भुव्यगति और तियजगति में इनका उदय रहता है और देवगति तथा नरकगति में इनका बंध होता है। इसी प्रकार उद्धास आदि चार, निहा-योगात्मा युगल, तिग्मद्विक और नीचयोग की भी सत्ता सदा रहती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने में पहले सभी जीवों में ये प्रकृतियाँ सदा रहती हैं, इसी से उन्हें ध्रुवसत्तावाली कहा जाता है।

शङ्का-अनन्तानुबन्धी कथायका उद्बलन हो जाता है अतः उसे भी अनुवसत्ता मानना चाहिये।

उत्तर-सम्यग्दृष्टि जीवों में ही अनन्तानुबन्धी कथायका उद्बलन होता

मिश्रकी सत्ता अभ्यासके तो होता हा नहा, किन्तु बहुतमे भ्रम्याक भी नहीं होता है । तथा, तेजसाय और वायुकायके जात्र मनुष्यद्विकसी उद्वलना कर देते हैं, जत मनुष्यद्विककी सत्ता उनके नहीं होती है । वैत्रिय आदि ग्यारह प्रकृतियोंकी सत्ता अनादि निगोदिया जात्रक नहीं हातो, तथा जो जीव उन का ग्रथ करके एकेन्द्रिय म जात्र उद्वलन कर देते हैं, उनके भी नहा होती है । तथा, सम्यक्त्वक होते हुए भी जिननाम किसाने हाता है और किसाने नहीं होता है । तथा, स्यास्ताके देवायु और नरकायुता, जहमिन्द्राके तिमगायुता, तेजसाय, वायुता और सप्तमनरकके नारकियाके मनुष्यायुता, सनया ग्रथ न होनेके कारण उनसी सत्ता नहीं है । तथा, मयमके जनेतर भा आहारकसत्तन किसीके हाते हैं और किसीके नहीं होते । तथा उद्योगोत्र भी अनादि निगोदिया जीमके नहा हाता, उद्वलन हा जनेतर तेजसाय और वायुताके भी नहा होता । अत य अद्वादस प्रकृतियों अध्रुवसत्ताका है ।

अत्र तीन गाथाजाने द्वारा, गुणस्थाना में कुठ प्रकृतियासी ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते हैं—

पदमतिगुणेषु मिच्छ नियमा अजयाडअद्वगे भज्ज ।

सासाणे सल्ल सम्म सत मिच्छाडदसगे वा ॥ १० ॥

अर्थ—आदिके तान गुणस्थानों में मिथ्यात्वमाहनीयसी सत्ता अवग्य हाता है । और असयत सम्यग्दृष्टिआ आदि लेकर जात्र गुणस्थानाम मिथ्यात्वका सत्ता भजनीय है, अथात् किसाने होती है और किसीके नहीं होती । साम्वादन नामक दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्वमाहनीयकी सत्ता नियमसे हाती है । किन्तु सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टि आदि दस गुणस्थानाम सम्यक्त्वमोहनीयकी सत्ता 'वा' अथात् विरुध्यसे होती है ।

भावार्थ—इस गाथा म मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीयके

मनुष्यद्विक और आहारकद्विक, ये अठारह अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों हैं ।

करनेमें समर्थ होते हैं। ये परिणाम तान प्रसारके होते हैं—यथाप्रवृत्तकरण, अप्रवृत्तकरण और अनिवृत्तिकरण। ये क्रमशः होने हैं और इनमेंसे प्रत्येक का काल अन्तमुद्भूत है। जब तक करणलब्धिका समाप्ति होती है, तब तक तान का प्रतिसमय उत्तरात्तर अनन्तगुणे विद्युत् परिणाम होते हैं। प्रथम यथा प्रवृत्तकरणमें वतमान जोय प्रद्युम्न प्रवृत्तियोंका प्रतिप्रमय अनन्तगुण अनु भागवध करता है और अप्रद्युम्न प्रवृत्तियोंका प्रतिसमय अनन्तर्व भाग मात्र अनुभागवध करता है। अथात् प्रद्युम्न प्रवृत्तियोंका अनुभागवध उत्तरात्तर अधिक अधिक होता है और अप्रद्युम्न प्रवृत्तियोंका हीन हान होता जाता है। इसी प्रकार स्थितिबध भी उत्तरात्तर हान हीन होता जाता है। दूसरे अप्रवृत्त करणमें प्रतिप्रमय अप्रवृत्त अप्रवृत्त परिणाम होते हैं। और इन करणके पहले ही समयसे स्थितिघात, रसगत, गुणरेण और स्थितिबध, ये चार नई धातें प्रारम्भ होती हैं। अथात् जिन प्रवृत्तियोंकी अधिक स्थिति बाँधी थी, अप्रवृत्तना करणक द्वारा उनकी स्थिति कम कम्दा जाता है। इसी प्रकार अप्रवृत्त प्रवृत्तियोंका जो अनुभाग बाँधा था उसके अनन्तर भागका छोड़कर जो अनन्त बहुभाग रसका अन्तमुद्भूतकाल में ही नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार स्थिति और रस, दोनोंका ही प्रतिप्रमय घात होता रहता है। ऐसा होनेसे, अप्रवृत्तकरणके प्रथम समयमें किसी कमकी जिनकी स्थिति होती है, उनके अन्तिम समयमें वह स्थिति सख्यातगुणी हीन हो जाता है, और रसकी भी वही दशा होती है। तथा, अप्रवृत्तकरणके प्रारम्भ होते ही स्थितिबध में भी नवीनता आ जाती है। अथात् अप्रवृत्तकरणसे पहले किसी प्रवृत्तिका चितना स्थितिबध होता था, अप्रवृत्तकरणके प्रथम समयमें ही उससे पञ्चक सख्यातभागीन स्थितिबध होता है। स्थितिघात और स्थिति-

१ इन करणोंका विशेष स्वरूप जानने के लिये देखो—कर्मप्रकृति और पञ्चपद्मदश तपश्शमनाकरण, तथा छविस्तर भा० ३४-८९ और जीव-काण्ड भा० ४७-५७।

वध एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और एक साथ ही समाप्त होते हैं। जिन प्रकृतियोंकी स्थितिमा घात किया जाता है उनमें से दलिकोंको लेकर उनकी एक श्रेणी अथात् पैक्ति बनाई जाती है, जिसमें उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक पाये जाते हैं। अथात् उदयने प्रथम समयम थोड़े, दूसरे समयम असख्यातगुणे, तीसरे समयम उससे भी असख्यातगुणे, इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तमें जितने समय हों, उतने समयोंम उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापित किये जाते हैं। इन्हीं ही गुणश्रेणिरचना कहते हैं। इस गुणश्रेणिरचनाके कारण प्रति समय उत्तरोत्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे कमदलिकाकी निर्जरा होती है।

तीसरे अनिवृत्तिकरणम भी उक्त चारा बातें होती हैं। इस करणके कालमसे जब सख्यात बहुभाग घीत कर एक सख्यातत्रौ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्वके नाचेकी अथात् उदय समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिम उदय आने योग्य कमदलिकोंको छोड़कर बाकी के दलिकम अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणने द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है।

१ आशय यह है कि मिथ्यात्वकी नीचेकी और उपरकी स्थितिके मध्यम से उतने दलिक उठाकर ऊपर और नीचेकी स्थिति म मिला देनेका नाम अन्तर करण है, जितने दलिक एक अन्तर्मुहूर्तकाल में उदयम जाते हैं। अथात् मिथ्यात्वकी नीचेकी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिमें ज्ञाना त्या छोड़कर ऊपरके उन दलिकोंको, जो आगेके अन्तर्मुहूर्तम उदय आयेंगे, नाचेके वा ऊपरके दलिकम निक्षेपण कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कालको ऐसा बना दिया जाता है कि उसम उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई दलिक शेष नहीं रहता। इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिम अन्तर डाल दिया जाता है। इस अन्तर करणको दूसरे प्रकारसे या समझना चाहिये _____ | _____ यह एक स्त्रीर है, इस

लकीरमें नाचेसी ओर दा निगान गये हैं। यह निगान इस रातरा बतगते हैं कि इस लकीरका दांना निशानोंके बीचका भाग वहाँसे हटाकर नाच या ऊपरक नागम मिला देना चाहिये और इस प्रकार उठने भागका पालीकर देना चाहिये। तब इस लकीरकी दशा इस प्रकार होगी_____।

इस प्रकार इस लकीरके बाचम अंतर पट जाता है। यदि हम नाचेसी ओरसे इस लकीरपर अगुली फेरते हुए ऊपरकी ओर बढ़े ता हमारा अगुली कुछ समयतक लकीरपर रहकर फिर बिना लकीरवाले स्थानपर आ जायगा और धनभरम उस स्थानसे निकलकर पुन लकीरवाले स्थानपर आ जायगी। इस प्रकार धनभरक छिय हमारा अगुलीको बिना लकीरके ही चलना होगा। इसी तरह मिथ्यात्वक उदयका आ प्रवाह चग आ रहा है, अन्तरफरणके गत उस प्रवाहका तौता एक अन्तमुहूर्तके लिये तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दा भाग कर दिय जाते हैं, नाचेसा भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथम स्थिति और द्वितीयस्थितिके बीचक उन दलितको, आ अन्तमुहूर्तकालम उदय आनगत है, अन्तरफरणके द्वारा इधर उधर रागा दिया जाता है। अर्थात् उन दलितोंको अपने अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिम डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थितिम टाँ दिया जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वक दलितसे रहित आगुद भूमि हावी है, उसे अन्तरफरण कहते हैं। इस अन्तरफरणके लिये आ किया भी जाता है, अर्थात् अन्तमुहूर्त प्रमाण स्थितिक दलितका उठाकर उनका इधर उधर क्षेत्र किया जाता है, तथा उस स्थानमें आ काल लगता है, उपचारसे उन्हें भी अन्तरफरण कह देता है।

इस क्रियाक पूरा होनेक बाद मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरी होते ही अन्तमुहूर्तका अन्त लिये मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमावस्थामध्यकत्व प्रगट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व

क प्रकृत होनेसे पहले समयमें अथात् मिथ्यात्वकर्मकी प्रथमस्थितिके अन्तिम

१ कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णि और पञ्चसमग्रके रचयिताओंका मत है कि उपशमसम्यक्त्वके प्रकट होने से पहले अर्थात् मिथ्यात्वकी प्रथमस्थितिके अन्तिम समयमें द्वितीयस्थितिमें वर्तमान मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करता है । [देखो कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० १९ और पञ्चसमग्र उपश० गा० २२] और ह्यन्धिसारके कर्ताके मतसे जिस समय सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसी समय तीन पुञ्ज करता है । देखो-ह्यन्धिसार गा० ८९ ।

मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज करनेमें सैद्धान्तिकों और कर्मशास्त्रियोंमें बड़ा भौतिक मतभेद है । सिद्धान्तशास्त्रियोंके मतसे औपशमिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये तीन पुञ्ज करना आवश्यक नहीं है, तीन पुञ्ज किये बिना भी औपशमिकसम्यक्त्व हो सकता है । वैसा कि विशेषा० भा० की निम्नगाथा स्पष्ट है—

“उवतामगसेदिगयस्स होह उवसामिय तु सम्मत्त ।

जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो एहह सम्म ॥५३२॥”

अर्थात्—जो जीव उपशम भेगि षडता है, उसके औपशमिक सम्यक्त्व होना है । तथा, जो अनादिमिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वके तीन पुञ्ज नहीं करता और न मिथ्यात्वका क्षण ही करता है, उसके भी औपशमिकसम्यक्त्व होता है ।

विशेषा० भा० की गा० ५२० की टीकामें श्रीहेमचन्द्रसूरिने इस मतभेद का उल्लेख करते हुए लिखा है—“सैद्धान्तिकाना तावदेतत् मतं यदुत अनादि-मिथ्यादृष्टि कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुञ्जत्रय कृत्वा पुद्गलपुद्गलान् वेदयन् औपशमिक सम्यक्त्वमलभ्यैव प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । अन्यस्तु यथाप्रवृत्त्यादिकरणत्रयक्रमेणांतरकरणे औपशमिक सम्यक्त्व लभते, पुञ्जत्रय त्वसौ न करोत्येव ।

समयमें द्वितीय स्थितिमें वतमान मिथ्यात्वकर्मक दलिक अनुमागने तर

तत्रश्च औपशमिकसम्यक्त्वाच्च पुनोऽवश्यं मिथ्यात्वमेव गच्छति ।

कर्मश्रयिकास्त्विदमेव मन्यन्ते यदुत सर्वोऽपि मिथ्यादृष्टिः प्रथमतस्तस्य स्वस्वामकाले यथाप्रवृत्त्यादिकरणप्रथमपूर्वकमन्तरकरण करोति, तत्र औपशमिक सम्यक्त्व समये, पुनः प्रथमं चाप्स्यी विदधात्येव । अत एव औपशमिकसम्यक्त्वाच्च पुनोऽसौ क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि मिथ्य मिथ्यादृष्टिर्वा भवति ॥' इसका आशय इस प्रकार है—

सैदातिकाका मत है कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उस प्रकारकी सामग्रीके मिलनेपर अपूर्वकरणके द्वारा मिथ्यात्वके तीन पुत्र करता है और पुत्रपुत्र अर्थात् सम्यक्त्वप्रवृत्तिना अनुभव न करता हुआ, औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त किए बिना ही सबसे पहले क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको प्राप्त करता है । तथा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन कारणों से सबसे पहले अन्तरकरण करनेपर औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, तब वह मिथ्यात्वके तीन पुत्र नहीं करता है । इसीसे औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर वह जीव नियमसे मिथ्यात्वमें ही जाता है ।

किन्तु शास्त्रियोंका मत है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमसम्यक्त्वकी प्राप्ति के पश्चात् यथाप्रवृत्त आदि तीन कारणोंको करते हुए अन्तरकरण करते हैं और करनेपर उन्हें औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है । ये जीव मिथ्यात्वके पुत्र अवश्य करते हैं । इसी लिये उनके मतसे औपशमिक सम्यक्त्वके पुत्र होनेपर जीव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि मिथ्यादृष्टि होता है ।

यों मतोंमेंसे दिगम्बर परम्परामें कर्मशास्त्रियोंका मत ही हमारे देखनेमें आता है । सिद्धांतशास्त्रियों ने मनमा नहीं कोई उत्तर नहीं मिलता ।

तमताको लिये हुए तीन रूप हो जाते हैं—शुद्ध, अधशुद्ध और अशुद्ध । शुद्ध दलियोंको सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, अधशुद्ध दलियोंको मिथ या मध्यमिमिध्यात्वमोहनीय कहते हैं और अशुद्ध दलिक मिध्यात्वमोहनीय कहलाते हैं । इस प्रकार प्रथमोपगमसम्यक्त्वके माहात्म्यसे एक मिध्यात्व-प्रकृति तीन रूप हो जाती है और ऐसा होनेसे अस्तित्व और उदय में दो प्रकृतियाँ गड़ जाती हैं । अस्तु,

१ कर्मकाण्डमें लिखा है—

“जन्तेण कोइय चा पढसुवसमसम्मभावजन्तेण ।

मिच्छ दग्घ ॥ तिघा असरगुणहीणदग्घकमा ॥ २६ ॥”

अर्थात्—‘जैसे चाक्रीमें दलनेसे मोड़ोंके गुथ, घावल और कन, इस तरह तीन रूप हो जाते हैं । वैसे ही प्रथमोपगम सम्यक्स्वरूपी भावयन्त्रके द्वारा एक मिध्यात्वप्रकृतिका द्रव्य मिध्यात्व, सम्यग्मिध्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतिरूप हो जाता है । इन तीनोंका द्रव्य उत्तरोत्तर असरयात गुणहीन होता है ।’

२ “दसनमोह तिग्घ सम्म भीस तत्तेव मिच्छत्त ।

सुद्ध अदविमुद्ध भविमुद्ध त हवइ कमसो ॥ १४ ॥” प्र० कर्मप्र० ।

अर्थात्—‘दशनमोहनीयके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ और मिध्यात्व । ये तीनों क्रमशः शुद्ध, अदशुद्ध और अधशुद्ध होते हैं ।’ आशय यह है कि जैसे कोशों मद उत्पन्न करते हैं, किन्तु उन्हें पानी से घों डालने पर जो शुद्ध हो जाते हैं, वे मद नहीं करते, जो कम शुद्ध हो पाते हैं वे थोड़ा मद करते हैं, और जो अधशुद्ध होते हैं, वे तो पूरे मादक होते ही हैं । उसी तरह मिध्यात्वका जो द्रव्य भावोंके द्वारा शुद्ध हो जाता है, और सम्यक्त्वका घात करनमें अममथ होता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं । जो व्याप्त शुद्ध होता है और इसलिये सम्यक्त्वको हानि पहुँचाता है, वह मिथ कहाता है, और जो निवृत्त अधशुद्ध होता है और सम्यक्त्व को घातता है,

इस उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवली काल शेष रहने पर कोई कोई जान साक्षादन गुण स्थानमें प्राप्त करते हैं, उस समय उन जीवाके मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिही सच्चा ज्ञान रहती है। इसीसे उक्त गायाम द्वितीयगुणस्थानमें इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता नियमसे बतलाई है। तथा, उपशमसम्यक्त्वके अन्तमें उक्त तानों पुत्रात्त त यदि मिथ्यात्वका उदय होता है, तो जीव पहले गुणस्थानमें चला जाता है और यदि सम्यक्मिथ्यात्वका उदय होता है तो उसका नाश गुणस्थान होजाता है। इस प्रकार पर च और नाश गुणस्थानमें मिथ्यात्वही सच्चा अस्त रहता है जैसा कि गायामके पुराईमें बतलाया है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवाय आगेके आठ गुणस्थानों में मिथ्यात्वकी सत्ता होती भी है और नहीं भी होनी, क्योंकि यदि उन गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वका उदय कर दिया जाता है तो उसकी सत्ता नहीं रहती, और यदि मिथ्यात्वका उपशम किया जाता है तो उसकी सत्ता अस्त रहती है। इसी प्रकार साक्षादनक सिवाय मिथ्यात्व आदि वस गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वप्रकृतिही सच्चा होती भी है, और नहीं भी होती। क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थानमें अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके, जिसने कभी भी मिथ्यात्वके तीन पुत्र नहीं किये, तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टिने सम्यक्त्व पुत्रों को उदयना करदी है, उसका सम्यक्त्वप्रकृतिही सच्चा नहीं होता, शेष

१ ' उपशमसम्यक्ताओ चपओ मिच्छ अपारमाणस्स ।

सासायणसम्मस उपसराहम्मि तावत्थि ॥ १३४ ॥' विदी० भा०

अर्थात्- उपशमसम्यक्त्वक कालमें अधिकसे अधिक ६ आवली शेष रहने पर, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके कारण उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर वह तक जाव मिथ्यात्वमें नहीं जाता, तब तक मध्यमें ६ आवली केये साक्षादनसम्यक्दृष्टि होजाता है ।

मिथ्यादृष्टिजाओंके उसकी सत्ता होती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थानमें सम्बन्धबुझना उद्बलना करके मिश्रगुणस्थानमें जानेवाले जीवके सम्बन्ध-प्रकृति सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंके उसकी सत्ता होती है । चीये गुणस्थानमें लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी सावित्रसम्यग्दृष्टि सम्बन्धप्रकृति का सत्ता नही जाती, किन्तु आचार्यगिरि और जीवशक्ति सम्बन्धदृष्टिके उसकी सत्ता अनन्त होता है ।

इस प्रकार इस गाथामें मिथ्यात्वमाहनीय और सम्बन्धमोहनीय-का सत्ताका विचार आदिके ग्यारह गुणस्थानमें किया गया है । क्योंकि अन्तके ज्ञान गुणस्थानमें ता मोहनीय कमका सत्ता ही नहीं रहती है ॥

मासणमीनेसु ध्रुव मीम भिच्छाडनसु भयणाए ।

आडदुगे अण नियमा भडया मीसाडनवगम्मि ॥१८॥

अर्थ—साम्बादा और मिश्रगुणस्थानमें मिश्रप्रकृति सत्ता नियमसे रहती है, और शेष मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानमें उसकी सत्ता भवनीय है, अपना किसी जानके होता है और किसी जानके नही जाती । इसी प्रकार आदिक दो गुणस्थानमें अनन्तानुसंगी कषायका सत्ता नियम से रहती है, और शेष मिश्रगुणस्थानका आदि लेकर नौ गुणस्थानमें उसकी सत्ता भवनाय है ।

भावार्थ—इस गाथामें मिश्रप्रकृति और अनन्तानुसंगी कषाय-की सत्ताका विचार गुणस्थानमें किया है । इसमें प्रतीति है कि दूसरे

१ कर्मप्रकृतिमें (सत्तास्वामित्व०) भी निम्न गाथाके द्वारा वही बात रही है जो कर्मग्रन्थ की उक्त गाथा में कही है—

“तिसु भिच्छत्त नियमा अट्टसु ठाणेषु होइ भइयत्त ।

आसाणे सम्मत्त नियमा सम्म दससु भज्ज ॥ ४ ॥”

२ नियमा ख० पु० ।

और तासरे गुणस्थानमें मिश्रप्रकृति जन्य पाइ जाती है, क्योंकि प्रथमा पञ्चमसम्यक्संस्वरी प्राप्तिव समय मिथ्यात्वक तान पुत्र हा जाते हैं, और उस सम्यक्त्वक कालम जन कर्मने कम एत समय और अधिष्ठे अधिक है। अत उस समय उस बाचक मिश्रप्रकृतिरी सत्ता जन्य हाता है। तथा मिश्रप्रकृतिरी सत्ता और उदयक रित्त तासरा गुणस्थान ही नहीं हा सकता, अत तीसरे गुणस्थानम भी मिश्रप्रकृतिरी भुवसत्ता जाननी चाहिये। शेष पहले, चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानम उसरी सत्ता अभुव हाती है। क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीवन मिश्रप्रकृतिरी उद्भूता करदी है, उसके तथा अनादि मिथ्यादृष्टिके मिश्रप्रकृतिरी सत्ता नहीं हाती, शेष मिथ्यादृष्टि जीवाके उसरी सत्ता हाता है। इसी प्रकार चतुथ जादि आठ गुणस्थानाम ध्यायिक सम्यग्दृष्टि जानने मिश्रप्रकृतिरी सत्ता नहीं होती, शेष जीवाक उसरी सत्ता होती है। तथा, पहले और दूसरे गुणस्थानम अनन्तानुबधी कषायकी सत्ता भुव हाती है, क्योंकि इन गुणस्थानाम अनन्तानुबधी कषायका प्रथम अवश्य होता है और जिसका नष्ट हाता है उसरी सत्ता अवश्य होनी ही चाहिये। शेष तीसरे आदि ना गुणस्थानामें उसकी सत्ता अभुव होती है। क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबधी कषायका निसर्गयोजन कर दिया है, उसके अनन्तानुबधीकी सत्ता नहीं होती, शेष जीवोंने उसरी सत्ता होती है ॥

१ अनन्तानुबधी सत्ता ने बार में कर्मप्रकृति और कर्मप्रथमें बाधा अंतर है। कर्मप्रकृतिमें (गताधि०) लिखा है—

‘विद्वत्तद्वृणु मिस्त नियमा टाणनवगमि मयणिज्ज ।
सत्तोयणा उ नियमा दुसु पचसु होइ भइयच्च ॥ ५ ॥’

अर्थात्—‘मिश्रप्रकृति दूसरे और तासरे गुणस्थानमें नियमसे होती है और नौ गुणस्थानोंमें भवनीय है। दो गुणस्थानोंमें अनन्तानुबधी नियमसे

आहारसत्तगं वा सबगुणे वित्तिगुणे पिणा तित्थं ।

नोभयसते मिच्छो अतमहुत्त भवे तित्थे ॥ १० ॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि सभी गुणस्थानां, आहारकशरीर, आहारक-
अङ्गोपाङ्ग, आहारकसंघातन, आहारकआहारकनधन, आहारकतैजसनधन
आहारकसामननधन, और आहारकतैजसकामननधन, इन सात प्रवृत्तिया-

होती हैं और पांच गुणस्थानोंमें मजनीय हैं ।

पञ्चमग्रहमें भी कर्मप्रकृतिके अनुसार सातवें गुणस्थान तक ही अनन्ता-
नुबन्धीका विचार किया है । यथा—

‘सासणमीसे भीस सत्त नियमेण नवसु भइयइय ।

सासायणत्त नियमा पचसु भउत्ता अभो पढमा ॥ ३४२ ॥’

इस प्रकार कर्मप्रकृति और पञ्चमग्रहमें सातवें गुणस्थान तक ही
अनन्तानुबन्धीकी सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि कर्मग्रन्थमें ग्यारहवें
गुणस्थान तक उसकी सत्ता मानी गई है । इस अंतरका कारण यह है कि
कर्मप्रकृतिकार आदि उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धीका सत्त्व नहीं मानत,
जब कि कर्मग्रन्थ वाले उसका सत्त्व स्वीकार करते हैं । कर्मप्रकृतिकारका
मत है कि जो धारित्रमोहनीयके उपशम करनेका प्रयास करता है, वह अवश्य
अनन्तानुबन्धीका विसर्गोपशम करता है ।

कर्मशास्त्रियोंके इन मतभेदका उल्लेख कर्मकाण्डमें भी गा ३९१ के
‘णिय भण उवसमगे’ पदके द्वारा किया गया है । कर्मकाण्डने रचयिता ने
दोनों मतोंको स्थान दिया है ।

१ यह गाथा पञ्चमग्रहनी निम्न गाथाका स्मरण कराती है—

‘सञ्जाणवि आहार सासणमीसेयराण पुण तित्थ ।

उभये सति न मिच्छे तित्थगरे अतरमुहुत्त ॥ ३४८ ॥’

का, जिह्वा आहारकसत्त्व कहते हैं, अस्तित्व विरूपसे होता है। दूसरे और तामरे गुणस्थानके सिवाय दोष सभी गुणस्थानात्म तापङ्गप्रकृति का सत्त्व भी विरूपसे होता है। तीर्थङ्कर तथा आहारकसत्त्वका अस्तित्व जिस आनक होता है, वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम नहीं आता। तापङ्गप्रकृति की सत्तापाला काह जोध यदि मिथ्यात्वम आता है तो केवल अन्तमुद्भूतके ही लिये जाता है।

भावार्थ—इस भाषाम आहारकप्रकृति और तीर्थङ्करप्रकृति के अस्तित्वका विचार गुणस्थानोंम करते हुए बताया है कि ऐसा एक भी गुणस्थान नहीं है जिसम आहारकनामकका सत्ता नियमसे होती हो। अर्थात् सभी गुणस्थानात्म इसकी सत्ता अभुव होती है। इसका कारण यह है कि यह एक प्रकृत प्रकृति है और इसके उध काह नाह विगुणचरित्रके धाक अप्रमत्तसमी ही करते हैं। जब कोह उत्सृष्टनस्या आहारकसत्त्वका उध करके विगुणपरिणामाक कारण ऊपरक गुणस्थानोंम जाता है, अथवा अविगुणपरिणामोंके कारण ऊपरक गुणस्थानासे नीचेके गुणस्थानात्म जाता है, तब उसके सभी गुणस्थानात्म आहारकसत्त्वकी सत्ता रहती है। किन्तु जो मुनि आहारकसत्त्वका उध किये बिना हा ऊपरके गुणस्थानात्म जाता है, अथवा ऊपरके नीचेक गुणस्थानात्म जाता है, उसके उन गुणस्थानात्म आहारकसत्त्वका सत्ता नहीं पाह जाती। अब यह प्रकृति सभा गुणस्थानोंम विन्यम रहती है।

तथा, तीर्थङ्करप्रकृति का उध नीचे गुणस्थानमे लेकर आठवें गुणस्थान-

१ आहारक और तीर्थङ्कर प्रकृति के उधका कारण बतलात हुए पद्य समझमें लिया है—

विषयराहाणाय वधे सम्मत्तसञ्जमा हक ॥ २०४ ॥”

अर्थात्—तीर्थङ्करके उधमे सम्भव कारण है, और आहारकके उधमे समय कारण है।

के छठवें भाग तक किसी किसी निशुद्धसम्यग्दृष्टि जायके होता है । अतः इन गुणस्थानोंमें तीर्थङ्करप्रवृत्ति का ग्रहण करके जब कोई जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें जाता है तो उनमें तीर्थङ्करप्रवृत्ति की सत्ता पाद जाती है । तथा यदि वह जीव अशुद्ध परिणामाने कारण नीचेके गुणस्थानोंमें आता है, तो मिथ्यात्वमें ही आता है, क्योंकि तीर्थङ्करकी सत्तावाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें नहीं जाता । इस प्रकार दूसरे और तीसरे गुणस्थानोंमें जाकर शेष शरद्विगुणस्थानोंमें तीर्थङ्करकी सत्ता रह सकती है । किन्तु यदि बाद जीव विगुणस्थानोंमें होनेपर भी तीर्थङ्करप्रवृत्ति का ग्रहण नहीं करता, तो उसके सभी गुणस्थानोंमें उस प्रवृत्ति की सत्ता नहीं पाद जाती । अतः वह प्रवृत्ति दूसरे और तीसरे गुणस्थानोंमें तो पाद ही नहीं जाती, और शेष गुणस्थानोंमें भी किसीके होती है और किसीके नहीं होती । इसलिये इसकी सत्ता अध्रुव जाननी चाहिये ।

इस प्रकार इस भाषाके प्रवादसे इस बात का ता निश्चय हो जाता है कि केवल जाहारसत्ताकी अथवा केवल तीर्थङ्करकी सत्ता रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि हो सकता है । किन्तु यह शङ्का बनी ही रहती है कि दोनोंके अस्तित्वमें भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है या नहीं ? उत्तराध्यायमें इसका समाधान करनेके लिये लिखा है कि जाहारसत्ता और तीर्थङ्करनामकी सत्ता रहते हुए जीव मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता । अर्थात् जिस जायके इन दोनों प्रवृत्तियों की सत्ता होती है, उसका पतन नहीं होना, और इसी लिये वह मिथ्यात्वगुणस्थानोंमें नहीं आता ।

तथा, तीर्थङ्करकी सत्तावाला यदि मिथ्यात्वगुणस्थानोंमें आता है तो यहाँ वह अन्तर्मुक्तसे अधिक नहीं ठहरता, क्योंकि उसे एक विशेष कारण से मिथ्यात्वमें जाना पड़ता है, वह विशेष कारण यह है कि जो जीव पहले नरकायुग का ग्रहण करके, पीछे वेदसम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्करप्रवृत्ति का ग्रहण करता है, वह मरणकाल आने पर सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्या-

दृष्टि हा जाता है, क्योंकि कमशास्त्रियों के मतसे बद्धसम्यग्दृष्टि जाय नरक में जन्म नहीं लेता । इस प्रकार मिथ्यात्वदशा में नरक में जन्म लेकर अन्त-मुहूर्तक बाद पुनः सम्यग्दृष्टि हा जाता है । क्योंकि निम्नलिखित तथ्यकार नाम की सच्चावाला तीन अन्तमुहूर्तसे ज्यादा मिथ्यात्व नहीं रहता है । शत तथ्यकार प्रकृति की सच्चावाला जाय मिथ्यात्वगुणस्थानमें अन्तमुहूर्तक लिये टहरता है ।

१ आवश्यकचूर्णिकी टीकामें लिखा है— 'सम्यग्दृष्टि सत्समनरक गमन प्रतिपिद् पण्डोमपि पृथिवीं यावत् सैद्धान्तिकमतन विराधित सम्यक् वो गृहीतनापि क्षायोपशमिन्ने सम्यक्त्वम काश्चिदुत्पद्यते । कर्मप्रतिष्ठाभिप्रायेण तु वैमानिकदेवेभ्योऽप्यत्र तिष्ठन् मनुष्यो वा वातनैव क्षायोत्समिन्नेनोत्पद्यते न गृहीतेन ।' पृ० ४३ ।

अर्थात्— सम्यग्दृष्टिके सातवें नरकमें जानका प्रतिषेध है । सैद्धान्तिकों के मतसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेवाला क्षायोपशमिन् सम्यक्त्वको ग्रहण करके छोटे नरक तक उत्पन्न हो सकता है । किन्तु कमशास्त्रियों के अभिप्रायसे तिर्यक् अवस्था मनुष्य वैमानिक देवों के सिवा अन्यत्र तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब उन्होंने क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको छोड़ दिया हो सम्यक्त्वको ग्रहण करके वे वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकते ।

दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार नरकमें सम्यग्दृष्टिना उत्पाद केवल पहले ही नरकतर हो सकता है ।

२ कर्मप्रकृतिमें (सत्वाधि०) भी लिखा है—

“आहारगतिव्ययरा भजा हुमु नत्वि तित्थयत् ॥ ९ ॥”

अर्थात्— आहारक और तथ्यकार की सत्ता भजनीय है किन्तु दो गुण स्थानोंमें तथ्यकार की सत्ता नहीं होती ।

किन्तु कर्मकाण्डमें कुछ अन्तर है । गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंका सत्त्व

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रवृत्तिद्वारका निरूपण करते हुए प्रयत्न करने प्रसन्नपदमिष्यात्वमोहनीय, मित्रमाहनाय, सम्यक्त्वमाहनाय, अनन्तानुपधाचतुष्क, तीर्थङ्कर और आहारकमत्तनी सत्ताका विचार गुणस्थानोंमें किया है। एक ही अद्यावत प्रवृत्तियोंमें से इन पन्द्रह प्रवृत्तिका हा विशेष विचार क्या किया गया? यह प्रश्न उत्तरसे पाठकों चित्तमें उत्पन्न हो सकता है। अतः उसके सम्वन्धमें कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

आग कमप्रवृत्तियाँ प्रागस्त और अप्रगस्त रूपमें उद्गारा करेंगे। इन पन्द्रह कमप्रवृत्तियोंमें भी प्रारम्भना सात प्रवृत्तियों अप्रगस्त हैं और नौप जाठ प्रगस्त हैं। अप्रगस्त प्रवृत्तियोंमें उस सात प्रवृत्तियों प्रधान हैं और उनका जानने उरथान और पतनने साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि जिसकी प्राप्ति पर जानना अंतिम ध्येय परमपुरुषाय मात्रकी प्राप्ति निभर है, उस सम्यक्त्वगुणना घात उस सात प्रवृत्तियों करती है। जन्मक उनसे दुष्टकारा नहीं मिलता, तन्मक जो जन्म वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। तथा उन सातोंक चले जानेपर कर्मोंकी मेना एकदम निम्नत्व और जीवनहान हा बतलाने हुए उसमें लिखा है—

‘तिथाहारा जुगप सव्व तिरथ ण मिच्छागादितिये।

सत्त्वसत्त्वमिष्याण सगुणठारण ण सभयदि ॥ ३३३ ॥’

अर्थात्—‘मिष्यात्व गुणस्थानमें तीर्थङ्कर और आहारक एक साथ नहीं रहत। सासादनमें दोनों न एक साथ ही रहते ह और न पृथक् पृथक् ही। मिथमें तीर्थङ्करका सव्व नहीं होता, क्योंकि उन प्रवृत्तियोंकी सत्तावाले जीवोंके मिष्यात्व आदि गुणस्थान ही नहीं होते हैं।’ यद्वा सासादनमें आहारकका भी सत्त्व स्वीकार नहीं किया ह, जब कि कर्मग्रन्थमें स्वीकार किया है। कर्म काण्ड गा० ३७३ से यह स्पष्ट ह कि सासादनमें आहारककी सत्ताको लेकर कर्मशास्त्रियोंमें मत भेद है। एक पक्ष उसमें आहारककी सत्ता स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष उसका सत्त्व न्योसार नहीं करता है।

जाती है, उन उक्त सात प्रकृतियों सभी प्रकृतियोंकी निर्माता हैं । जैसे अग्रशक्त प्रकृतियोंमें उक्त सात प्रकृतियों प्रधान हैं, उसी तरह अग्रशक्त प्रकृतियोंमें आहारकर्मक और तीर्थङ्करप्रकृति प्रधान हैं । आहारकर्मककी वध निरत ही तपस्वियोंके हाथ है और तीर्थङ्करप्रकृति का उससे भी निरत इन गिने नरत्नाके नैधती है । पूज्यमम इसका वध करने ही मगनान मगनीर करीने मगपुरुष तीर्थङ्कर हाते हैं । उन मगमगने प्रशस्त और अग्रशक्त प्रकृतियोंकी निर्माता उक्त पञ्च प्रकृतियोंकी ही विवेचन किया है । और इस विवेचनके साथ ही साथ पञ्चार्थ और छत्र द्वार समाप्त होता है ।



७-८. घाति अघातिद्वार

अन समय सप्तदेवप्रकृतिद्वार और अष्टम अघातिप्रकृतिद्वारका वणन करते हुए घातिनी और अघातिनी प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

केवलहृयलावरणा पणनिद्रा बारमाइमकमाया ।

मिच्छति मच्चघाई चउणाणतिदसणावरणा ॥ १३ ॥

सचलण नोकमाया विग्घ इय देमघाईय अघाई ।

पत्तेयतणुद्धाऊ तसरीसा गोयदुग घन्ना ॥ १४ ॥

अर्थ—केवलहृयलावरण, देवदशनावरण, पञ्चे निद्रा, आदिकी बारमाइमकमाया, मिच्छति मच्चघाई, चउणाणतिदसणावरणा ॥ १३ ॥

१-इमो स० पु० । २-शुद्धा-स० पु० ।

३ निद्रा निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्थानदि ।

४ अन-तानुष-की क्रोध मान माया, लोभ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया लोभ, और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध माना, माया, लोभ ।

कणाय, और मिथ्यात्व, ये प्रकृतियों सर्वघातिनी हैं । तथा चारै शानावरण तीनै दशनावरण सञ्जलन क्रोध, मान, माया और लाम, नवै नोकयाय, और पाँच अन्तराय, ये प्रकृतियों देशघातिनी हैं । प्रत्येक प्रकृतियों आठ, गरीर आदि आठ, चार जायु, यस आदि बीस, नीच और उच्च गोत्र, सात-वेदनाय और असातवेदनीय, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये प्रकृतियों अघातिनी हैं ।

भार्यार्थ—इन गाथाओंमें घातिनी और अघातिनी प्रकृतियाने गिनाया है । आठ कमोंमेंसे चार घातिन्म हैं और चार अघातिन्म हैं । घातिन्मा का उत्तरप्रकृतियों घातिनी कहलाती हैं और अघातिन्मा की अघातिनी । जो प्रकृतियों आत्माके गुणका घात करती हैं वे घातिनी कहलाती हैं और जो उनका घात करनेमें असमर्थ हैं, वे अघातिनी कहलाती हैं । घातिप्रकृतियोंमें भी दो प्रकार हैं । उनमें कुछ प्रकृतियों सवघातिनी हैं और कुछ देशघातिनी हैं । जो सवघातिनी हैं, वे आत्माके गुणका पूरी तरहसे घातती हैं, अर्थात् उनका उदय होते हुए कोई आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो सकता । उस गाथामें बीस प्रकृतियों सवघातिनी बतलाए हैं, जिनका खुलना इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्माके केवलज्ञानगुणको पूरी तरह आवृत करता है । किन्तु जिस प्रकार मेघगटलके द्वारा सूर्यके पूरी तरह आच्छादित होनेपर भी उसकी प्रभाका कुछ अंग अनावृत ही रहता है, उसी प्रकार सप्त बीजाँके केवलज्ञानका अनन्तों भाग अनावृत ही रहता है । क्योंकि यदि

१ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण ।

२ चक्षुदर्शनावरण, अक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण ।

३ हास्य, रति, शोक, अरति, मय, जुगुप्सा और तीन वेद ।

४ पराघात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्षङ्कर निर्माण और उपघात ।

५ पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, ६ सस्थान, ६ सहनन, पाँच जाति, ८

गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी ।

कर्मज्ञानावरण उस अनन्तरों भागकी भी आहतकर ले तो जीव और अज्ञान
म काद अनन्तर ही न रह सकेगा, जैसे यदि मेघमण्डल सूखी उस अवशिष्ट
प्रमाण भी आच्छादित कर ले, जो दिन और रातम अन्तर डालता है, तो
वर्षाकालमें, दिन और रातम का अनन्तर ही न रह सकेगा । फिर भी जैसे
मेघमण्डल सूखा सत्त्वत्मना आवागम बदलता है, उसी तरह कर्मज्ञानावरण
कर्मज्ञानका संपादको कहा जाता है, क्योंकि उसके संपाद हनन बिना
कर्मज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता ।

कर्मज्ञानावरण केवलज्ञानका पुरी तरह घातना है, किन्तु फिर भी
उसका अनन्तरों भाग अनाहत ही रहता है । शेष ज्ञात केवलज्ञानावरणका ही
तरह समझनेना चाहिये । पौंचा निशानों भी वस्तुजाके सामान्य प्रतिभासको
नष्ट होने देती हैं अतः सवपातिना है । साते समय मनुष्यका जो पाड़ा
बहुत जान रहता है, उसे भयन दृष्टान्तसे समझनेना चाहिये । बारह कपायों-
म में, अनेकानुगुणों कपाय सम्यक्त्वगुणका घात करती है, अमृत्याख्या-
नावरण कपाय दशचारित्रका घात करती है और प्रशास्त्रानावरण कपाय
अभिगति चारित्रका घातती है । मिथ्यात्व भी सम्यक्त्वगुणका सत्त्वत्मना
घात करता है । अतः ये पाँच प्रवृत्तियों सवपातिनी हैं ।

जो प्रवृत्ति आत्माक गुणका एकदेखस घातती है वह देहात्मिनी कह-
लाती है । मतिज्ञानावरण जादि चार ज्ञानावरण केवलज्ञानके उस अनन्तरों
भागका एकदेखसे घातन करते हैं, जो केवलज्ञानावरणसे अनाहत रह जाता

१ "कर्मिल्लुभाण उदय विवमा सत्तोयणा कसायाण ।

सम्मदसणलभ भवसिद्धीया वि न लहति ॥१०८॥" आ० नि० ।

२ "वीथकसायाणुदय अप्पक्खत्ताण नामधत्ताण ।

सम्मदसणलभ, विरयाविरह न उ लहति ॥१०९॥" आ० नि० ।

३ "उदयकसायाणुदये पक्खत्ताणावरणनामधेज्जाण ।

दसिक्खेसविरह चरित्तलभ न उ लहति ॥११०॥" आ० नि० ।

११ परावर्तमानद्वार

अत्र परावर्तमानप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

तणुअट्ट वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निदा ।

तमगीसा-उ परिचा,

अर्थ—तनु अष्टक अथात् शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, तीन वेद, दो युगल अर्थात् हास्य रति और शोक अरति, सोलह कपाय, उग्रोत्, आतप, दानों गोन, दोनों वेदनीय, पाँच निद्रा, नस आदि बीस अथात् नसदशक और स्थावरदशक, चार आयु, ये ९१ प्रकृतियों परावर्तमाना हैं ।

भावार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रकृतियोंको बतलाया है । ये प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय अथवा दोनोंको रोककर ही अपना बन्ध, उदय अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं । इनमेंसे सोलह कपाय और पाँच निद्रा भ्रुयमधिनी होनेके कारण बन्धदशाम तो दूसरी प्रकृतिना उपरध नहीं करती हैं । तथापि, अपने उदयकालमें अपनी सजातीयप्रकृतिसे उदयसे रोककर प्रवृत्त होती हैं, अतः परावर्तमाना हैं । क्योंकि मोक्ष, मान, भावा और लाभमेंसे एक जीवके एक समयमें एक ही कपायका उदय होता है । इसीतरह पाँच निद्राओंमेंसे किसी एक निद्राका उदय होते हुए शेष चार निद्राओंका उदय नही होता । तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रकृतियाँ उदय दशामें विरोधिनी नही हैं, क्योंकि एक जीवके एक समय में चारोंका उदय हो सकता है । किन्तु बन्धदशामें परस्परमें विरोधिनी हैं, क्योंकि स्थिरके साथ अस्थिरका और शुभके साथ अशुभका बन्ध नहीं होता । अतः ये चारों परावर्तमाना हैं । शेष ६६ प्रकृतियों बन्ध और उदय दोनों

१ तीन शरीर (क्योंकि तैजस और कर्मण को अपरावर्तमान प्रकृतियोंमें गिन आये हैं), तीन अश्रोपाङ्ग, ६ सस्थान, ६ सहनन, पाँच जाति, चार गति, दो विद्यायोगति, चार आनुपूर्वा ।

भागान्तराय देशपाती है । तथा, वीरान्तराय भी देगाती है, क्योंकि वीरान्तरायका उदय होते हुए भी सृष्टिनिगादिया जायके इतना ध्यानशमन अवश्य रहता है, निम्नसे वह कर्म और नाशम वाणाआका महण वगैरह करता है । वीरान्तरायके श्रवणशमनसे सततमनाके कारण ही सृष्टि निगादियासे रेफर उरहवें गुणस्थानतत्त्व आशक वीरकी हीनाधिरता पाइ जाती है । यदि वीरान्तराय सृष्टिपाती होता तो जायके सम्पन्न वीरका आवृत्त करके उसे जड़नी तरह निश्चेष्ट कर देता । अतः वह भी देगाती ही है । इस प्रकार पञ्चास प्रकृतियों देगातीनी जाननी चाहिये ।

टेढ़ा गाथाके द्वारा सर्वदेशोपातिद्वारका निरूपण करके अधगाथाके द्वारा उसका प्रतिगही अगातिद्वारका कथन करत हुए अपातिप्रकृतियोंका गिनाया

१ कर्मकाण्ड भा० ३९-४० में सवपातिनी और देशपातिनी प्रकृतियों को गिनाया है । कमग्रन्थ और कर्मकाण्डरी गणनामें काल एक एक प्रकृति का अन्तर है । कर्मकाण्डमें सवपातिप्रकृतियाँ २१ और देशपातिप्रकृतियाँ २६ हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मग्रन्थमें वचप्रकृतियोंकी लेकर सर्वपाती और देशपातीका विभाग किया है और कर्मकाण्डमें वचप्रकृतियोंको सङ्ग में लेकर उचविभाग किया है । यह हम मतला आये है कि वच और उदयन दो प्रकृतियोंका अन्तर है । वचप्रकृतियाँ १२० हैं और उदयप्रकृतियाँ १२९ । क्योंकि सम्मन्त्र और सम्मन्त्रमिध्यात्वप्रकृतिना वच नहीं होता, किन्तु उदय होता है और पातित्व तथा अपातित्वका सम्मन्त्र उदयके ही साथ है । अतः कर्मकाण्डमें सर्वपातिप्रकृतियोंमें एक सम्मन्त्रमिध्यात्वप्रकृति और देशपातिप्रकृतियोंमें एक सम्मन्त्रत्वप्रकृति बढ़ाई है ।

पञ्चमग्रह भा० १३५ में सर्वपाती तथा भा० १३७ में देशपातीप्रकृतियों को गिनाया है, जिनकी संख्या क्रमशः २१ और २५ है, जैसा कि कमग्रन्थ में मतलाया है ।

। अवातिप्रकृतियाकी संख्या ७५ है । ये प्रकृतियों जानके जानादिकगुणा-
न ध्यान नहीं करतीं, अतः अवातिनी कहलाती हैं ।



९-१०. पुण्य-पापद्वार

संदेशगानिद्वार और उसके प्रतिपत्नी जवानिद्वारको उन्द करके जग-
पुण्यद्वार और पापप्रकृतिद्वारका उद्घाटन करते हैं—

सुर-नर-तिगु-च-साय तसदस तणु-चग-चडर-चउरम ।
परधामग तिरिआउ वन्नचउ पणिदि सुभखगई ॥१५॥
नायालपुनपगई, अपदमसठाग-खगइ-सवयणा ।
तिरियदुग असाय नीउं-चघाय टगविगल निरयतिग ॥१६॥
थानरदस वन्नचउकक घाइपणयालसहिय नासीई ।
पावपयडिचि दोसुचि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

अर्थ—सुरनिक (देवगनि, देवानुपूर्वी, देवायु), नरनिक (नरगति,
नरानुपूर्वा, नरायु), उच्चगोन, सातवेदनीय, तसदशक (नस, नादर, पयास,
न्यद स्थिर, शुभ, सुभग, सुखर, जादेय, यज्ञ मर्ति), पाँच गरीर, तीन
महाशक्त, वज्रवृद्धपमनाराचसहनन, समचतुर्गमसस्थान, परापातसप्तक (परा-
गति, उच्छास, आतप, उग्रोत्, अगुरुलुत्, तीव्रद्वर, निमाण, तियगायु), वग-
ननुक, पचेन्द्रियजाति, प्रशस्त निहायोगति, ये त्रयालीस पुण्यप्रकृतियों हैं ।

तथा, पहले से छोड़कर दोष पाँच सस्थान और पाँच सहनन, अप्र-
गति निहायोगति, तियगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, असातवेदनीय, नीच-
गति, उग्रगति, एकेन्द्रियजाति, निम्नलय, नरकनिक (नरकगति, नर-

वानुष्की, नानाधु) ग्यावर द्वात्र (स्यावर, मूत्रम, अपवास्त, साधारण, अग्नि, नम, म्भा, दूध, जनादेय, अयासीर्ति), वगचनुष्क और पनाग पतिप्रतिनि, य वयाग पापप्रवृत्तियाँ हैं । वगचनुष्क शुभ भी हा है और अगुम भी हा है । इसलिय उहें पुण्यप्रवृत्तियामें मा गिना जाता है और पापप्रवृत्तियामें भी गिना जाता है ।

मायार्थ—इसका द्वात्र गतम और अण्म द्वात्र ग्रन्थप्रवृत्तियोंकी यातिना और अशानिना भदग परिगणना की थी । यहाँ नम और दधम द्वात्र नम पुण्य और पापम विमाजन किया गया है । निम प्रवृत्तिका रस जान द्वात्र हाता है, यद पुण्यप्रवृत्ति कहलाती है । और जित प्रवृत्तिका रस दु पदायक हाता है, यद पापप्रवृत्ति कही जाती है । पुण्यप्रवृत्तिको शुभ प्रवृत्ति अथवा प्रणम प्रवृत्ति भी कहत है और पाप प्रवृत्तियों अगुम प्रवृत्ति अपना अग्रगुणप्रवृत्ति भी कहत है । यातिनी और अशानिनीप्रवृत्तियोंमें यातिनी प्रवृत्तियाँ ता पापप्रवृत्तियाँ हैं हा, क ताकि वे रगस आत्माके ही गुणोंको घनि पहुँगाती हैं । निगु अशानिप्रवृत्तियामें भी तैंतीस प्रवृत्तियों ता पाप प्रवृत्तियाँ हा हैं, और चार प्रवृत्तियाँ एता है ता पापप्रवृत्तियोंमें भी सम्मि हैं और पुण्यप्रवृत्तियोंमें भी सम्मिलित हैं । क्वाकि रूप, रस, गंध और अच्छ मा हात है और घुरे भी हाते हैं । इसलिय इहें दानोंमें गिना जाता है । रोग अदतास प्रवृत्तियों क्वात्र पुण्यप्रवृत्तियाँ हैं । इसप्रकार वयादिस पुण्यप्रवृत्तियाँ और वयाता पापप्रवृत्तियाँ मिक्कर एक सौ चौबीस हाती हैं, यद कि पापप्रवृत्तियों केरु एरुगो वस हो रागद है । इन चार प्रवृत्तियाँ भदग दानामें गिया है, क्वाकि वे शुभ भी हात हैं और अगुम भी हाते हैं ।

१ पञ्चमग्रन्थ (भा० १३९-१४०) में अपवास्त और प्रसक्तप्रवृत्तियोंको गिनाया है । कर्मप्रवृत्तिही उ० यशोविजयजाटन टीका (बोधन० पृ० १२५०) भी हा प्रवृत्तियोंको गिनाया है ।

इन्द्राक्षर पुण्य-पापद्वारका वणन समाप्त होता है ।

१२ अपरावर्तमानद्वार

पुण्यप्रवृत्तिद्वार और पापप्रवृत्तिद्वारको चन्द चरके जन ग्यारहवें परा-
वर्तमानप्रवृत्तिद्वारका उद्घाटन क्रमप्राप्त था किन्तु अपरावर्तमानप्रवृत्तियोंकी

१ कर्मकाण्डकी गाथा ४१-४२ में पुण्यप्रवृत्तियों और ४३-४४ में
पापप्रवृत्तियों गिनाई हैं । दोनों प्र थोकी गणनाओंमें कोई अन्तर नहीं है ।
कर्मकाण्डमें कवल इतनी विशेषता है कि उसमें भेदविवक्षामें ६८ और अभेद
विवक्षामें ४२ पुण्यप्रवृत्तियों बतलाई हैं । तथा पापप्रवृत्तियों बन्धदशामें भेद
विवक्षासे १८ और अभेदविवक्षासे ८२ बतलाई हैं और उदयदशामें सम्यन्त्र
और सम्यक्मिथ्यात्वको मिलाकर, भेदविवक्षासे १०० और अभेदविवक्षासे
८४ बतलाई हैं । पांच बन्धन, पांच सघात और वर्ण आदि बीसमें से १६,
सप्तप्रकार छ-नीम प्रवृत्तियोंके भेद और अभेदसे पुण्यप्रवृत्तियोंमें अन्तर
पता है और वर्ण आदि बीसमें से १६ प्रवृत्तियोंके भेद और अभेदसे पाप
प्रवृत्तियोंमें अन्तर पड़ता है । बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्मके ये दो भेद किये
हैं-कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म । जिसका विपाक
शु होता है, उसे कुशलकर्म कहते हैं । जिसका विपाक अनिष्ट होता है, उसे
अकुशलकर्म कहते हैं । इसी तरह जो सुगम वेदन कराता है वह पुण्यकर्म
है और जो दुःख वेदन कराता है वह अपुण्यकर्म है । यथा-“कुशल कर्म
शानम्, इष्टविपाकत्वात्, अकुशल कर्म अक्षेमम्, अनिष्टविपाकत्वात् ।”

‘पुण्य कर्म सुखवेदीयम्, अपुण्य कर्म दुःखवेदीयम् ।’

(अभिधर्म० व्या० पृ० १०१)

योगदर्शनमें भी पुण्य और पाप है । यथा-‘कर्माशय
पुण्यापुण्यरूप ।’ (पृ० १६२)

सत्या अल्प होनरु कारण पहले अपरावतमानप्रकृतिद्वाराका उद्घाटन करते हैं—

नामधुनवाधिनग दसण-पणनाण विग्घ-परघाय ।

भय-कुच्छ मिच्छ-साम जिण गुणतीमा अपारियत्ता ॥१८॥

अर्थ—नामकेमकी ना प्ररगधिप्रकृतियों, चार दसनावरण, पाँच शना-वरण, पाँच जन्तराय, पराघात, भय, पुगुच्छा, मिष्यात्व, उच्छास और तीक्ष्ण, ये उनतीस अपरावतमानप्रकृतियों हैं ।

भाषार्थ—इस द्वारा उनतीस अपरावतमानप्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । अर्थात् ये उनतीस प्रकृतियों किसी वसरी प्रकृतिके बाध, उदय अथवा दानना रोककर अपना बाध, उदय अथवा दानों नहीं कराती हैं । जैसे मिष्यात्वका बाध और उदय किसी अन्य प्रकृतिके बाध अथवा उदयका रोक कर नहीं होता । अतः यह अपरावतमानप्रकृति है । शायद बाद में कि मिथ्याहनीय और सम्यक्त्वमादनीयने उदयम मिष्यात्वका उदय नहीं होता, अतः ये दाना प्रकृतियों मिष्यात्वके उदयका निराधिना है । इसी दशम उसे अपरावतमान क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि मिष्यात्वका बाध और

पहले गुणस्थानम होता है, किन्तु यहाँ मिथ्याहनीय और सम्यक्त्वमादना उदय नहीं है । यदि ये दोनों प्रकृतियों मिष्यात्वगुणस्थानम रहकर उदयका रोकतीं और स्वयं उदयम आतीं तो ये निरोधिनी कही जा सकतीं थीं । किन्तु इनका उदयस्थान भिन्न भिन्न है, एक ही गुणस्थानम रहकर ये एक दूसरेके बाध अथवा उदयका निराध नहीं करतीं । अतः इन्हें अपरावतमान ही जानना चाहिये । इसीप्रकार अन्य प्रकृतियोंने धारम भी समझना चाहिये ।

१ वणचतुष्क तैजस चार्मण अगुहग्घु निर्माण और उपघात ।

२ पञ्चसमद्वये (भाषा १३८) अपरावतमान प्रकृतियोंको गिनाया है ।

११ परावर्तमानद्वार

अथ परावर्तमानप्रवृत्तिद्वारमा उद्गम्यन् करते हैं—

तणुअद्व वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निदा ।

तसवीसा-उ परिचा,

अर्थ—ननु अष्टक अथात् शरीर आदि जौठ प्रवृत्तियों, तान वेद, दो दुग्ध अथात् हान्य रति और शोक अरति, सोट्टह कपाय, उग्रान, आतन, दोनो गान, दोना वेदनीय, पाँच निद्रा, बस आदि बास अथात् नउदशक अर स्थानरदशन, चार जायु, य ९१ प्रवृत्तियाँ परावर्तमाना हैं ।

मानार्थ—इस द्वारमें परावर्तमानप्रवृत्तियोंको रक्ताया है । ये प्रवृत्तियाँ दूसरी प्रवृत्तियोंसे बंध, उदय अथवा दानोंको रक्तरहा अपना बंध, अथवा दोनों करती हैं, अतः परावर्तमाना हैं । इनमेंसे साठह कपाय और पाँच निद्रा ध्रुवनिधिनी होनेके कारण बंधदशाम तो दूसरी प्रवृत्तिना उपर नहीं करता है । तयानि, अपने उदयकालमें अपनी सनातीयप्रवृत्तिके उदयमें रक्तरहा प्रवृत्त होनी हैं, अतः परावर्तमाना हैं । क्योंकि शोध, मान, गता और लाभमसे एक जीने एक समयमें एक ही कपायना उदय होता है । इसतरह पाँच निद्राओंमसे निद्रा एक निद्राका उदय होते हुए गेय चार निद्राओंका उदय नहा होता । तथा, स्थिर, शुभ, अस्थिर और अशुभ, ये चार प्रवृत्तियाँ उदय दशामें निराधिनी नहा हैं, कयानि एक जागने एक समय में चारोंका उदय हो सकता है । किन्तु बंधदशामें परस्परमें निराधिनी हैं, क्योंकि स्थिरने साथ अस्थिरका और शुभने साथ अशुभका बंध नहीं होता । अतः ये चारों परावर्तमाना हैं । शेष ६६ प्रवृत्तियाँ नय और उदय दोना

१ तान शरीर (क्योंकि तैजस और कर्मण को अपरावर्तमान प्रवृत्तियोंमें गिना आवे है), तान अग्नेोपाह, ६ सस्थान, ६ सहनन, पाँच जाति, चार गते, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वा ।

दत्ताजाम परस्परमें विरोधित्व है, अतः परावर्तमाना है। इसप्रकार ग्यारहवें-
द्वारका घणन जानना चाहिये। बारहवें अस्वयत्तमानप्रकृतिद्वारका घणन
पहले ही कर चुके हैं। अतः प्रत्येकारक द्वारा निर्दिष्ट बारहद्वारका वान
यहाँ समाप्त होता है।



१३ क्षेत्रविपाकिद्वार

विशिष्ट अथवा विशिष्ट प्रमाणों पर देनेकी शक्तिसे विपाक करते हैं।
विपाकमें आशय स्फोदयका है। अर्थात् पर देनेके अभिमुख होनेका विपाक
करते हैं। जैसे आम जादि फल जर पककर तैयार होते हैं, तब उनका
विपाक होता है, उसीतरह कर्मप्रकृतियों भी जर अपना पर देनेके अभिमुख
होनी हैं, तब उनका विपाककाल समझना चाहिये। इस विपाक अर्थात्

१ ध्रुवविपाका, अध्रुवविपाका ध्रुवोदयद्वार अध्रुवोदयद्वार, ध्रुव-
संज्ञाद्वार, अध्रुवसंज्ञाद्वार, स्वदेशघातिद्वार, अपातिद्वार पुण्यप्रकृतिद्वार
अपुण्यप्रकृतिद्वार, परावर्तमानद्वार अपरावर्तमानद्वार। कर्मप्रकृति (घणन
करण, गा० १) की यशोविजयकृत टीकामें इन बारहों ही द्वारोंका घणन है।

२ पञ्चसमूहमें विपाकके दो भेद किये हैं-एक हेतुविपाक और दूसरा
रसविपाक।

यथा-‘दुविधा विवागभो पुन हेतुविवागाउ रसविवागाउ ।

एककावि च चठहा नजो चसहो विगण्ण ॥ १६२ ॥’

अर्थात्-विपाककी अपेक्षासे प्रकृतियों दो प्रधानकी होनी हैं-हेतुविपाक
और रसविपाक। तथा प्रत्येकके चार चार भेद होने हैं-हेतुविपाकके पुण्य-
विपाक, क्षेत्रविपाक, मनविपाक और जीवविपाक, तथा रसविपाकके
चतु स्थानभरसा, निस्थानभरसा द्विस्थानभरसा और एकस्थानभरसा ।

रसादयके चार प्रमुख स्थान हैं—एक क्षेत्र, दूसरा जीव, तीसरा मन और चौथा पुद्गल। तेरहवें द्वारम इनमसे पहले क्षेत्रविपाकाप्रवृत्तियाँ कहते हैं—

स्वित्तविवागाऽणुपूर्वोक्त ॥ १९ ॥

अर्थ—नरकानुपूर्वी, त्रियगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी, ये चार प्रवृत्तियाँ क्षेत्रविपाकिनी हैं।

भावार्थ—आकाशको क्षेत्र कहते हैं। जिन प्रवृत्तियोंका उदय क्षेत्रमें ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं। चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी हैं, क्योंकि उन चारोंका उदय निमग्नगतिमें ही होता है। सारांश यह है कि यों ता सभी प्रवृत्तियोंका उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनी अपेक्षानो हेतु होता है। किन्तु यहाँ क्षेत्रकी मुख्यता है, क्योंकि जल जीव परमरके लिये गमन करता है, तो आनुपूर्वीका उदय उसे उसीतरह उत्पत्तिस्थानके अभिमुख

१ 'जा ज समेष्व हेतु विवाग उदय उच्येति पगाईभो।

सा तन्निवागसत्ता सेतमिहाणाह सुगमाह ॥१६३॥' पञ्चसमह।

अर्थात्—जो प्रवृत्ति जिस हेतुको निमित्त लेकर उदयमें आती है, उसका नाम उसी विपाकसे कहा जाता है।

२—जीभो त० पु०।

३ आनुपूर्वीके स्वरूपको लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मौलिक मतभेद है, यद्यपि दोनोंही उसे क्षेत्रविपाकी मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब जीव जाता है, तो आनुपूर्वीनामकर्म धेणिके अनुसार गमन करते हुए उस जीवको उसके विधेणिके स्थित उत्पत्तिस्थानतक ले जाता है, इसीसे आनुपूर्वीका उदय केवल वक्रगतिमें ही माना गया है। यथा “पुत्री उदभो वक्त्रे”। प्र० कर्मप्र० गा० ४२।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें आनुपूर्वी नामकर्म पहला शरीर छोड़नेके

रक्ता है, जैसे नाथ तैलमें उसके गन्त यस्थानके अभिसुग्न रखती है । अतः आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकिनी है ।



१४-१५ जीव और भवविपाकिद्वार

अत्र क्रमशः जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियाँ का बटते हैं—

घणघाह दुगोय जिणा तसियरविग सुभगदुभगचउ सास ।
जाशतिग जियविवागा जाऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

अर्थ—गतिमौली प्रकृतियाँ ईतालान, दो गोन, दो वेदनाय, तार्थ-
द्वार, नष्टिक (तस, वादर, धवास) और इनसे इतरनिक (स्थानर, रात्म,
जयवास), सुभगचतुष्प (सुभग, सुम्पर, नारेय, यश कीर्ति), दुभगचतुष्प
(दुभग, दुस्वर, जनावेय, जयन कीर्ति), उष्वास और जातिनिक (पाच
जाति, चार गति, दो विहायोगति), ये अठसर प्रकृतियों जीवविपाकिनी
हैं । चारा जासु भवविपाकिनी हैं ।

और मया शरीर धारण करनेसे पहले, अर्थात् विमह गतिमें जीवका
प्रोत्सार पूवशरीरके सामान बनाये रहता है । और उसका उदय ऋजु और
वक दोनों गतियोंमें होता है । आनुपूर्वीके भवविपाकी होनेमें एक शङ्का और
उसका समाधान निम्न प्रकार है—

“अणुपुष्पीण उदयो किं सकमणेण नधि सतेरि ।

अहसत्तेउओ साण न सह अजाण सविवागो ॥ १६६ ॥” पञ्चस०

शङ्का—विमहगति विना भी सकमणके द्वारा आनुपूर्वीका उदय होता है
अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गतिकी तरह जीवविपाकी क्यों नहीं मान
जाता ? उत्तर—सकमणके द्वारा विमहगतिके विना भी, आनुपूर्वीका उदय
होता है, किन्तु जैसे उसका क्षेत्रकी प्रधानतासे विपाक होता है, वैसा वह
किसी भी प्रकृतिमा नहीं होता ।

भार्य-इस गाथामें जीवविपाकिनी और भवविपाकिनी प्रकृतियों को बताया है । जो प्रकृतियाँ ज्ञानमें ही अपना फल देती हैं, अर्थात् ब्रह्मज्ञानान्तरूपका घात वगैरह करती हैं, वे जीवविपाकिनी कहलाती हैं । यद्यपि सभी प्रकृतियाँ किसी न किसी रूपसे जीवमें ही अपना फल देती हैं, जैसे, आयुष्य भवधारणरूप विपाक जीवमें ही हाता है, क्योंकि आयुष्यकर्मका उदय होनेपर जीवमें ही भवधारण करना पड़ता है । तथा, क्षेत्रविपाकिनी आनुपूर्वी भी श्रेणिके अनुसार गमन करने के रूप जीवके स्वभावका स्थिर रहता है । तथा, पुद्गलविपाकिप्रकृतियों में जीवमें ऐसी शक्ति पैदा करती है, जिससे वह जीव अमुरुप्रकारके ही पुद्गलको ग्रहण करता है । तथापि, धर्मविपाकिनी, भवविपाकिनी और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ धर्म वगैरहकी सुरक्षासे अपना फल देती हैं, जब कि जीवविपाकिप्रकृतियाँ क्षेत्र आदिसे भवग्रहणना ही जीवमें ही अपना सा-आत् फल देती हैं । जैसे, ज्ञानावरणका प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही अपना ही होता है, शरीर वगैरहमें उनका कोई फल श्रितावर नही हाता । इसी तरह दग्नावरणकी प्रकृतियोंके उदयसे ज्ञानके ही दग्नावरणका घात होता है, मातनेनीय और जसातनेदनीयके उदयसे ज्ञान ही मुक्त और शुद्ध होता है, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे जीव ही सम्यक्त्व और चारित्र्यगुणका घात होता है, पाँच अन्तरायाँके उदयसे ज्ञान ही दान वगैरह नहीं दे पा सकता । अतः उक्त गाथामें गिनाद ग ७८ प्रकृतियों जीवविपाकिनी कही जाती हैं ।

चाहें आयु भवविपाकिनी हैं, क्योंकि परमेश्वर आयुष्य रूप होजाने पर भी, जगतमें जीव वतमान भवको त्यागकर अपने योग्य भव प्राप्त नहीं करता तबतक आयुष्यकर्मका उदय नहीं होता, अतः आयुष्य भवविपाकी है ।

शब्दा-आयुष्यकर्मका तरह गतिनामकर्म भी अपने योग्य भवके प्राप्त होनेपर

१ "आउस्व भवविपाका गर्ह न आउस्व परभव जग्हा ।

नो सच्चहावि उदयो गर्हण पुण संकमेणधि ॥१६५॥" पद्यसं० ।

ही उदयम आता है, अतः उस भवविशयी क्या नहीं कहा ? उत्तर—आयु-
क्रम और गतिक्रमके नियामक मनु अन्तर है । आयुक्रम तो निगमनक
योग्य जाया जाता है नियममे उसी भवमें अपना पद बनाई । जैसा, मनु
आयुका उदय मनुष्यत्वमें हा हा सकता है, इतरभाग नहीं हो सकता ।
अतः जिस भाग भवक योग्य आयुक्रमका वध होजायने पश्चात् जीवको उस
भवमें अवश्य जन्म देना पड़ता है । किन्तु गतिक्रम यह बात नहीं है,
विभिन्न परमेश्वरके योग्य जाया हुआ गतिवाला उस हा भवम मन्त्रमण वगैरहके
द्वारा उदय हा सकता है । जैसा, मातृगामा चरमशरणा जीवके परमेश्वरके योग्य
नैषी हुआ गतिवाला उसी भवम धन हाजाता है । अतः गतिनामक्रम भवका
नियामक नहीं है, इसलिए यह भवविशयी नहीं है । इस प्रकार चौदहवाँ
और पन्द्रहवाँ द्वार समाप्त होता है ।



१६ पुद्गलविपाकिद्वार

अब सातहव द्वारम पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ गिनाते हैं—

नामधुनोदय चउतणु वधायसाहारणियर जोयतिग ।

पुद्गलविपाकि

अर्थ—नामक्रमकी धुनोदयप्रकृतियाँ गारहे, तनुचतुष्क (तीन शरीर,
तीन उपाङ्ग, ६ स्वरूप, ६ सहान), उपशान्त, साधारण, प्रत्यक्ष, उपात
मादि तीन, अथात् उपात, नातय और पराचात, ये छत्तास प्रकृतियों
पुद्गलविपाकिनी हैं ।

भावार्थ—इस गायाम पुद्गलविपाकिना प्रकृतियोंको गिनाया है ।

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अशुक्ल, शुभ, अशुभ तैजस, कामण
शरीर वर्णचतुष्क ।

२ तैजस और कामण शरीर नामक्रमकी धुनोदयप्रकृतियोंमें आजात हैं ।

शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओंमें हा ये प्रकृतियाँ अपना फल देती हैं, अतः पुद्गलविगमिनी हैं । जैसे, निमाण नामकर्मने उदयमे शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुआम अङ्ग और उपाङ्गका नियमन होता है । फिर नामकर्मक उदयसे दात आदि स्थिर, और अस्थिर नामकर्मने उदय से निष्ठा आदि अस्थिर हाते हैं । शुभ नामकर्मने उदयमे स्थिर आदि शुभ, और अशुभनामकर्मक उदयसे पैर आदि अशुभअन्यत्र जनते हैं । शरीरनामकर्मक उदयमे प्रदीत पुद्गल शरीररूप परिणत हाते हैं । उद्भाषाङ्गने उदयमे शरीरमें अङ्ग और उपाङ्गका विभाग हाता है । सम्यानकर्मने उदयमे शरीरका आकार विशेष जनता है । सहननकर्मके उदयसे अप्रिययासा प्रधानविशेष हाता है । उपजात, साधारण, प्रत्येक, उद्योग, आतर वगैरह प्रकृतियाँ भी शरीररूप परिणत हुए पुद्गलोंमें ही अपना फल देती हैं । अतः ये सब पुद्गलविगमिनी हैं ।

शङ्को—रति और अरतिकर्म भी पुद्गलासी अपेक्षासे ही अपना फल देत हैं, क्योंकि रात्रि वगैरहके लगनानेपर अरतिना उदय होता है, और रश्मिभाषा, चन्दन वगैरहका स्पर्श होनेपर रतिना उदय हाता है । अतः हैं पुद्गलविगमिनी क्या नहीं जनताया ।

उत्तर—छाटे वगैरहके न लगनेपर भी, प्रिय और अप्रियवस्तुके दर्शन, लग्न वगैरहसे ही रति और अरति कर्मका निगमोदय देखा जाता है । यन् वेदानों पुद्गलके बिना भी उदय में आजाते हैं, अतः पुद्गलविगमिनी नहीं हैं । इस प्रकार पुद्गलविगमिनीप्रकृतिद्वाराका निरूपण जानना चाहिये ।

१ "अरहरइण उदयो किञ्च भवे पोग्गलाणि सपप्प ।

अप्पुटेहि वि किञ्चो ण्व कोहाइयाणपि ॥ १६४ ॥" पञ्चस० ।

२ गो० कर्मकाण्डमें (भा० ४७ ४९) भी विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है ।

दोनों ग्रन्थोंमें केवल इतनाही अन्तर है कि कमकाण्डमें पुद्गलविपाकिप्रकृतियाँ १२ बतलाई हैं, जब कि कर्मग्रन्थमें उनकी संख्या ३६ है । इस अन्तरका

१७ प्रकृतिबन्धद्वार

विभिन्न प्रकृतिद्वारों का वणन समाप्त करके, अब ग्रन्थद्वारों का वर्णन करते हुए समझे पहले बंधों में लगते हैं—

यद्यो पयडठिङ्गसपणसत्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—यह चार भेद हैं—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेष्टाबंध ।

भावार्थ—आत्मा और कमरमाणुआने सम्बंधविशेषों को बंध कहते हैं । उनके चार भेद हैं—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध, और प्रदेष्टाबंध । रसबंधना दूसरा नाम अनुभागरंध और अनुमयरंध भी है । दिगम्बर साहित्यमें दूसरा नाम अनुमागरंध ही विशेषतया प्रचलित है । स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेष्टाबंध समुदायको प्रकृतिबंध कहते हैं । अर्थात् इस परिभाषाके अनुसार प्रकृतिबंध काइ स्वतंत्र बंध नहीं है, किन्तु गेय तीन बंधाने समुदायना ही नाम है । दूसरी परिभाषाके अनुसार प्रकृति शब्दना अथ स्वभाव है, और उसके अनुसार जेरे जेदे कर्मात्म ज्ञानादिको भातने जा जा स्वभाव उत्पन्न हाता है, यह प्रकृतिबंध कहलाता है । दिगम्बर साहित्यमें प्रकृतिबंधना यह दूसरी परिभाषा ही पाई जाती है ।

कारण यह है कि कमग्रन्थमें बंधन और सचात प्रकृतियोंको छोड़ दिया है और वणचतुष्टयमें वर्षा आदिके भेद नहीं गिने हैं, जो बीस होते हैं । इस प्रकार १०+१६=२६ प्रकृतियोंको कम करनेसे ६२+२६=८८ प्रकृतियों शेष रहती है । कमप्रकृति (बंधनकरण, पृ० १२) की उपाध्साय यशोविजयजीकृत टीनाम भी विपाकिप्रकृतियोंका वणन किया है । पञ्चमग्रन्थ पा० १४१-१४२ में विपाकिप्रकृतियोंको गिनाया है ।

१ निर्देयधो दहस्स ठिई पणमयधो पणमगहण ज ।

ताण रसो अणुभागो सत्समुदाओ पणइयधो ॥ ४३२५ ॥ पञ्चस०

जीनके द्वारा ग्रहण किये हुए कमपुद्गलो में, अपने स्वभावको न त्यागकर जीनके साथ रहनेके कालसी मर्यादाके होनेको स्थितिग्रथ कहते हैं। उन कमपुद्गलों में फलदेनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको रसग्रथ कहते हैं। और न्यूनाधिक परमाणु वाले कमस्कंधाका जीनके साथ सम्प्रथ होनेको प्रदेगग्रथ कहते हैं। सरास यह है कि जीनके योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जो कामगणनाएँ कमरूप परिणत होती हैं ता उनमें चार गतें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फलदेनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिणाममें उनका जीनके साथ सम्प्रथ होना। इन चार बातोंका ही चारग्रथ कहते हैं। इनमेंसे स्वभाव अथात् प्रकृतिबन्ध और कमरमाणुओंका अमुक संख्याम जीनके साथ सम्प्रथ होना अथात् प्रदेगग्रथ ता जीनकी योगशक्तिपर निर्भर है। तथा स्थिति और फलदेनेकी शक्ति जीनके कषायभावोंपर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बन्धनो प्राप्त कमपुद्गलोंका स्वभाव और परिमाण भी वैसाही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीनका कषाय जैसी तीव्र या मन्द होगी, बन्धनो प्राप्त परमाणुओंका स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी। जावनो कषायशक्ति होना, कषायको चिपकनेवाली गाद और कमपरमाणुओंको रक्षण काजमा दी जाती है। जैसे हवाके चरते ही धूलिके कण उड़ उड़कर उन स्थानपर जमजाते हैं जहाँ कोई चिपकानेवाली वस्तु गाद बगैरह लगी होती है। उसी तरह जानकी प्रत्येक गारारिक, वाचनिक और मानसिक क्रियाके साथ कमपुद्गलका आत्मा म आश्रय होता है। जीनके सकल परिणामोंको सहायता पाकर वे जीनके साथ बंध जाते हैं। वायु तीव्र या मन्द जैसी होती है धृतिभा उसा परिमाणमें उठती है, तथा गाद बगैरह जितनी चिपकाहटवाली होता है धूलि भी उतनी ही स्थिरताके साथ वहाँ ठहर जाती है। इसी तरह वायुशक्ति जितनी तीव्र होती है, जागत कमपरमाणुओंकी संख्या भी उतनी

ही अधिक होती है । तथा कणाय जितनी सौत्र हाता है, कमरमाणुआमें उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभागग्रह होता है । इस बंधाका स्वरूप समझनेके लिये भादकका दृष्टान्त भी दिया जाता है । जैसे वायुनाशक वस्तुआमें घना भादक वायुको शान्त करता है, पित्तनाशकवस्तु जैसे घना भादक पित्तको शान्त करता है और कफनाशकवस्तुओंसे घना भादक कफका नाश करता है । तथा कोई भादक दो दिनतक पराप्त नहीं हाता कोई भादक एक समाहारक पराप्त नहीं हाता । किसीमें अधिक मीठा होता है, किन्तु कम मीठा होता है । कोई तालाभर कनकका हाता है, कोई छगैकभरका हाता है इत्यादि । इसीतरह कर्मोंमें भी किसीका स्वभाव शानको आच्छादन करना है, किसीका स्वभाव दशनका आच्छादन करना है । कितारी तास कारीकारी सागरका स्थिति है, किसीकी सत्तर फाणीकी गारकी स्थिति है । किसीमें कम रस है किसीमें अधिक । किन्तु कम कमरमाणु हैं, किन्तु अधिक कमरमाणु हैं । इसप्रकार बंधाका स्वरूप समझना चाहिये ।

उक्त चार बंधाओंमें पहले प्रवृत्तिबंधका ध्यान करते हुए, मूलप्रवृत्ति-स्थान और उनमें भूषकार, अत्यंतर, अवस्थित और अवस्थित ब-यत्नगत हैं—

मूलपयडीण अद्वसत्तछेगनधेसु तिन्नि भूगारा ।

अप्पतरा तिय चउरो अवद्विया णै हु अत्तव्वो ॥२२॥

अर्थ—मूल प्रवृत्तियोंके जाटप्रवृत्ति, सातप्रवृत्ति, छप्रवृत्ति और एकप्रवृत्ति, इस प्रकार चार बंधस्थान होते हैं । तथा उन बंधस्थानोंमें तान भूषकार, तीन अत्यंतर और चार अवस्थित बंध होते हैं । किन्तु

१ "पयइम्पिहरसपणसाव चउहा मोयगस्स दिट्ठता ॥२॥" प्र० कर्मप्र० ।

२ अठ-स० पु० । ३ न स० पु० ।

अतव्यय नहीं होता है ।

भानार्थ—एक जीवके एक समयमें जितने कर्मोंका बन्ध होता है, उनके समूहको एक बन्धस्थान कहते हैं । इस बन्धस्थानका विचार दो प्रकारसे किया जाता है—एक मूल प्रकृतियाँ म और दूसरे उन मूलप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियों । पहले बतला आये हैं कि मूलकम आठ हैं और उनकी बन्धप्रकृतियाँ एकसौ बीस हैं । इन गण्यमें मूलप्रकृतियाँ ही बन्धस्थान बन गये हैं ।

साधारणतया प्रत्येक जीवके आयुक्रमके सिवाय शेष सातक्रम प्रतिममय न्यून हैं । क्योंकि आयुक्रमका बन्ध प्रतिसमय न होकर नियत समयमें ही होता है । जब कोई जीव आयुक्रमका भी बन्ध करता है, तब उसके आठ कर्मोंका बन्ध होता है । दसवें गुणस्थानमें पहुँचनेपर आयु और मोहनीय कर्म सिवाय शेष छह ही कर्मोंका बन्ध होता है, क्योंकि आयुक्रम सातवें गुणस्थानतक ही बधता है और मोहनीयक्रम नवें गुणस्थानतक ही बधता है, आठ नहीं बधता । दसवें गुणस्थानसे आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें केवल एक सातवेदनायनक ही बन्ध होता है, शेष कर्मोंके बन्ध निरोध दसवें गुणस्थानमें ही होजाता है । इस प्रकार मूलप्रकृतियोंके चार ही बन्धस्थान होते हैं—आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक । अर्थात् कोई जीव एक समयमें आठकर्मोंका

१ “जा अपमत्तो सत्तद्व्यधगा सुदुम छण्हमेगस्म ।

उत्तसत्तखीणभोगी सत्तण्ह नियट्ठी मीम अनियट्ठी ॥२०९॥” पञ्चम०

धर्मात्—‘अप्रमत्त गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मोंका बन्ध होता है । सुदमसम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध होता है, और उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली गुणस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है । निश्रुतिकरण, मिथ और अनिश्रुतिकरण गुणस्थानमें आयुके बिना सात ही कर्मोंका बन्ध होता है ।’

प्रथम समयमें गुणस्थानों सात कर्म बाधें, तेने प्रथम समय भूयस्कार होय, तो ए चौथो भूस्कार कर्म न कह्यो ? तेनो उत्तर कहे छे के जो एण एक बाध थी सातकर्म बन्ध करे तो एण बन्ध स्था नक सातनु एकज छे, ते मणी जुदो न लेख्यो, बन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार लखवाय ।”

अथात्—“यहाँ काह पृच्छा हे कि उपशमत्रेणिके ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुश्य हानपर मरण करक कोह जाय अनुत्तर विमानम देन होता है । यहाँ यह प्रथम समयमें चौथे गुणस्थानम सात कर्मोंका बाध करता है, अत उत्तरे प्रथम समयम भूयस्कार होना ह ता यह चौथा भूयस्कार क्या नहीं कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि जो एकका बाधकर सातकर्मका बाध करता है, ता बाधस्थान सातका ही रहता है, इसलिय इसे जुदा नहीं लिखा है । यदि बाधस्थानका भेद होता ता जुदा भूयस्कार लिखा जाता ।”

इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारोंमें छहका बाधकर सात का बाधकर एक भूयस्कार उत्पन्न जाय है । एकका बाधकर सातका बाध-रूप भूयस्कारम भा सातका ही बाधस्थान होता है, अत उमे पृथक् नहीं लिखाया है । इसप्रकार उपशमत्रेणिके उतरापर उक्त तीन ही भूयस्कार-बन्ध होते हैं ।

(भूयस्कारबाधसे निम्नल उत्पन्न अन्यतर बाध होता है । अथात् अधिक कर्मोंका बाध करक कम कर्मोंके बाध करनेको अन्यतर बाध कहते हैं) । भूयस्कारही तबह अव्यतर बाध भी तान ही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

जायुस्मर बाधसालम जायुस्मरोंका बाधकरके चर जाय सातकर्मोंका बाध करता है ता एण अव्यतर बाध होता है । नवमे गुणस्थानम सात कर्मोंका बाधकरक दसम गुणस्थानक प्रथमसमयम अर जीव माहनीयके बिना दीव उह कर्मोंका बाध करता है, तब दूसरा अन्यतर बाध होता है । तथा, दसवें गुणस्थानम उह कर्मोंका बाधकरके ग्यारहव अथवा बाहव गुणस्थान-

में एक कमका बंध करनेपर तीसरा अल्पतरबध होता है। यहां पर भी आठका बंध करके छह तथा एकका बंधरूप और सातका बंध करके एक का बंधरूप अल्पतर बंध नहीं हो सकते, क्योंकि अप्रमत्त तथा अनिवृत्ति-करण गुणस्थानसे जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थानमें नहा जा सकता और न अप्रमत्तसे एकदम दसवें गुणस्थानमें ही जा सकता है। अतः अल्पतरबध भी तीन ही जानने चाहिये।

(पहले समयमें चितने कर्मोंका बन्ध किया है, दूसरे समयमें भी उतनेही कर्मोंका बंध करनेको अवस्थितबध कहते हैं)। अथात् आठको बाँधकर आठका, सातको बाँधकर सातका, छहको बाँधकर छहका, और एकको बाँधकर एकका बंध करनेको अवस्थितबध कहते हैं) अतः बंधस्थान चार हैं अतः अनग्नितबध भी चारही होते हैं।

(एक भी कमका न बाँधकर पुनः कमबध करनेको अवक्तव्यबध कहते हैं) यह बध मूलप्रकृतियोंके बंधस्थानोंमें नहा होता, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानतक तो धरानर कर्मबध जाता है, केवल चौदहवें गुणस्थानमें ही किसी भी कमका बंध नहीं होता। परन्तु चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचनेसे बाद जीव धारणर नाचेने गुणस्थानोंमें नहीं आता। (अतः एक भी कमका बंध न करके पुनः कमबध करनेका अवसर ही नहीं आता। इसलिये अवक्तव्य-

१ पञ्चतद्गहमें लिखा है-

इगच्छाद् भूलियाण बन्धद्वाणा हवति चत्तारि ।

बन्धधनो न बधइ इह भवत्तो भओ नयि ॥ २२० ॥"

अर्थात्-मूलप्रकृतियोंके एक प्रकृतिक छह प्रकृतिक वगैरह चार बंधस्थान होते हैं। यहां एक भी मूलप्रकृतिका बंध न करके पुनः प्रकृति बंध करना उभय नहीं है अतः अवक्तव्यबन्ध नहीं होता है।

कमकाण्ड गा० ४५३ में मूल प्रकृतियोंके बन्धस्थान और उनमें भूय-स्थार, जिसे यहाँ शुनाधार कहा है, आदि बन्ध इसी प्रकार बतलाये हैं।

भावार्थ—इस गायाम भूयस्कार आदि ऋषोंका स्वरूप बतलाया है। उनके सम्बन्धम इतना विशेष बतलाना है कि भूयस्कार, अल्पतर और अव-स्वरूपके केवल पहले समयमें ही होते हैं और अवस्थितबन्ध द्वितीयादि समयोंमें होता है। जैसे, कोई जान छह कर्मोंका बन्धकरके सातका बन्ध करता है, यह भूयस्कारबन्ध है। दूसरे समयमें यही भूयस्कार नहीं होसकता, क्योंकि प्रथम समयमें सातका बन्ध करके यदि दूसरे समयम जाठका बन्ध करता है तो भूयस्कार नदल जाता है, यदि छहका बन्ध करता है तो अल्पतर होजाता है और यदि सातका बन्ध करता है तो अवस्थितबन्ध होजाता है। सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्यामें परिवर्तन हुए बिना अधिक बाँधकर कम बाँधना, कम बाँधकर अधिक बाँधना और कुछ भी न बाँधकर पुन बाँधना केवल एकार ही समझ है, जब कि उतने ही कम बाँधकर पुन उतने ही कम बाँधना पुन पुन समझ है। अत एव ही अवस्थितबन्ध लगातार कद समय तक हा सनता है, किंतु शेष तीन बन्धम यह बात नहीं है ॥

मूलप्रकृतियोंमें भूयस्कार आदि बन्धका कथन करके, अब उच्चप्रकृ-तियोंम उन्हें बतलाते हैं—

नम छ चउ ढसे दुदु तिदु मोहे दु इगनीस सत्तरस ।

तेरम नम पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृ-तिरूप, इस प्रकार तीनों बन्धस्थान होते हैं। तथा उनम दो भूयस्कार, दो

१ पञ्चमद्गहके सप्ततिस्र नामक अधिकारमें भी दर्शनावरणके तीन बन्ध-स्थान इसी प्रकार बतलाये हैं—

“नवउच्चट्ठा यज्जह् दुगट्ठदसमेण दसणावरण ॥ १० ॥”

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं। उनमेंसे पहले और दूसरे गुणस्थानमें नौप्रकृतिरूप बन्धस्थान पाया जाता है। उनसे आगे आठवें गुण

अपतर, तीन अवस्थित और दो अरुच्यग्रन्थ होते हैं । मोहनीयकर्मके साइस प्रकृतिरूप, इकीस प्रकृतिरूप, सतरह प्रकृतिरूप, तेरह प्रकृतिरूप, नौ प्रकृतिरूप, पाँच प्रकृतिरूप, चार प्रकृतिरूप, तीन प्रकृतिरूप, दो प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप, इसप्रकार दस बंधस्थान होते हैं । तथा, उनमें नौ भूयस्कार, आठ अस्तर, दस अवस्थित और दो अरुच्यग्रन्थ होते हैं ।

भावार्थ—उत्तरप्रकृतियोंके बंधस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बंधाका निरूपण करते हुए ग्रन्थकारने इस गायान द्वारा दशनावरण और मोहनीयकर्मके बंधस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बंधाको गिनाया है । मूलप्रकृतियोंके पाठनमें अनुसार पहले ज्ञानावरणकर्मके बंधस्थानोंमें भूयस्कार आदि बंधाको बतलाना चाहिय था । किन्तु ऐसा न करके दशनावरण और मोहनीयसे इस प्रकरणके प्रारम्भ करके कारण यह है कि भूयस्कार आदि बंध केवल तानही कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें होते हैं । उनके नाम दशनावरण, माहनाय और नामकर्म हैं । सोच पाँच कर्मोंमें उनकी समानता भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मकी पाँचो प्रकृतियों एक साथही बंधती हैं और एक साथही रुकती हैं । अतः दोनों कर्मोंकी पाँच प्रकृतिरूप एक ही बंधस्थान होता है । और एक बंधस्थानके होते हुए भूयस्कार आदि बंध कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि ऐसी दशमें तो सदा ही अवस्थितग्रन्थ रहता है ।

इसीप्रकार वेदनोय, आयु और मोक्षकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति बंधती है, अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बंध नहीं होते । इसीसे गोमह्वार वमकाण्डमें उत्तर प्रकृतियोंमें भुजाकार आदि बंधाका निरूपण स्थान तक छह प्रकृतिरूप बंधस्थान होता है और उससे आगे दसवें गुण स्थान तक चार प्रकृतिरूप बंधस्थान होता है ।

करते हुए लिखा है—

“तिणिण दस अट्ट ठाणाणि दसणावरणमोहणामाण ।

एत्थेव य भुजगारा संसेसेय हवे ठाण ॥ ४५८ ॥”

अर्थात्—दशनावरण, मोह और नामकर्मके प्रभु तीन, दस और आठ बन्धस्थान होते हैं । और इन्हींमें भुजंगार आदि बन्ध होते हैं । शेष कर्मोंमें केवल एक ही बन्धस्थान होता है । अस्तु,

दशनावरण और मोहनीयकर्मके बन्धस्थानोंमें भूयस्कार आदि नव निम्न-प्रकार होते हैं—

दर्शनावरण—इस कर्म की प्रकृतियाँ हैं और उनमें तीन बन्ध-स्थान होते हैं । क्योंकि सात्त्वादन गुणस्थानतक तो सभी प्रकृतियों का बन्ध होता है । सात्त्वादन गुणस्थानके अन्तमें स्थानद्वित्रिकके बन्ध की समाप्ति हो जाती है, अतः आगे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथमभागतक शेष छह ही प्रकृतियों का बन्ध होता है । अपूर्वकरणके प्रथमभागके अन्तमें निद्रा और प्रचलने के बन्ध निरोध हो जाता है, अतः उससे आगे दसवें गुणस्थानतक शेष चारही प्रकृतियों का बन्ध होता है । इस प्रकार दशनावरणकर्मके नौ प्रकृतिरूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप तीन बन्धस्थान होते हैं । उनमें दो भूयस्कार, दो अव्यतर, तीन अवस्थित और दो अवस्थितबन्ध होते हैं । जो इस प्रकार हैं—

अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे लेकर दसवें गुणस्थानतक किसी

१ पञ्चसङ्ख्यहमें भी लिखा है—

‘बधट्ठाणा त्तिदसट्ठ दसगावरणमोहणामाण ।

सेमाणेगमवट्ठियबधो सत्तथ ठाणसमो ॥ २२२ ॥’

अर्थात्—दर्शनावरणके तीन बन्धस्थान हैं, मोहनीयके दस बन्धस्थान हैं नामकर्मके आठ बन्धस्थान हैं, और शेषकर्मोंका एक एक ही बन्धस्थान है । अतः बन्धस्थान होते हैं, उतनेही अवस्थितबन्ध होते हैं ।

एक गुणस्थानमें चार प्रवृत्तियोंका बंध करने, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानके द्वितीयभागसे नीचे जाकर छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला भूयस्कारग्रन्थ होता है । वहासे मी गिरकर जब नौ प्रवृत्तियोंका बंध करता है, तब दूसरा भूयस्कारग्रन्थ होता है । इस प्रकार दो भूयस्कारग्रन्थ जानने चाहिये ।

अल्पतरग्रन्थ उनसे निरसीत होते हैं । अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रवृत्तियोंका बंध करनेके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला अल्पतरग्रन्थ होता है । और जब छह का बंध करनेके चारका बंध करता है तो दूसरा अल्पतरग्रन्थ होता है । इस प्रकार दो अल्पतर ग्रन्थ होते हैं । तथा, तीन ग्रन्थस्थानोंके तीन ही अनस्थितग्रन्थ होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दण्णावरणक्रमका त्रिकुल बंध न करके, जब कोई जीव वहासे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला अवत्तग्रन्थ होता है । और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें मरण करके अनुत्तर्गम उत्पन्न होता है तो यहाँ प्रथम समयमें दण्णावरणकी छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है । यह दूसरा अवत्तग्रन्थ है । इस प्रकार दस-

५। भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अनस्थित और दो अवत्तग्रन्थ

होते हैं ।

मोहनीये-इस कमनी उत्तग्रवृत्तियाँ अष्टादश हैं । उनमेंसे सम्यक्-

१ गो० कमकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बंधोंमें कुछ अंतर है । उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तत्तीस अनस्थित और दो अवत्तग्रन्थ बतलाये हैं । जैसा कि उसमें निम्नगणनासे स्पष्ट है-

दस बीस प्रकारसे तत्तीस मोहबध्नाणाणि ।

भुजगारण्यदराणि य अवट्टिदाक्षिणि य सामण्जे ॥ ४६८ ॥ '

अर्थ-मोहनीयकर्मके दस बंधस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

तेतीस अवस्थित और 'य' से दो अवक्तव्य बन्ध सामान्यसे होते हैं । कर्म ग्रन्थ और कर्मकाण्डके इस विवेचनमें अन्तर पढ़नेका यह कारण है कि कर्मग्रन्थमें भूयस्कार आदि बन्धोंका विवेचन केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़नेकी अपेक्षासे किया है । किन्तु कर्मकाण्डमें उक्त दृष्टिके साथही साथ इस बातका भी ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढ़ते समय जीव किम गुणस्थानसे किस किस गुणस्थानमें आ सकता है और नीचे उतरते समय किस गुणस्थानसे किस किम गुणस्थानमें आ सकता है । इसके सिवाय मरण की अपेक्षासे भी भूयस्कार आदि बांध गिनाये हैं ।

कर्मग्रन्थमें एकसे दो, दोसे तीन, तीनसे चार आदिका बांध बतलाकर दस बांधस्थानोंमें नौ भूयस्कार बन्ध बतलाये हैं । किन्तु कर्मकाण्डमें उनके सिवाय द्यारह भुजाकार और बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं—मरणकी अपेक्षा से जीव एक को बांधकर सतरहका, दो को बांधकर सतरहका, तीनको बांध कर सतरहका, चारको बांधकर सतरहका और पाँचको बांधकर सतरहका बन्ध करता है अतः पाँच भुजाकार तो मरणकी अपेक्षासे होते हैं । तथा, प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानमें नौ प्रकृतियोंका बांध करके कोई जीव पाँचवे गुणस्थानमें आकर तेरहका बन्ध करता है । कोई जीव चौथे गुणस्थानमें आकर सतरहका बांध करता है, कोई जीव दूसरे गुणस्थानमें आकर इक्कीसका बांध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थानमें आकर बाईसका बांध करता है, क्योंकि प्रमत्त गुणस्थानसे च्युत होकर जीव नीचेके सभी गुणस्थानोंमें आ सकता है । अतः नौके चार भुजाकार बन्ध होते हैं । तथा, इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानमें तेरहका बन्ध करके सतरह, इक्कीस और बाईसका बांध कर सकता है, अतः तेरहके तीन भुजाकार होते हैं । तथा, सतरह को बांधकर इक्कीस और बाईसका बन्ध कर सकता है, अतः सतरहके दो भुजाकार होते हैं । इस प्रकार नौके चार, तेरहके तीन और

एक गुणस्थानमें चार प्रवृत्तियोंका बंध करने, जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थानक द्वितीयभागसे नीचे आकर छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला भूयस्कारण बंध होता है । वहासे भी गिरकर जब नौ प्रवृत्तियोंका बंध करता है, तब दूसरा भूयस्कारण बंध होता है । इस प्रकार दस भूयस्कारण बंध जानने चाहिये ।

अल्पतरबन्ध उनसे विपरीत होते हैं । अर्थात् नीचेके गुणस्थानोंमें नौ प्रवृत्तियोंका बंध करनेके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानोंमें छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला अल्पतरबन्ध होता है । और जब छह का बंध करनेके चारका बंध करता है तो दूसरा अल्पतरबन्ध होता है । इस प्रकार दो अल्पतर बंध होते हैं । तथा, तीन बंधस्थानोंके तीन ही अवस्थितबन्ध होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें दण्डनावरणनमनी म्लिकुल बंध न करके, जब कोई जीव वहासे गिरकर दसवें गुणस्थानमें चारप्रवृत्तियोंका बंध करता है तो पहला अवस्थितबन्ध होता है । और जब ग्यारहवें गुणस्थानमें भरण करके अनुचरोमें उत्पन्न होता है तो वहाँ प्रथम समयमें दण्डनावरणकी छह प्रवृत्तियोंका बंध करता है । यह दूसरा अवस्थितबन्ध है । इस प्रकार दर्शनानावरणनम दो भूयस्कार, दस अल्पतर, तीन अवस्थित और दस अवस्थित बंध होते हैं ।

मोहनीये—इस कमनी उत्तमप्रवृत्तियों अष्टादश हैं । उनमेंसे सम्पूर्ण

१ गो० कमकाण्डमें मोहनीयकर्मके भुजाकारादि बंधोंमें कुछ अंतर है । उसमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवस्थित बंध बतलाये हैं । ऐसा कि उसकी निम्नगणनासे स्पष्ट है—

“दस बीस प्रकारस तेतीस मोहबध्मणाणि ।

भुजगारण्यदराणि च अवद्विदाणित्रि च सामण्ये ॥ ४६८ ॥”

अथ—मोहनीयकर्मके दस बंधस्थानोंमें बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर,

बन्ध है और दूसरे समयका अवस्थित । जिस प्रकार भूयस्कार आदि बन्धों का निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार यदि अवस्थितबन्धका भी निरूपण किया जाये तो कहना होगा कि चाईसका बन्ध करके चाईसका बन्ध करना, इन्कीसका बन्ध करके इन्कीसका बन्ध करना, सतरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध करना आदि अवस्थित बन्ध ह । अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल अवस्थित बन्ध उत्तने ही होते हैं जितने कि बन्धस्थान होते हैं । इसीसे कर्मग्रन्थमें मोहनीयके अवस्थितबन्ध दसही बतलाये हैं । किन्तु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्यबन्धके द्वितीय समयमें प्रायः अवस्थितबन्ध होता है । अतः इन उपपदपूर्वक होनेवाले अवस्थितबन्ध भी उत्तनेही ठहरते हैं जितने कि उक्त तीनों बन्ध होते हैं । इसीसे कर्मकाण्डमें उक्त तीनों बन्धोंके बराबर ही अवस्थितबन्धका परिमाण बतलाया है । अवक्तव्यबन्ध कर्मग्रन्थके ही समान जानने चाहिये । इस प्रकार ये चारों बन्ध सामान्यसे कह गये हैं ।

कर्मकाण्डमें विशेषरूपसे भी भुजाकार आदिको गिनाया है, निम्नकी सख्या निम्न प्रकार है—

“सत्ताषीसहिय सय पणदाल पचहत्तरिहिय सय ।

भुजगारण्यदराणि य अवट्टिदाणिवि विसमेण ॥ ४७१ ॥”

अर्थ—विशेषपनेसे अर्थात् भक्तोंकी अपेक्षामें एक सौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं पैतालीस अल्पतर होते हैं और एक सौ पचहत्तर अवक्तव्य बन्ध होते हैं ।

इन बन्धोंको जानने के लिये पहले मङ्गल जानना आवश्यक है । एक ही बन्धस्थानमें प्रकृतियोंके परिवर्तनसे जो प्रिकल्प होते हैं, उन्हें मङ्गल कहते हैं । जैसे चाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीनों बंदोंमें से एक वेदका और हास्य रति और शोक अरतिके दो युगलोंमें से एक युगलका बन्ध होता है अतः उसके $3 \times 2 = 6$ मङ्गल होते हैं, अर्थात् चाईस प्रकृतिक बन्धस्थान को

सत्तरहके दो भुजाकार बंध होते हैं। किंतु कर्मकाण्डमें प्रत्येक बंधस्थानका एक एक इस प्रकार तीन ही भुजाकार बतलाये हैं। अतः दोष छह रह जाते हैं। तथा मरणकी अपेक्षासे पौन भुजाकार ऊपर बतला आये हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डमें $4+4=8$ भुजाकार अधिक बतलाये हैं।

तथा कर्मप्रश्नमें अल्पतर बंध आठ बतलाये हैं। किंतु कर्मकाण्डमें उनका सरया ग्यारह बतलाई है, जो इस प्रकार है—कर्मप्रश्नमें चाइस को बाँधकर सत्तरहका बंधरूप कवल एकही अल्पतर बंध गिनाया है किंतु पहले गुणस्थानमें सातवें गुणस्थान तक जीव दूमेरे और छठें गुणस्थानके सिवाय दोष सभी गुणस्थानोंमें जा सकता है। अतः चाइसना बाँधकर सत्तरह तेरह और नौ का बंध कर सकनेके कारण चाइसप्रकृतिक बंधस्थानके तीन अल्पतर बंध होते हैं। तथा सत्तरहका बंध करके तेरह और नौ का बंध कर सकनेके कारण सत्तरहके बंधस्थानके दो अल्पतर बंध होते हैं। इस प्रकार चाइसके तीन और सत्तरहके दो अल्पतर बंधोंमें से कर्मप्रश्नमें केवल एक एकही अल्पतर बतलाया है। अतः तीन दोष रह जाते हैं जो कर्मप्रश्न से कर्मकाण्डमें अधिक हैं।

भूयस्कार, अल्पतर और अवकायबन्धके द्वितीय समयमें भी यदि उत्तनी ही प्रकृतियोंका बंध होता है, तिनही प्रकृतियोंका बंध पहले समयमें हुआ था, तो उसे अवस्थित बंध कहते हैं। अतः कर्मकाण्डमें भुजाकार, अल्पतर और अवकाय बंधोंकी सरयाके बराबरही अवस्थितबंधकी सरया बतलाई है। यदि दूसरे समयमें होनेवाले बंधके ऊपरसे भूयस्कार अल्पतर, अथवा अवकाय पदांका अलग करके उनकी वास्तविकता पर दृष्टि दी जाये तो मूल अवस्थितबंध उतनेही उठरते हैं तिनके कि बंधस्थान होते हैं। अतः, किसी जीवने दूधकीसका बंध करके प्रथम समयमें चाइसका बंध किया और दूसरे समयमें भी चाइसका ही बंध किया। यही प्रथम समयका बंध भूयस्कार

सत्तरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर $२ \times ६ = १२$ मङ्ग होते हैं। चौधमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सत्तरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध होने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $१२ - ८ = ४$ मङ्ग होते हैं। पांचवेमें बीबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सत्तरहका बन्ध होने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीसका बन्ध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध होने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ८ + १२ = २४$ मङ्ग होते हैं। छठमें अठारस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके सत्तरहका बन्ध करने पर $२ \times २ = ४$, सत्तरहका बन्ध करने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीसका बन्ध करने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध करने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ४ + ८ + १२ = २८$ मङ्ग होते हैं। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक मङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो मङ्ग सहित सत्तरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवें गुणस्थानमें पाँच, चार आदि पांच अवस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीस भुजाकार होते हैं, एक एक गिरौरी अपेक्षासे और दो दो मरौकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

“अप्यदरा पुण सीस णम णम छद्देणिं दोणिं णम एह ।

धूले पणगादीण एक्केक्क अतिमे सुण्ण ॥ ४७३ ॥”

अर्थ—पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सत्तरहका बन्ध करने पर $६ \times २ = १२$, तेरहका बन्ध करने पर $६ \times २ = १२$, और नौ का बन्ध करने पर $६ + १ = ६$, इस प्रकार $१२ + १२ + ६ = ३०$ मङ्ग होते हैं। दूसरे गुणस्थानमें एक भी अल्पतर नहीं होता क्योंकि दूसरेके बाद पहलाही गुणस्थान होता है और उस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध करके बाइसका बन्ध

कोई जीव हास्य रति और पुरुषवेदके साथ बांधता है, कोई शोक धर्मा और पुरुषवेदके साथ बांधता है । कोई हास्य रति और स्त्रीवेदके साथ बांधता है, कोई शोक धर्मा और ध्यावेदके साथ बांधता है, इसी तरह नपुंसकवेदमें भी समस्त लेना चाहिये । इस प्रकार बाइस प्रकृतिक बन्धस्थान भिन्न भिन्न जीवोंके छह प्रकारसे होता है । इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके चार भङ्ग होते हैं क्योंकि उसमें एक जीवके एक समयमें दो वेदोंमें न मिली एक वेदका और दो युगलोंमें से किसी एक युगलका बन्ध होता है । सारांश यह है कि अपने अपने बन्धस्थानमें समवित वेदों को और युगलोंको परस्परमें गुणा करनेसे अपने अपने बन्धस्थानके भङ्ग होते हैं । जो इस प्रकार हैं—

‘ छप्पावीस चतु इग्वीस दो दो हवति छट्ठोत्ति ।

पञ्चकमदो भगो वषट्ठाणेमु मोहस्त ॥ ४६७ ॥”

अर्थ—मोहनीयके बन्धस्थानोंमें स बाईसके छह, इक्कीसके चार, इसके आगे प्रमत्तगुणस्थान तक समवित बन्धस्थानोंके दो दो और उसके आगे समवित बन्धस्थानोंके एक एक भङ्ग होते हैं । इन भङ्गोंकी अपेक्षाएँ एवम्भी सत्ताइस भुजाकार निम्नप्रकार हैं—

“गभ चउवीस चारस थीस चउरद्वीस दो दो य ।

धूले पणगादीण तिय तिय मिट्ठादिमुजगारा ॥ ४७२ ॥”

अर्थ—पहले गुणस्थानमें एक भी भुजाकार बन्ध नहीं होता, क्योंकि बाइस प्रकृतिक बन्धस्थानस अधिर प्रकृतियोंवाला कोई बन्धस्थान ही नहीं है जिसके बांधनेसे वहां भुजाकार न बंध समभव हो । दूसरे गुणस्थानमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि इक्कीसको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर इक्कीसके चार भङ्गोंको और बाइसके छह भङ्गोंको परस्परमें गुणा करने पर $4 \times 6 = 24$ भुजाकार होते हैं । तीसरे में बारह भुजाकार होते हैं, क्योंकि

सतरहको बांधकर बाइसका बन्ध करने पर $२ \times ६ = १२$ मङ्ग होते हैं। चौथेमें बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सतरहका बन्ध करके इक्कीसका बन्ध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध होने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $१२ - ८ = ४$ मङ्ग होते हैं। पाँचवेंमें चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरहका बन्ध करके सतरहका बन्ध होने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीसका बन्ध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध होने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ८ + १२ = २४$ मङ्ग होते हैं। छठेमें अठ्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बन्ध करके तेरहका बन्ध करने पर $२ \times २ = ४$, सतरहका बन्ध करने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीसका बन्ध करने पर $२ \times ४ = ८$ और बाइसका बन्ध करने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ४ + ८ + १२ = ३८$ मङ्ग होते हैं। सातवेंमें दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवेंमें एक मङ्ग सहित नौ का बन्ध करके मरण होने पर दो मङ्ग सहित सतरहका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें भी सातवेंकी ही तरह दो भुजाकार होते हैं। नौवें गुणस्थानमें पाँच, चार आदि पाँच बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, एक एक गिरनेकी अपेक्षासे और दो दो मरनेकी अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं।

पैंतालीस अल्पतर बन्ध निम्नप्रकार हैं—

“अप्यदरा सुण तीस णम णम छोणिण दोणिण णम पट्ट ।

धूले पणगादीण णक्केवक अत्तिमे सुण्ण ॥ ४७३ ॥”

अर्थ—पहले गुणस्थानमें तीस अल्पतर बन्ध होते हैं क्योंकि बाइसको बांध कर सतरहका बन्ध करने पर $६ \times २ = १२$, तेरहका बन्ध करने पर $६ \times २ = १२$, और नौ का बन्ध करने पर $६ + १ = ६$, इस प्रकार $१२ + १२ + ६ = ३०$ मङ्ग होते हैं। दो अल्पतर नहीं होता क्योंकि अल्पतर के बन्ध इस अवस्थामें इक्कीसका बन्ध

होचानेसे चारका ही बंध होता है। तीसरे भागमें सज्जन बंधक बंधन अभाव होजानेके कारण तीनही प्रवृत्तियोंका बंध होता है। चाँचे भागमें सज्जनमानका बंध न होनेसे दो प्रवृत्तियोंका ही बंध होता है। पाँचवे भागमें सज्जन मायाका भी बंध न होनेसे केवल एक सज्जनलामका ही बंध होता है। उससे आगे वादरूपायनका अभाव होनेसे उस एक प्रवृत्ति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनायकक दस बंधस्थान जानने चाहिये। इन दस अवस्थानोंमें नौ भूयस्कार, आठ अव्यतर, दस अन्यस्थित और दो अव्यव्य बंध होते हैं, जो निम्नप्रकार हैं—

एकको बाँधकर दो का बंध करनेपर पहला भूयस्कारबन्ध होता है। दो का बाँधकर तीनका बंध करने पर दूसरा भूयस्कार होता है। इसी प्रकार तीनका बाँधकर चारका बंध करनेपर तीसरा, चारका बाँधकर पाँचका बंध करनेपर चौथा, पाँचका बंधकरके नौका बंध करनेपर पाँचवा, नौका बंध करने तेरहका बंध करनेपर छठा, तेरहका बंध करके सतरहका बंध करने पर सातवाँ, सतरहका बंध करके इक्कीसका बंध करनेपर आठवाँ, और इक्कीसका बंध करके बाइसका बंध करनेपर नौवाँ भूयस्कारबन्ध होता है।

आठ अव्यतर बंध इस प्रकार हैं—बाइसका बंधकरके सतरहका बंध करनेपर पहला अव्यतर होता है। सतरहका बंध करके तेरहका बंध करने पर दूसरा अव्यतर होता है। इसीप्रकार तेरहका बंधकरके नौ का बंध करनेपर तीसरा, नौ का बंधकरके पाँचका बंध करनेपर चौथा, पाँचका बंध करके चारका बंध करनेपर पाँचवा, चारका बंधकरके तीनका बंध करने पर छठा, तीनका बंधकरके दोका बंध करनेपर सातवाँ और दो का बंधकरके एकका बंध करनेपर आठवाँ अव्यतरबन्ध होता है। यहाँ बाइसका बंधकरके इक्कीसका बंधरूप अव्यतरबन्ध नहीं बतलाया है, क्योंकि बाइस का बंध पहले गुणस्थानमें होता है और इक्कीसका बंध दूसरे गुणस्थानमें, अतः यदि जब पहले गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जासकता तो यह अव्य-

तब बंध बन सकता था। किंतु मिथ्यादृष्टि साक्षादनसम्यग्दृष्टि नहीं हो
सकता, प्रत्युत उपशमसम्यग्दृष्टि ही साक्षादन गुणस्थानको प्राप्त होता है,
जैसा कि कर्मप्रकृति (उपशमक०) और उसकी प्राचीन चूर्णिमें लिखा है—

‘छालिगसेसा पर यासाण कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥’

चूर्णि—“उपशमसम्यग्दृष्टातो पडमाणो छावलिगसेसाण उव
समसमसम्यग्दृष्टाते परति उक्कोसाते, जहणेण पणम्ममयसेसाण
उपशमसमसम्यग्दृष्टाण सासायणसम्मत्त कीति गच्छेज्जा, णो सव्वे
गच्छेज्जा।”

अर्थात्—उपशमसम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिक
से अधिक छद् आवली शेष रहनेपर काइ कोइ उपशम सम्यग्दृष्टी साक्षादन
सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।

अतः बाइसका बंध करके इक्कीसका बंधरूप अत्यन्त बंध सम्मन
नहीं है, इसलिये अव्यक्तराज आठ ही होते हैं। यतः बंधस्थान दस हैं
अतः अवस्थितराज भी दस ही होते हैं।

अव्यक्तव्ययन्त्र निम्नप्रकार हैं— ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयक्रमका बंध
न करके जब कोइ जीव वहाँसे च्युत होकर नवमें गुणस्थानमें आता है और
वहाँ राज्यलन लोभका बंध करता है, तब पहला अव्यक्तव्ययन्त्र होता है।
यदि ग्यारहवें गुणस्थानमें आयुक्त क्षय होजानेके कारण मरणकरके कोइ
जीव अनुत्तरयासी देवामें जन्म लेता है और वहाँ सत्तरह प्रकृतियोंका बंध
करता है तो दूसरा व्यक्तव्ययन्त्र होता है। (इस प्रकार माहनीयक्रममें नी
भूतस्वार, आठ अत्यन्त, दस अवस्थित और दो अव्यक्तव्ययन्त्र होते हैं)।

अब नामकर्मकी प्रकृतियोंमें भूतस्वार आदि बंधाना निरूपण करने हैं—

तिपण्ठअह्णनपहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।

छस्सगअट्ठतिवंधा सेसेसु य ठाणमिषिक्क ॥ २५ ॥

अर्थ—तेइस प्रकृतिरूप, पचीस प्रकृतिरूप, छन्नीस प्रकृतिरूप, अट्ठ

इस प्रवृत्तिरूप, उनतीस प्रवृत्तिरूप, तीस प्रवृत्तिरूप, इस्तीस प्रवृत्तिरूप आर एक प्रवृत्तिरूप, असप्रहार नामरुमके आठ बंधस्थान होते हैं। और उनमें छह भूयस्कारबंध, मात ज्ञानरुबंध, आठ जवरियत बंध और नीन अज्ञानरुबंध हाते हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामरुमके सिवाय दोष पाँच कमोंमें एक एकही बंधस्थान हाता है।

भावार्थ—इस गायामें नामरुमने बंधधानोंको गिनाकर उनमें भूयस्कार आदि बंधोंकी संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा निम्नप्रकार है—

नामरुमका समस्त बंधप्रवृत्तियाँ ६७ हैं, किंतु उनमेंसे एक समयमें एक जागके तेइस पचीस जादि प्रवृत्तियाँ ही बंधनी प्राप्त हाता हैं, अतः नामरुमके बंधस्थान आठ ही होते हैं। अतएव चिन कमोंने बंधस्थान बतग आय है, ये कम जागरिवाही हैं—चौबन आत्मरुगुणा पर हा उनका असर पड़ता है। किंतु नामरुमका बहुभाग पुद्गलरिवाही है, उसका अधिकतर उपयोग जीवोंकी शारीरिक रचनामें हा हाता है, अतः भिन्न भिन्न जीवों की अपेक्षासे एकही बंधस्थानकी अगान्तर प्रवृत्तियोंमें अन्तर पड़ जाता है।

यगचतुष्क, सैबल, कामण, जगुल्लु, निमाण और उपघात नामरुमकी ये नी प्रवृत्तिया भूयश्चिनी हैं, चार गतिके समी जीवोंके आठवें गुणस्थानतक इनका बंध आस्य होता है। इन प्रवृत्तियोंके साथ तियगाति, तियगानुपूर्ती, एवेद्रियचाति, औदारिकरीर, हुडक सम्यान, स्यावर, बादर और सधममेंसे एक तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे एक, अन्यात अस्थिर, अगुम, दुमग, अनादेस, और अयसचिती, इन चौदह प्रवृत्तियोंके मिलानेसे तेइस प्रवृत्तिक बंधस्थान होता है। यह स्थान एवेद्रिय अ पघात सहित बंधता है, अथात् इस स्थानका बंधन जीव भरकर एवेद्रिय अन्यात कायमें ही जम लेता है। इन तेइस प्रवृत्तियोंमें से अन्यात प्रवृत्तियों कमकरके, पयात, उद्धास, आर पयाघात प्रवृत्तियोंके मिलाने से एवेद्रियन्यात सहित पचीसरा स्थान होता है। उनमेंसे स्यावर,

पर्याप्त, एकेन्द्रियजाति, उद्धास और पराधातमो घटाकर, त्रस, अपर्याप्त, द्वीन्द्रियजाति, सेवार्तसहनन और औदारिक अद्भोपाङ्गके मिलानेसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीसका बन्धनमान होता है। उसमें द्वीन्द्रिय जातिके स्थानमें त्रीन्द्रिय जातिसे मिलानेसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीसका स्थान होता है। इसप्रकार त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रियजातिसे स्थानमें पञ्चेन्द्रिय जातिके मिलानेसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीसका स्थान होता है। तथा इसमें त्रियज्ञगतिके स्थानमें मनुष्यगतिके मिलानेसे मनुष्य अपर्याप्तयुत पञ्चीसका स्थान होता है। इस प्रकार पञ्चीसप्रकृतिक बन्धनमान उह प्रकारका होता है और उसके बाधनेवाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तर्तमें जीव द्वीन्द्रियको आदि लेकर सभी अपर्याप्तक त्रियज्ञ और मनुष्योंम जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगतिसहित पञ्चीसप्रकृतिक बन्धनमानमें से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सेवार्तसहनन, और औदारिकअद्भोपाङ्गको घटाकर, स्थावर, पर्याप्त, त्रियज्ञगति, एकेन्द्रियजाति, उद्धास, पराधात, और आतप तथा उन्नोतम से किसी एकके मिलानेसे एकेन्द्रियपर्याप्तयुत पञ्चीस का स्थान होता है। इस स्थानका बन्धक जाव एकेन्द्रियपर्याप्तक कायमें जन्म लेता है।

नौ ध्रुवग्रन्थिनी, त्रस, नादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से एक, शुभ और अशुभम से एक, सुभग, आदेय, यशकीर्ति और अयशकीर्तिमें से एक, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैत्रियशरीर, पहला सस्थान, देवानुपूर्वी, वैत्रियअद्भोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उद्धास और पराधात, इन प्रकृतिरूप देवगति सहित अष्टाहसका बन्धनमान होता है। इस स्थानका बन्धक मरकर देव होता है। तथा, नौ ध्रुवग्रन्थिनी, त्रस, नादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुभग, अनादेय, अयश कीर्ति, नरकगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैत्रियशरीर, दुदक सस्थान, नरकानुपूर्वी,

वैभियभङ्गापाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्तविद्यायोगति, उच्छ्वास, और पराधात, इन प्रकृतिरूप नरकगणियां अट्ठाईसका बधस्थान होता है ।

गौ ध्रुवशशिनी, वस, वादर, पयास, प्रत्यङ्ग, स्थिर या अस्थिर, गुम अथवा अगुम, दुर्भग, आदेय, यश कीर्ति अथवा अयश कीर्ति, त्रिपञ्च-गति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, दुःस्वस्थान, त्रियगानुपूर्वी, सेवार्त-सहनन, औदारिक अङ्गोपाङ्ग, दुःस्वर, अप्रशस्त विद्यायोगति, उच्छ्वास, परा-धात, इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रियपयासयुत उनतीसका बधस्थान होता है । इसमें द्वीन्द्रियक स्थानमें त्रीन्द्रियजातिके मिलानसे त्रिन्द्रियपयासयुत उन-तीसका स्थान होता है । त्रीन्द्रियजातिके स्थानमें चतुरिन्द्रियजातिके मिलानसे चतुरिन्द्रियजातियुत उनतीसका बधस्थान होता है । चतुरिन्द्रियजाति-के स्थानमें पञ्चेन्द्रियजातिके मिलानसे पञ्चन्द्रिययुत उनतीसका बधस्थान होता है । किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विद्यायोगति, इन युग-लौमसे एक एक प्रकृति पड़ती है । तथा, छह सस्थाना और छह सहननाम से तिसा भी एक सस्थान और एक सहननका बध होता है । इसमें तिर्य-ग्गति और त्रियगानुपूर्वीसे घनस्वर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वीके मिलानसे पयासमनुष्यसहित उनतीसका बधस्थान होता है । गौ ध्रुवशशिनी, वस, वादर, पयास, प्रत्यङ्ग, स्थिर या अस्थिर, गुम या अगुम, सुभग, आ-देय, यश कीर्ति या अयश कीर्ति, देवगति, पञ्चेन्द्रियजाति, वैभियशरीर, प्रथम सस्थान, त्रियगानुपूर्वी, वैभिय अङ्गोपाङ्ग, सुस्वर, प्रशस्तविद्यायोगति, उच्छ्वास, पराधात, तायङ्गर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीवङ्गर सहित उनतीसका बधस्थान होता है । इसप्रकार उनतीसप्रकृतिक बधस्थान छह होते हैं, इन स्थानोंका बधक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय नियन्त्राग तथा मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म लेता है ।

द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पयासयुत उनतीसके

चार बन्धस्थानोंमें उद्योत प्रकृतिके मिलानेसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीसके चार बन्धस्थान होते हैं । पर्याप्त मनुष्य-सहित उनतीसके बन्धस्थानमें तीसद्वार प्रकृतिके मिलानेसे मनुष्यगति सहित तीसका बन्धस्थान होता है । देवगति सहित उनतीसके बन्धस्थानमें से तार्थद्वार प्रकृतिको घटाकर आहारकद्विकके मिलानेसे देवगतियुत तीसका बन्धस्थान होता है । इसप्रकार तीसप्रकृतिक बन्धस्थान भी छह होते हैं । देवगति सहित उनतीसके बन्धस्थानमें आहारकद्विकके मिलानेसे देवगति-सहित इक्ष्वांसका बन्धस्थान हाता है । एतत्प्रकृतिक बन्धस्थानमें केवल एक यश कर्ति का ही बन्ध होता है ।

भूयस्कारादिवन्ध—इन बन्धस्थानोंमें छह भूयस्कार, सात अन्यतर, आठ अस्थित और तीन अनक्त बन्ध होते हैं । तेइसका बन्ध करके पचीस का बन्ध करना, पचीसका बन्ध करके छत्तीसका बन्ध करना, छत्तीसका बन्ध करके अट्ठाइसका बन्ध करना, अट्ठाइसका बन्ध करके उनतीसका बन्ध करना, उनतीसका बन्ध करके तीसका बन्ध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बन्ध करके इक्ष्वांसका बन्ध करना, इसप्रकार छह भूयस्कार बन्ध होते हैं । नवें गुणस्थानमें एक यश कीर्ति का बन्ध करके, बहासे च्युत होकर, आठवें गुणस्थानमें जब कोई जीव तीस अथवा इक्ष्वांसका बन्ध करता है, तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता, क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इक्ष्वांसका ही बन्ध करता है और यही बन्ध पाचवें और उठे भूयस्कारनाम भी होता है अतः इसे पृथक् नहीं गिना है । इसप्रकार भूयस्कारबन्ध छह होते हैं ।

१ कर्मप्रकृतिके सत्त्वाधिकार की गाथा ५२ की टीकामें उपाध्याय यशो विनयजीने कर्मोंके बन्धस्थानों तथा उनमें भूयस्कारादिवन्धों का वर्णन किया है । नामकर्म के बन्धस्थानमें छह भूयस्कारबन्धों को बतलाकर, सानवें भूयस्कारके सम्बन्धमें उन्होंने एक मतका उल्लेख करके, उसका समाधान करते हुए जो चर्चा की है उसका कारण निम्नप्रकार है—

अथ अल्पतर बंध बतलाते हैं ।

अपृणकरण गुणस्थानम देवगतिने याग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बंध करके एकप्रवृत्तिक बंधस्थानना बंध करनेपर पहला अल्पतर होता है । आहारसद्विक और तीयङ्करसन्ति इत्यतीसका बंध करके जा जीव देवलाक में उत्पन्न होता है, वह प्रथम समयमें ही मनुष्यगतियुक्त तीस प्रवृत्तियों का बंध करता है । यह दूसरा अल्पतरबंध है । वही जीव स्वर्गसंस्थित होकर, मनुष्यगतिम जन्म लेकर जन्म देवगतिके याग्य तीयङ्करसहित उनतीस प्रवृत्तियों का बंध करता है, तब तीसरा अल्पतरबंध होता है । जन्म फोड़

शङ्का—एक प्रवृत्तिका बंध करके इकतीसका बंध करनेपर सातवां भूयस्कारबंध भी होता है । शास्त्रान्तरमें भी सात भूयस्कार बतलाये हैं । जैसा कि शतकचूर्णिमें लिखा है—'एकामो वि षडतीस जाइ सि मुभो गारा सत्त ।' अर्थात् एकको बांधकर इकतीसका बंध करता है, अतः सात भूयस्कार होते हैं ।

उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि अट्टाईस आदि बंधस्थानोंके भूयस्कारोंको बतलाते हुए इकतीसके बंधरूप भूयस्कारका पहले ही ग्रहण कर लिया है । अतः एक की अपेक्षासे उसे पृथक् नहीं गिना जा सकता । यहाँ भिन्न भिन्न बंधस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेदोंकी विवक्षा नहीं की है । ऐसा होनेपर बहुतसे भूयस्कार हो जायेंगे । जैसे कभी अट्टाईसका बंध करके इकतीसका बंध करता है कभी उनतीसका बंध करके इकतीसका बंध करता है और कभी एकका बंध करके इकतीसका बंध करता है । तथा कभी तेइसका बंध करके अट्टाईसका बंध करता है और कभी पचीसका बंध करके अट्टाईसका बंध करता है । इस प्रकार सातसे भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते हैं । किन्तु यहाँ यह दृष्ट नहीं है । अतः भिन्न २ बंध स्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कारके भेद नहीं बतलाये हैं ।

तिर्यञ्च या मनुष्य तिर्यग्गतिके योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियाका बध करके, विगुह परिणामोंके कारण देवगतिके योग्य अष्टादसका बध करता है, तब चौथा अल्पतरन्ध होता है । अष्टादसप्रकृतिक बधस्थानका बध करके, सबलेश परिणामोंके कारण जल कोट जीव एकेन्द्रियके योग्य छत्तीस प्रकृतियोंका बध करता है, तब पाचवाँ अल्पतरन्ध होता है । छत्तीसका बध करके पक्षीसका बध करने पर छठा अल्पतरन्ध होता है । तथा, पक्षीसका बध करके तेजसका बध करने पर सातवाँ अल्पतरन्ध होता है । इसप्रकार सात अल्पतरन्ध होते हैं । तथा, आठ बधस्थानोंकी अपेक्षासे आठही अल्पस्थितान्ध होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें नामरुमनी एक भी प्रकृतिको न बाधकर, वहाँ से च्युत होकर, जल कोट जीव एक प्रकृतिका बध करता है तो पहला अनक्तव्य बध होता है । तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें भरण करके कोट जल अनुत्तरी में जल लेकर यदि मनुष्यगतिके योग्य तीसरा बध करता है तो दूसरा अवक्तव्यबध होता है । और यदि मनुष्यगतिके योग्य उनतीसका बध करता है तो तीसरा अनक्तव्यबध होता है । इसप्रकार तीन अनक्तव्यबध होते हैं ।

इसप्रकार उक्त गाथाके तीन वर्णोंके द्वारा नामरुमके बधस्थानों

१ कर्मकाण्डमें गा० ५६५स ५८२ तक नामरुमके भूयस्कार आदि बधोंकी विस्तारसे चर्चाकी है । उसमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भूयस्कार आदि बध बतलाये हैं । और नितने प्रकृतिक स्थानको बाधकर नितने प्रकृतिक स्थानोंका बन्ध समझ है, तथा उन उन स्थानोंके जितने भङ्ग हो सकते हैं, उन सबको अपेक्षासे भूयस्कार आदिको बतलाया है, जैसा कि मोहनीय कर्ममें बतला आये हैं । किन्तु उसमें दर्शनावरण, मोहनीय और नामरुमके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें अवस्थित और अवक्तव्यबधोंको नहीं बतलाया है ।

और उनमें भूयस्कार आदि बधाका निदश करके शेषकर्मोंके ग्रन्थस्थानोंको बतलाते हुए प्रथम करने लिया है कि दानानरण, मोहनीय और नामकर्मके सिवाय शेष पाँच कर्मोंमें एक एकहा ग्रन्थस्थान होता है । क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचा प्रकृतियाँ एक साथ ही बधती हैं और एक साथ ही हटती हैं । तथा, वेदनीयकर्म, आयुर्कर्म और गोत्रकर्मकी उत्तर-प्रकृतियोंमें से भा एक समयमें एक एक प्रकृतिना ही बध हाता है । इससे इन कर्मोंमें भूयस्कार आदि ग्रन्थ नहीं होते हैं, क्योंकि जहाँ एकहा प्रकृतिना बध हाता है, वहाँ यादी प्रकृतियोंका बाँधकर अधिक्ता बाँधना अथवा अधिक्ता बाँधकर कमका बाँधना कैसे समझ हा सकता है ? किन्तु वेदनीयके सिवाय शेष चारकर्मोंमें अवक्तव्यग्रन्थ और अवस्थितग्रन्थ हाते हैं । क्योंकि, ग्यारहवें गुणस्थानमें ज्ञानानरण, अन्तराय और गान कर्मका बध न करक जत्र काइ जाव यहाँसे श्रुत होता है आर नीचेके गुणस्थानमें आकर पुन उन कर्मोंका बध करता है, तत्र प्रथम समयमें अवक्तव्यग्रन्थ हाता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थितग्रन्थ होता है । तथा निभाग में जत्र आयुर्कर्मका बध हाता है, तत्र प्रथमसमयमें अवक्तव्यग्रन्थ हाता है और द्वितीय आदि समयोंमें अवस्थितग्रन्थ होता है । किन्तु वेदनीयकर्ममें केवल अवस्थित ही ग्रन्थ हाता है, अवक्तव्यग्रन्थ नहीं हाता, क्योंकि वेदनीय कर्मका अग्रध अयागरेवगुणस्थानमें हाता है, किन्तु महासे गिरकर जात्र नीचे नहा आता, जत उसका पुन बध नहीं हाता ।

१८. स्थितिवन्धद्वार

प्रकृतित्रयका वर्णन करके अब स्थितित्रयका वर्णन करते हैं। सबसे प्रथम मूलमूर्तकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

वीसपरकोटिकोटी नामे गोए य सत्तरी मोहे ।

तीसपर चउसु उदही निरयसुराउमि तिचीसा ॥२६॥

अर्थ—नाम और गोरकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटी सागरप्रमाण है। मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटी सागरप्रमाण है। ज्ञाना-वरण, दशनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटी सागरप्रमाण है। नरनायु और देवानुकी उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

भावार्थ—इस गाथासे बंधके दूसरे भेद स्थितित्रयका कथन प्रारम्भ होता है। बंध हाजाने पर जो कम जितने समय तक आत्माके साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिमाल कहलाता है। यथेवात् कर्मोंमें इस स्थिति-मालकी मयादाके पड़नेको ही स्थितित्रय कहते हैं। स्थिति दो प्रकारकी होती है—एक उत्कृष्टस्थिति और दूसरी जगदस्थिति। इस गाथामें मूल-प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाइ है। यह स्थिति इतनी अधिप है कि सख्या-प्रमाणके द्वारा उसका बतलाना अशक्यता है अतः उसे उपमाप्रमाणके द्वारा बतलाया गया है। उपमाप्रमाणका ही एक भेद सागरोपम है और

१ प्रकृतिवन्धका निरूपण करनेके पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन करना चाहिये था। किन्तु लघुकर्मस्तवकी टीकामें तथा बन्धस्यामित्वकी टीकामें उसका विस्तारसे वर्णन किया है, अतः उसे यहाँसे जान लेना चाहिये। ऐसा इस कर्ममन्थकी स्वोपज्ञ टीकामें किया है। देखो, पृ० २६।

२—सिय स० पु० ।

३ सागरोपमके स्वरूपको जानने लिये ८५वीं गाथा देखें।

एक करोड़ को एक करोड़सं गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक काण्डिकोटी कहते हैं । इन काण्डिकोणि सागरसं कर्मोंकी उत्पत्तिस्थिति बतलाइ है । आठकर्मोंमें केवल एक आयुर्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति कोण्डिकोटी सागरोंमें नहीं होता । यद्यपि साधामें मूलकर्मोंकी ही उत्पत्तिस्थिति बतलाइ है, किन्तु आयुर्मकी उत्पत्तिस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदा नरनायु और देवानुकी उत्पत्तिस्थिति बतलाइ है । इसका कारण यह है कि मूल आयुर्मकी जा उत्पत्तिस्थिति है, वहा स्थिति नरनायु और देवानुकी भी है, अतः प्राथमिकरूपके भयसे मूल आयुर्मको उत्पत्तिस्थितिको अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसकी भी स्थिति बतला दी गई है । कर्मोंकी इस सुदीप्त स्थितिसे यह स्पष्ट है कि एक भयका घोंघा हुआ कर्म अनेक भयानक बना रहस्यता है ।

अब मूलकर्मोंकी जनय स्थिति बतलाते हैं—

मुंचु अकसायठिइ चार मुहुत्ता जहश्च वेयणिए ।

अट्ट ढ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्ततो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकपाय जीवांकी स्थिति का छद्मकर, वेदनीय कर्मकी शरह

१ इतर दर्शनोंमें कर्मों की स्थिति तो देखनमें नहीं आइ किन्तु कर्मके दो भेद किये हैं—एक वह कर्म जो उसी भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है । यथा “सुखवेदनीयादि कर्म द्विविध, निधत्तमनि यत्तम् । त्रिधा नियतम्—इष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्याय वेदनीयम् ।” अभि० व्या० पृ० १०३ । “कृतमूल कमाशयो एतारष्ट ज-मवेदनीय ।’ योगद० २-१२ ।

२ पञ्चसङ्ग्रहमें भी लिखा है—

‘ मोत्तुमरुत्ताइ तणुवी ठिइ वेयणियस्स चारस मुहुत्ता ।

अट्ट ढ नामगोयाण, सेसयाण मुहुत्ततो ॥ २३९ ॥”

मुहुत, नाम और गोत्रकर्मकी आठ मुहुत तथा शेष पाच कर्मोंकी अन्तर्मुहुत प्रमाण ज्ञान स्थिति होती है ।

भावार्थ—स्थितिप्रपञ्च मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसमें गुणस्थान तक ही होता है । अतः दसमें गुणस्थान तकके जीव स्रग्पाय और उपशातमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली तथा अयोगकेवली अरुपाय बड़े जाते हैं । आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनाय कर्म ही ऐसा है जो अरुपाय जीवाके भी बधना है, शेष सातकर्म केवल स्रग्पाय जीवाके ही बधते हैं । अतः स्थितिप्रपञ्च कारण कषाय है, अतः अरुपाय जीवाके जो वेदनीय कर्म बधना है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका प्रथम होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निजरा हो जाती है । इसीलिय प्रपञ्चकारने 'मुक्तु अकसायठिह' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहापर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाइ गई है, वह स्रग्पाय वेदनीयकी ही बतलाइ गई है, अरुपाय वेदनीयकी नहीं बतलाइ गई है ॥

मूलप्रवृत्तियोंकी स्थितियों बतलाकर, अब उत्तरप्रवृत्तियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

निग्धावरणअसाए तीसं अहार सुहुमविगलतिगे ।

पदमागिडमघयणे दस दसुवरिमेसु दुगबुद्धी ॥ २८ ॥

अर्थ—पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दशावरण और असात-वेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटिकोटी सागर प्रमाण है । सूक्ष्मत्रिक अथात् सूक्ष्म, अपयान्त और साधारण नामकर्मकी, तथा त्रिकल्त्रिक अथात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अष्टादश कोटिकाटि सागर प्रमाण है । तथा, प्रथम सस्थान और प्रथम सहननकी उत्कृष्ट स्थिति दस दस कोटिकोटी सागर है और आगेके प्रत्येक सस्थान और प्रत्येक सहननकी स्थितिमें दो दो सागरकी वृद्धि होनी आती है । अथात्

एक करोड़ को एक करोड़से गुणा करनेपर जो महाराशि आती है उसे एक काणिकाटि कहते हैं । इन काणिकोटि सागरोंमें कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाइ है । आठकर्मोंमें केवल एक आयुस्म ही ऐसा है जिसकी स्थिति काणिकोटि सागरोंमें नही होता । यद्यपि गायाम मूत्रकर्मोंकी ही उत्कृष्टस्थिति बतलाइ है, किन्तु आयुस्मकी उत्कृष्टस्थिति न बतलाकर उसके दो भेदों नरनाय और देवायुसी उत्कृष्टस्थिति बतलाइ है । इसका कारण यह है कि मूल आयुस्मकी जो उत्कृष्टस्थिति है, वही स्थिति नरनाय और देवायुसी भी है, जत प्रयगौरवके भयमे मूत्र आयुस्मकी उत्कृष्टस्थितिसे अलग न बतलाकर उसकी दो उत्तर प्रकृतियोंके द्वारा ही उसका भी स्थिति बतला दी गई है । कर्मोंकी इस मुदीन स्थितिले यह स्पष्ट है कि एक भवना बाँधा हुआ कैम अनेक भगवतक बना रहसक्ता है ।

अन मूलकर्मोंकी जघन स्थिति बतलाते हैं—

मुत्तु अकसायठिइ चार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए ।

अट्ट ढ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्ततो ॥ २७ ॥

अर्थ—अकसाय जीवाका स्थिति का छोड़कर, वेदनीय कर्मकी चारह

१ इतर दर्शनोंमें कर्मोंकी स्थिति तो देखनेमें नही आइ किन्तु कर्मक दो भेद किये हैं—एक ॥ कर्म जो उत्ती भवमें फल देता है, दूसरा वह जो आगामी भवोंमें फल देता है । यथा “सुखवेदनीयादि कर्म द्विविध नियतमनि यतम् । त्रिधा नियतम्—दृष्टमवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्याय वेदनीयम् ।” भूमि० व्या० पृ० १०३ । “कृशमूल कमाशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीय ।” योगद० २-१२ ।

२ पञ्चमद्वहमें भी लिखा है—

‘ मोत्तुमकसाइ वणुपी मिइ वेयणियस्स चारस मुहुत्ता ।

अट्ट ढ नामगोयाण, सेसयाण मुहुत्ततो ॥ २३९ ॥’

मुहुत, नाम और गोत्रकर्मकी जाठ मुहूर्त तथा शेष पाच कर्मोंकी अन्तमुहूर्त प्रमाण जगय स्थिति होती है।


भावार्थ—स्थितिवन्धना मुख्यकारण कषाय है, और कषायका उदय दसव गुणस्थान तक ही होता है। अतः दसवें गुणस्थान तकके जीव सञ्जाय और उपजातमोह, क्षीणमोह, सयोगवेधनी तथा अयोगनेत्रली अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मोंमेंसे एक वेदनाय कर्म ही ऐसा है जो अकषाय जीवोंके भी बधता है, शेष सातकर्म केवल सञ्जाय जीवोंके ही बधते हैं। यतः स्थितिवन्धना कारण कषाय है, अतः अकषाय जीवोंके जो वेदनीय कर्म बधता है, उसकी केवल दो ही समयकी स्थिति होती है, पहले समयमें उसका उदय होता है और दूसरे समयमें उसका वेदन होकर निजरा हो जाती है। इसीलिये प्रत्येककारने 'मुक्तु गकसायठिइ' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि कदाकर वेदनीयकी जो स्थिति बतलाइ गई है, वह सञ्जाय वेदनीयकी ही बतलाइ गई है, अकषाय वेदनीयकी नहीं बतलाइ गई है ॥

मूलप्रवृत्तियोंकी स्थितिको बतलाकर, उन उत्तरप्रवृत्तियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाते हैं—

विग्धावरणजमाए तीस अठार सुहृमनिगलतिगे ।

पढमागिइसधयणे दस दसुनरिमेसु दुगजुही ॥ २८ ॥

अर्थ—गौच अतराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दग्धावरण और असात-वेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति तीस काटिकोटि सागर प्रमाण है। सूत्रमयिक अथात् सुख, अपमान और साधारण नामकर्मकी, तथा विकल्पीक अथात् द्वि-द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति अठारह काटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा, मयमर और

स्थिति दस दस  है और आगेके मरु-
तो सागरकी वृद्धि होती

दूसरे सस्थान और दूसरे सहननकी उत्कृष्टस्थिति बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । तीसरे स्थान और तीसरे सहननकी स्थिति चौदह कोटिकाटि सागर प्रमाण है । इसी प्रकार चौथेकी सालह, पाँचवेकी अष्टागह और छठेकी बीस काटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति जाननी चाहिये ।

भावार्थ—इस गायामकुछ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति बतगाह है । असलमें उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिसे मूल प्रकृतियोंकी स्थिति कोई तुदी नहीं जाती । किन्तु उत्तर प्रकृतियोंकी स्थितिसे ज्ञात स्थिति उससे अधिक होता है, वही मूल प्रकृति की उत्कृष्टस्थिति मान ली गई है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कमकी उत्तर प्रकृतियोंकी भी उतनी ही स्थिति है, जितनी मूल कर्मोंकी जगह आय है । किन्तु नामरूपकी उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति अधिक विषमता पाई जाती है । उदाहरणके लिये सस्थान और सहनन को ही ले लीजिये । प्रथम सस्थान और सहनन की उत्कृष्टस्थिति दस काटिकाटि सागर है और ऊपरके प्रत्येक सस्थान और प्रत्येक सहननकी स्थितिमें दो काटिकोटि सागरकी वृद्धि होते होते, अन्तिम सस्थान और अन्तिम सहननकी स्थिति तीस काटिकोटि सागर हो जाती है । इस विषमताका कारण है कषायकी हीनाधिस्ता । जब जीवने भाव अधिक संकल्पित होते हैं, तो स्थितिबन्ध भी अधिक होता है और जब कम संकल्पित होते हैं तो स्थितिबन्ध भी कम होता है । इसीलिये जितनी भी प्रगल्भ प्रकृतियों हैं, प्रायः सभीकी स्थिति अग्रशस्त प्रकृतियोंकी स्थितिसे कम होती है, क्योंकि उनका बन्ध प्रगल्भ परिणाम वाले जीवके ही होता है ॥

चालीस कमाणसु मिउलहुनिदुण्हसुरहिसियमदुरे ।

दम दोसडुममहिया ते हालिदुनिलार्डण ॥ २९ ॥

अर्थ—अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सालह कषायोंकी उत्कृष्ट स्थिति

चालीस काटिकोटि सागर प्रमाण है । मृदुस्पर्श, लघुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श, सुरभिगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुररस, नामरसकी इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है । आगेके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रसकी स्थिति अट्ठाई कोटिकोटि सागर अधिक अधिक जाननी चाहिये । अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नामरसकी उत्कृष्टस्थिति साढ़े बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । लालवर्ण और कषायरस नामरसकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकाटि सागर प्रमाण है । नीलवर्ण और कटुकरस नामरसकी उत्कृष्टस्थिति साढ़े सतरह कोटिकोटि सागर प्रमाण है । और कृष्णवर्ण और तिक्तकरसकी उत्कृष्टस्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है ।

दस सुहृद्बिहगडउच्चे सुरदुग धिरलक्क पुरिमरडहासे ।

मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रशस्तनिहायोगति, उच्चगोन, सुरद्विक, स्थिर आदि छह अर्थात् स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश कीर्ति, पुरुषवेद, रति और हास्य प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति दस कोटिकाटि सागर प्रमाण है । मिथ्यात्वमाहनीयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर काटिकोटि सागर प्रमाण है । और मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, स्त्रीवेद, और सातवेदनीयकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है ।

भय-कुच्छ-अरड-सोए विउन्वि-तिरि-उरल-निरयदुग-नीए ।

तेयपण अथिरलक्के तसचउ-थावर-इग-पणिंदी ॥ ३१ ॥

नपु-कुखगड-सासचउ-गुरु-कमखड-रुक्ख-सीय-दुग्गधे ।

१ कर्मप्रकृति बगैरहमें वर्णचतुष्कके अवांतर भेदोंकी स्थिति नहीं बतलाई है, किन्तु पञ्चसमूहमें बतलाई है । यथा—

“सुक्किलसुरभीमदुराण दस उ तह सुभ चउण्ह पासाण ।

अट्ठाइउपपुट्ठी, अविलहाळिहपुब्बाण ॥ २४० ॥”

वसि कोडाकोडी एवह्यावाह वाससया ॥ ३२ ॥

अर्थ—भय, जुगुप्सा, अरुणि, शारु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अङ्गोनाङ्ग, तियगति, तियगानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक अङ्गोनाङ्ग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, मोचगान, तैजसशरीर आदि पाँच, अथात् तैजस शरीर, कामगशरीर, अगुरुच्छयु, निमाण और उपधात, अरियर आदि छह, अर्थात् अरियर, अगुम, दुभग, दुम्बर, अनादेय, और अयश कीर्ति, प्रसन्नतुष्क—प्रस, नादर, पयात और प्रत्यर, स्थारर, एषद्विजजाति, पंचेद्विजजाति, नपुसकनेद, अप्रशस्तविहायोगति, उष्वासचतुष्क अथात् उष्वास, उद्यात, आतन और पराधात, गुरु, कठोर, रुक्ष, शीत, दुग्ध, इन बयालीस प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति जोस कोटिकोति सागर प्रमाण है । जिस कमनी जितने फाटिकाति सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति रहलाइ है, उस कमकी उतने ही सौ वय प्रमाण आयाथा जानना चाहिये ।

भावार्थ—उत्तर प्रकृतियामें उत्कृष्टस्थिति बचन निरूपण करते हुए, उत्तगाथाके अंतमें उनकी अत्राधाकालका प्रमाण भी बतला दिया है । बचनेके बाद जन्तु कम उदयमें नहीं आता, तब तकका काल अत्राधाकाल कहा जाता है । कमों की उपमा भादक द्रव्यसे दी जाती है । मदिराके समान आत्मापर असर डालनेवाले कमनी जितनाही अधिक स्थिति होती है उतने ही अधिक समय तक वह कम बचनेके बाद बिना फल दिये हो आत्मामें पड़ा रहता है । उसे ही अत्राधाकाल कहते हैं । उस कालमें ही कम निगारके उभुल होता है और अत्राधाकाल धीतरेपर अपना पछ देना उद्य कर देता है । इससे ग्रन्थकारने कमों का अत्राधाकाल उनकी स्थितिक

१ पञ्चसप्रहमें भी ठिखा है—

“दय सेसाण धीसा एवह्यावाह वाससया ॥ २४३ ॥”

२ दिगम्बर परम्परामें इस आयाथा कहते हैं ।

अनुपातसे बतलाते हुए कहा है कि जिस कर्मकी जितने कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति होती है, उस कर्मकी उतने ही सौ वष प्रमाण उत्कृष्ट अनाधा होती है । इसका आशय यह है कि एक कोटिकोटि सागरकी स्थितिमें सौ वषका अनाधाकाल होता है । अर्थात् आज एक कोटिकोटि सागरकी स्थिति को लेकर जा कर्म प्राधा है, वह आजसे सौ वषके बाद उदयमें आवेगा और तत्पश्चात् उदयमें आता रहेगा जबतक एक कोटिकोटि सागर प्रमाणकाल समाप्त न होगा । कहनेका सारांश यह है कि ऊपर कर्मोंकी जा उत्कृष्टस्थिति बतलाइ है तथा आगे भी बतलावेंगे उस स्थितिमें अनाधाकाल भी सम्मिलित है । इसीसे शास्त्रकाराने स्थितिके दो भेद किये हैं—एक कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति अर्थात् जन्मके बाद जबतक कर्म आत्माके साथ ठहरता है, उतने कालका परिमाण, और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् अनाधाकाल-रहित स्थिति । यद्वा पहली ही स्थिति मतलाइ गई है । दूसरी स्थिति जाननेके लिये पहली स्थितिमसे अनाधाकाल कमकर देना चाहिये । जो इस प्रकार है—

पाच अंतराय, पाच शानावरण, असातवेदनीय और नौ दक्षिणावरण कर्मोंम से प्रत्येक कर्मकी स्थिति तीस कोटिकोटि सागर है और एक कोटिकोटि सागर की स्थितिमें एकसौ वष अनाधाकाल होता है, अतः उनका अनाधाकाल $30 \times 100 =$ तीन हजार वष जानना चाहिये । इसी अनुपातके अनुसार सूक्ष्मद्रिक और विकल्पिकका अनाधाकाल अष्टारहसौ वष, समचतुरस्र-संस्थान और वज्रशृङ्गमनाराचसहननका अनाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और शृङ्गमनाराचसहननका अनाधाकाल बारह सौ वष, स्थानिसंस्थान और नाराचना अनाधाकाल चौदहसौ वष, कुब्ज-

१ “इह द्विधा स्थिति — कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम् । अनुभवयोग्या पुनरनाधाकालहीना ।” कर्मप्र० मलय० टी० पृ० १६३ ।

सस्थान और अधनाराचका अनाधानाल सालह सौ वष, वामनसस्थान और कीलकसहननका अनाधानाल अष्टारह सौ वष, हुडसस्थान और सेनातसहननका दस हजार वष, सालह कपायोंका चार हजार वष, मूल, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगन्ध, श्वेतगुण और मधुर रसका एक हजार वष, हरितवर्ण और आम्ररसका साढ़े बारहसौ वष, शालवर्ण और कपायरसका पंद्रह सौ वष, नीलवर्ण और कटुकरसका साढ़े सतरहसौ वष, कृष्णवर्ण और तिक्त रसका दस हजार वष, प्रशस्त विहायोगति, उष्णगोन, मुरद्विक् स्थिरपक्व, पुरुषवेद, हास्य और रतिना एक हजार वष, मिथ्यात्वका सात हजार वष, मनुष्यद्विक्, स्त्रीवेद और सातवेदीयका पंद्रहसौ वष, भय, पुगुप्सा, अरति, शोक, वैत्रियद्विक्, तियग्विक्, औदारिकद्विक्, नरकद्विक्, नीचगोन, तैजस-पद्धत, अस्थिरपक्व, असंचतुक्, स्यावर, एकेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, उष्णसंचतुक्, शुक, कन्ध, रुध, शीत और दुर्गन्ध का अनाधानाल दस हजार वष जानना चाहिये ॥

गुरु कोडिकोडिअतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु ग्राहा ।

लहुठिइ सखगुण्णा नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥३३॥

अर्थ—तापङ्करनाम और आहारकद्विक्की उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोगी-कागी सागर है, और अनाधानाल अन्तमुहूत है । तथा, उनकी जघन्यस्थिति सख्यातगुणी हीन है । अथात् तीक्ष्णकरनाम और आहारकद्विक्की जितना उत्कृष्टस्थिति है, सख्यातगुणी हान वही स्थिति उनकी जघन्यस्थिति जाननी चाहिये । मनुष्यायु और त्रियञ्चायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य है ।

भावार्थ—इस गद्याके तान चरणाम तापङ्करनामकम और आहारक-द्विक्की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा अनाधा बतलाइ है । यद्यपि अभी जघन्यस्थिति बतलानेका प्रकरण नहीं आया था, तयारि ॥ यगौरके भयसे इन तीनों प्रग्तियाकी जघन्यस्थिति भी बतलादी है । इन तीनों प्रग्तियों-

की दोना ही स्थिति सामान्यसे अन्त कोटीकोटी सागरप्रमाण हैं निम्नु उत्कृष्ट स्थितिसे जगन्मस्थितिमा परिमाण सख्यातगुणाहीन अथात् सख्यातवै भाग प्रमाण है । तथा उनही उत्कृष्ट और जगन्म अवाधा भी अन्तमुद्भूतमान ही है । निम्नु स्थिति हीनी तरह उत्कृष्ट अवाधासे जगन्म अवाधा भी सख्यातगुणी हीन है । इसप्रकार उक्त तीनों कर्मोंकी स्थिति अन्त कोटीकोटीसागर और अवाधा अन्तमुद्भूत जाननी चाहिये । यहा एक बात जतना देना आवश्यक है, यह यह कि शरीरोंकी स्थिति बतलाते हुए उनके अङ्गोद्भूत नामकर्मकी ता स्थिति बतलादी है, निम्नु जगन्म संघात बगैरहकी स्थिति नहीं बतलाइ है, अत जिस शरीरनामकी जिनकी स्थिति है उसके जगन्म नामकर्म और संघात नामकर्म की भी उतनी ही स्थिति समझनी चाहिये । इससे दृष्टे

१ कुछ कम कोटीकोटीको अन्त कोटीकोटी कहते हैं । जिससे आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी उत्कृष्ट और जगन्म स्थिति कोटीकोटीमागरसे कुछ कम है, तथा अवाधा अन्तमुद्भूत है । कर्मकाण्ड गा० १५७ की भाषाटीकामें ५० टोडरमलजीने आवाधाके आधारपर इस अन्त कोटीकोटीका प्रमाण निकाला है । जिसका भाव यह है कि एक कोटीकोटी सागरकी स्थिति की आवाधा सौ वष होती है । सौ वषके स्थूलरूपसे दस लाख अस्सी हजार मुद्गर्त होते हैं । जब इतने मुद्गर्त आवाधा एक कोटीकोटी सागरकी स्थिति की होती है तो एक मुद्गर्त आवाधा कितनी स्थितिकी होती है ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर एक कोटीकोटीमें दस लाख अस्सी हजार मुद्गर्तका भाग देनेसे नौ करोड़ पन्ध्रस लाख, मानने हजार पाँचसौ धानके तथा एकके एन्सी आठ भागोंमें से चौसठ भाग लब्ध आता है— (९२५९२५९२५०८) । इतने सागरप्रमाणस्थितिकी एक मुद्गर्त आवाधा होती है, या यू कहिये कि एक मुद्गर्त आवाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की होती है । इसी हिसाबसे अन्तमुद्गर्तप्रमाण आवाधावाले कमकी स्थिति जानलेनी चाहिये ।

में शरीरके साथ साथ उसके सब भेद प्रभेदोंको भी गिनाए उन सबको यही स्थिति बतलाइ है, जो भू-शरीर नामरूपकी स्थिति है ।

शका—यदि तीर्थङ्करनाम कर्मकी जघन्यस्थिति भी अन्त कोटीकोटी-सागर है, तो तीर्थङ्कर प्रकृतिनी सत्तावाला जीव तियज्जगतिमें जाय बिना नहीं रह सकेगा, क्योंकि तियज्जगतिम भ्रमण क्रिय बिना इतना लम्बी स्थिति पूरा नहीं हो सकती । किन्तु तियज्जगतिम जावाके तीर्थङ्करनाम कर्मकी सत्ता का निषेध किया है अत इतना काल कहा पूरा करेगा ॥ तथा, तीर्थङ्करके भ्रमणे पूरके तीसरे भ्रमण तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध होना बतलाया है । अन्त - कोटीकोटी सागरकी स्थितिम यह भी कैसे बन सकती है ?

१ पञ्चसङ्ग्रह (गा० ८०) और सवायसिद्धिमें (पृ० ३८) पञ्चन्द्रियपर्यायका काल कुछ अधिक एक हजार सागर और असंख्यका काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है । इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पञ्चद्रिय पर्यायमें जन्म ले सकता है और न लगातार अस ही हो सकता है । अत अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिका बन्ध करके जीव इतने कालको केवल नारक, मनुष्य और देव पर्यायमें ही जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता । उसे तिर्यग्जगतिमें जरूर जाना पड़गा ।

२ 'ज, यज्जई स तु भगवभो उह्यमयोसकइत्ताण ॥ १८० ॥'
आय० नि० ।

१ पञ्चसमग्र में तीर्थङ्कर प्रकृतिकी स्थिति बतलाते हुए लिखा है—

‘अतो कोटीकोटी तिययरहाहार ताए सत्ताभो ।

तेतीस पलिय सख निकाइयाण तु उक्कोसा ॥ २४९ ॥

अतो कोटीकोटी, टिइणवि कह न होइ तिययरे ।

सत कित्तियकाल तिरिओ अह होइ उ विरोदो ॥ २५० ॥

जमिह निकाइयतिय तिरियमवे उ निसेहिय सस ।

इयरमि नयि दोसो उअट्ठणुवट्ठणासमे ॥ २५१ ॥’

उत्तर-तियञ्च गतिम जो तीर्थङ्कर नामकर्मकी सत्ताका निषेध किया है वह निराचित तीर्थङ्कर नामकर्मकी अपेक्षासे किया है। अर्थात् जो तीर्थङ्कर नामकर्म अत्यन्त अनुभवमें आता है, उसीका तियञ्चगतिमें अभाव बतलाया है। किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थङ्करप्रवृत्तिके अस्तित्वका निषेध तिर्यञ्चगतिमें नहीं किया है। इसी प्रकार

अर्थात्-तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की उत्कृष्टस्थिति अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण है। यह स्थिति अनिकाचित तीर्थङ्कर और आहारकद्विक की बतलाई है। निराचित तीर्थङ्करनाम और आहारकद्विक की स्थिति तो अन्त कोटिकोटी सागरके सख्यातवें भागमें लेकर तीर्थङ्करकी तो कुछ कम दो पूर्व-कोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विक की पक्षके अग्न्यातवें भाग है। दाहा-अन्त कोटिकोटी सागरकी स्थितिवाले तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए भी जीव कबतक तिर्यञ्च न होगा? यदि होगा तो आगमविरोध आता है। उत्तर-जो निराचित तीर्थङ्कर कर्म है आगम में, तिर्यञ्चगति में उसीकी सत्ताका निषेध किया है। जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस अनिकाचित तीर्थङ्कर नामकर्मके तिर्यञ्चगति में रहनेपर भी कोई दोष नहीं है।

१ श्री जिभद्रगणि क्षमाधमणने अपनी विशेषणवर्तीमें इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

“कोटाकोटी भयरोवमाण तिर्य्ययरणामकम्मटिह् ।

यज्जह् य तवणतरभवम्मि तइयम्मि निहिह् ॥ ७८ ॥

सट्ठिह्मोसकेउ तइयमवो भइव जीवससारो ।

तिर्य्ययरमवा-नो वा ओसकेउ भवे तइण् ॥ ७९ ॥

ज यज्जह्ति भणिय तय निहाहज्ज इत्ति णियमोय ।

तदवमज्ज नियमा भयणा अणिकाह्वावरथे ॥ ८० ॥”

अर्थात्-तीर्थङ्कर नामकर्मकी स्थिति कोटिकोटिसागर प्रमाण है, और तीर्थङ्करके सबसे पहलेके तीमरे भवमें उसका बन्ध होता है। इसका आशय

तीर्थद्वारके भवसे पूर्वक तीसरे भवम जो तीर्थद्वारप्रकृतिसे बन्धका कथन है वह भी निश्चित तीर्थद्वारप्रकृतिसे अपेक्षासे ही है । जो तीर्थद्वार प्रकृति निश्चित नहीं है, अर्थात् निसम उद्धतन और अपवर्तन ही सफता है वह तीन भवसे भी पहले बंध सकती है ।

नरकायु और देवायुसी उत्कृष्टस्थिति पहले उतला आय वे, यहा मनुष्यायु और तिरश्चायुकी उत्कृष्टस्थिति बनलाह है ।।

इगचिगलपुव्वकोडिं पलियासखस आउचउ अमणा ।

निरुक्कमाण उमासा जनाह सेसाण भवत्तो ॥ ३४ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय और त्रिकेन्द्रिय जाव आयुक्रमसी उत्कृष्टस्थिति एक
यह है कि तीसरे भवमें उद्धर्तन अपवर्तनके द्वारा उस स्थितिको तीन भवोंके योग्य करलिया जाता है । अर्थात् तीन भवोंमें से कोटिकोटि सागर की स्थिति पूर्ण नहीं होसकती अत अपवर्तनकरणके द्वारा उस स्थितिसे हास करदिया जाता है । शास्त्रकारोंने तीसरे भवमें जो तीर्थद्वार प्रकृतिके बन्धका विधान किया है, वह निश्चित तीर्थद्वार प्रकृतिके लिये है, निश्चित प्रकृति अपना पत्र अवश्य देती है । किन्तु अनिश्चित तीर्थद्वार प्रकृतिके लिये कोई नियम नहीं है, वह तीसरे भवम पहले भी बंध सकती है ।

१ जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लग सक्ता उसे निश्चित कहते हैं । स्थिति और अनुभाग के बदलने को उद्धर्तन कहते हैं, और स्थिति और अनुभागके कर्मकरने को अपवर्तन कहते हैं । करणोंसे स्वरूप जानने के लिये देखो—कर्मप्रकृति गा० २ और पञ्चसग्रह गा० १ (बन्धनकरण) की टीकाएँ तथा कम्मकाण्ड गा० ४३७-४४० ।

२ पूर्वका प्रमाण इस प्रकार मतलाया है—

“पुंस्स उ परिमाण सवरी खलु होति सयसहस्माह ।

उप्पण च सहस्सा योद्धवा वासमेदीण ॥ ६३ ॥” ज्योतिष्क०

पूर्वकोटिप्रमाण बाधते हैं। असशी पयासक जीव चारों ही आयुर्कर्मों की उत्कृष्टस्थिति पत्यके असख्यातत्र भाग प्रमाण बाधते हैं। निरुपनम आयु-वाले, अथात् जिनकी आयुष्म अपनर्तनवात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चाके आयुर्कर्म की अनाधा छह मास हाती है। तथा, शेष मनुष्य और तिर्यञ्चाके आयुर्कर्म की आनाधा अपनी अपनी आयुके तीसरे भाग प्रमाण होती है।

भावार्थ—उक्त गाथाओंके द्वारा कमप्रवृत्तियों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाइ है, उसका बन्ध केवल पयासक सजी जीव ही कर सकते हैं। अतः वह स्थिति पयासक सजी जीवों की अपेक्षासे ही बतलाइ गई है। शेष जीव उस स्थिति से कितनी कितनी स्थिति बाधते हैं, इसका निदर्श आगे करेंगे। यहाँ केवल आयुर्कर्म की अपेक्षासे यह बतलाया है कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असशी जीव आयुर्कर्म की पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें से कितना स्थितिबन्ध करते हैं? तथा उसकी कितनी अनाधा होती है?

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यञ्चगति या मनुष्य-

अर्थात्—७० लाख, ५६ हजार करोड़ वर्षका एक पूर्व होता है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि पृ० १२८ में भी पाई जाती है।

१ कर्मकाण्ड गा० ५३८ ५४३ में, जिस गतिके जीव मरण करके किस किस गतिमें जन्म लेते हैं, इसका सुलासा किया है। तिर्यञ्चोंके सम्बन्ध में लिखा है—

“तेऽदुग तेरिच्छे सेसेगअपुण्णवियलगा य तहा ।

तित्थूणणेरेवि तहाऽसणी घम्मे य देवदुगे ॥ ५४० ॥”

अर्थात्—तैजसायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेते हैं। शेष एकेन्द्रिय, अपर्याप्त और विकलत्रय जीव तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्मलेते हैं किन्तु तीर्थङ्कर वगैरह नहीं हो सकते। तथा, असशी पञ्चेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा घमा नामके

गतिमें ही जमलेते हैं। वे मरकर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा, तिर्यञ्च और मनुष्यामें भी कर्मभूमिजाम ही जमलेते हैं, भोगभूमिजोंमें नहीं। अतः वे आयुक्रमकी उत्कृष्टस्थिति एक पूरकोटि प्रमाण बाध सकते हैं, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चकी उत्कृष्ट आयु एक पूर कोटि की होती है। तथा, असंख्य पञ्चेन्द्रिय जीव मरण करके चारोंही गतिमें उत्पन्न हो सकते हैं, अतः वह चारोंमें से किसी भी आयुका बाध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्याम कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यञ्चाम भी कर्मभूमिज तिर्यञ्च ही होता है, देवोंमें भवनवासी और व्यन्तर ही होता है, तथा नारकम पहले नरकने तीन पायद्वों तर ही जमलेता है, अतः उनके पत्न्या कर्मके असंख्यातरों भाग प्रमाण ही आयुक्रमका बाध होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय त्रिकेन्द्रिय और अक्षिपञ्चेन्द्रिय जीवके आयुक्रमके स्थितियों का निदर्श करके भिन्न भिन्न जीवोंकी अपवादासे उसकी अबाधा बतलाई है।

आयुक्रमकी अबाधाके सम्बन्धम एक बात ध्यान रखने योग्य है। अबाधाके सम्बन्धम ऊपर जा एक नियम बतल आये हैं कि एक काणिकाटि सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाठ होता है, वह नियम आयुक्रमके सिवाय शेष सातसमौंका ही अबाधा निकालनेके लिये है। आयुक्रमकी अबाधा स्थितिके अनुपात पर अवलम्बित नहीं है। इससे कर्मकाण्डमें लिखा है—

“भाउस्त य आवाहा ण द्विदिपडिमागमाउस्त ॥१५८॥”

अर्थात्—‘वैसे अन्यसमौं स्थितिके प्रतिभागके अनुसार आबाधाका प्रमाण निराला जाता है, वैसे आयुक्रममें नहीं निराला जाना।’

इसका कारण यह है कि अन्यसमौं बाध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुक्रमका बाध अमुक अमुक कालमें ही होता है। गतिके अनुसार

पहले नरक में और देवदिक अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरदेवों में उत्पन्न होते हैं।

वे अमर अमर काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्यगति और त्रियञ्चगतिमें जन भुज्यमान आयुके दो भाग यौत जाते हैं, तत्र परमकी आयुके वधना काल उपस्थित होता है। जैसे, यदि किसी मनुष्यकी आयु ९९ वर्षी है, तो उसमें से ६६ वर्ष यौतनेपर वह मनुष्य परमकी आयु बाध सकता है, इससे पहले उसके आयुक्रमका वध नहीं हो सकता। इसीसे मनुष्य और त्रियञ्चके वध्यमान आयुक्रमका अत्राधाकाल एक पूवकोटिका तासरा भाग बतलाया है, क्योंकि कमभूमिज मनुष्य और त्रियञ्चकी आयु एक पूवकोटि की होती है और उसके त्रिभागम परमकी आयु वधती है। यह ता हुइ कमभूमिज मनुष्य और त्रियञ्चकी अपक्षासे आयुक्रमकी अत्राधाकी व्यवस्था। भागभूमिज मनुष्य और त्रियञ्च तथा देव और नारक अपनी अपनी आयु के छह मास शेष रहनेपर परमकी आयु बाधते हैं। इसीसे प्रथमराने निरवन्तम आयुगणोंके वध्यमान आयुका अत्राधाकाल छहमास बतलाया है।

१ आयुवध तथा उसकी अत्राधाके सम्बन्धमें मतभेदको दृष्टाते हुए पञ्चसङ्ग्रहमें रोचक वर्णन है, जो इस प्रकार है—

‘सुरनारयाडयाण अयरा तेत्तीस तिन्नि पत्थियाइ ।

इयराण चट्सुवि पुस्वकोटितमो अयाहाओ ॥ २४४ ॥

घोलीणेषु दोमु भागेषु आठयस्स जो वधो ।

भणिओ असभवाओ न घट्ठइ सो गह्वडक्के वि ॥ २४५ ॥

पलियासत्तेज्जमे वधति न साहिण नरतिरिच्छा ।

छम्मासे पुण इयरा तटाठ तमो बहु होइ ॥ २४६ ॥

पुस्वाकोटी जेसि आऊ अहिकिच ते हम भणिय ।

भणिअ पि नियअयाह आठ वधति अमुयत्ता ॥ २४७ ॥

निरुक्कमाण छमासा इगिविगलाण मरट्ठिइ तसो ।

पलियासत्तेज्जस जुगधम्मीण वयतत्ते ॥ २४८ ॥”

अर्थ—‘देवायु और नरकायु की सत्स्थिति तेतीस सागर है। त्रियञ्चायु

आयुक्रमकी अबाधाक सम्प्रथमे जा दूसरी बात ध्यानम रखने योग्य है वह यह है कि सातकर्मोंकी उपर जा स्थिति बतलाइ गई है, उसम उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है । जैसे, मित्यात्वमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटिकां सिंगर बतलाइ है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, ता ये सात हजार वर्ष उस सत्तर काटिकां सिंगरमें ही सम्मिलित हैं । अत यदि मित्यात्वकी अबाधारहित स्थिति, जिसे हम पहले 'आयुमत्याया' नामसे कह आये हैं, जानना हो ता सत्तर काटिकोटी सिंगर में से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये । किन्तु आयुक्रमकी स्थितिमें और मनुष्यायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पत्य है । तथा चारों आयुओंकी एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा है ।

साक्षात्-आयुके दो भाग धीतजाने पर जो आयुका अर्ध कहा है वह असम्भव होनेसे चारों ही गतियों में नहीं घटता है । क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यक्ष कुछ अधिक पत्यका असख्यातवा भाग शेष रहने पर परमवकी आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु पत्यका असख्यातवा भाग शेष रहने पर ही परमव की आयु बाँधते हैं । तथा देव, और नारक भी अपनी आयु के छह माहसे अधिक शेष रहने पर परमव की आयु नहीं बाँधते हैं किन्तु छहमास आयु बाकी रहने पर ही परमव की आयु बाँधते हैं । किन्तु उनकी आयुका त्रिभाग बहुत होता है । तिर्यक्ष और मनुष्योंकी आयुका त्रिभाग एक पत्य और देव तथा नारकोंकी आयुका त्रिभाग ग्यारह सागर होता है ।

उत्तर-जिन तिर्यक्ष और मनुष्योंकी आयु एक पूर्व कोटि होती है उनकी अपे रास ही एक पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है । तथा यह अबाधा अनुभूयमान अवसम्बन्धी आयुमें ही जाननी चाहिये परमव सम्बन्धी आयुमें नहीं क्योंकि परमवसम्बन्धी आयुकी दलरचना प्रथम समय में ही होजाती है, उसमें अबाधायल सम्मिलित नहीं है । अत एक पूर्व कोटीकी आयुवाले तिर्यक्ष और मनुष्योंकी परमवकी आयुकी उत्कृष्ट अबाधा

यह बात नहीं है। आयुर्मर्मकी तीसरी सागर, तीन पत्थ, पत्थना असख्या-
तवा भाग आदि जो स्थितिग्रन्थ है, तथा आगे भी बनलायेंगे, यह उक्त
स्थिति है। उसमें अत्राधाकाल सम्मिलित नहीं है। इस अन्तरका कारण

पूर्व कोटिके त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियोंके
परमवकी आयुकी अबाधा छह मास होती है। और एकेन्द्रिय तथा विकर्षेन्द्रिय
जीवोंके अपनी अपनी आयुके त्रिभाग प्रमाण उक्त अबाधा होती है।
अन्य आचार्य भोगभूमियोंके परमवकी आयुकी अबाधा पत्थके असख्या-
तवें भाग प्रमाण कहते हैं।”

चन्द्रसूरि रचित समग्रहणीसूत्रमें इसी बातको और भी स्पष्ट करके लिखा है—

“यद्यपि देवनारक अस्यत्परतिरि छमाससेसाक ।

परमत्रियाक सेसा निरुद्धमतिभागसेसाक ॥ ३०१ ॥

सोयकमात्रया पुण सेसतिभागे अहय नवमभागे ।

सत्तावीस इमेवा अतमुहूर्तमिमेवावि ॥ ३०२ ॥”

अर्थात्—‘देव, नारक और असख्यात वपकी आयुवाले मनुष्य और
तिर्यक्ष छह मासकी आयु बाकी रहने पर परमवकी आयु बाँधते हैं। शेष
निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयुका त्रिभाग बाकी रहने पर परमवकी
आयु बाँधते हैं। और सोपक्रम आयुवाले जीव अपनी आयुके त्रिभागमें अथवा
नौवें भागमें, अथवा सत्ताईसवें भागमें परमवकी आयु बाँधते हैं। यदि इन
त्रिभागोंमें भी आयुबध नहीं करपाते तो अन्तिम अतमुहूर्तमें परमवकी आयु
बाँधते हैं।’

गो० कर्मकाण्डमें आयुग्रन्थके सम्बन्धमें साधारण तौर पर तो यही
विचार प्रकट किये हैं। किन्तु देव, नारक और भोगभूमियोंकी छह मास
प्रमाण अबाधा को लेकर उसमें उक्त निरूपणसे मौलिक मतभेद है।
कर्मकाण्ड के मतानुसार छह मासमें आयु बध नहीं होता, किन्तु उसके

यह है कि आयुर्मौरी जगधा स्थितिके अनुपातपर अवलम्बित है अतः सुनिश्चित है। किन्तु आयुर्मका जगधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके विभागमें भी आयुर्मका बंध अनियमावी नहीं है, क्योंकि विभागना भी विभाग करते करते आठ विभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयुर्बध नहीं होता तो मरणसे अन्तमुहूर्त पहले अवश्य होजाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुर्मकी स्थितिमें उसका जगधासाल सम्मिलित नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और जगधाका प्रमाण जानना चाहिये।

विभागमें आयुर्बध होता है। और उस विभागमें भी यदि आयुर्बध तो छह मासके नौवें भागमें आयुर्बध होता है। सारांश यह है कि जैसे कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यगोमें अपनी अपनी पूरी आयुके विभागमें परभव की आयुका बंध होता है, वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके विभागमें आयुर्बध होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है। केवल भोगभूमियोंमें लेकर मतभेद है। विहीना मत है कि उनमें नौमास आयु शेष रहने पर उसके विभागमें परभवकी आयुका बंध होता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ की संस्कृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४०। इसने सिवाय एक मतभेद और भी है। यदि आठों विभागोंमें आयुर्बध न हो तो अनुभूयमान आयुका एक अन्तमुहूर्त काल बाकी रहजाने पर परभव की आयु नियमसे बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है। किन्तु किन्हींके मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिकके असख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है। देखो कर्मकाण्ड गा० १५८ और उसकी टीका।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ स और कर्मप्रकृतिके बंधन करणमें गाथा ७० से स्थितिबधका कथन प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट स्थितिबधकी लेकर

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी उत्पत्तिस्थिति और अवाधाको बतला कर अब उनकी जन्य स्थिति बतलाते हैं—

लहुटिङ्गयो सजलणलोह-यणविग्ध-नाण-दसेसु ।

भिन्नबृहत् ते अद्व जसुच्चे वारस य साए ॥ ३५ ॥

अर्थ—सज्जलन लोह, पाँच अन्तराय, पाँच शानावरण और चार

तीनोंही प्रथमोंमें कोई अन्तर नहीं है। केवल एक बात उल्लेखनीय है वह यह कि कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिमें वर्णादिचतुष्कभी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर बतलाई है और कर्मग्रन्थमें उसके अवान्तर भेदोंको लेकर दस कोटी कोटी सागरसे लेकर बीस कोटीकोटी सागर तक स्थिति बतलाई है। इस अन्तरका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकी स्वोपशयीकामें प्रत्यक्षरने स्वयं कर दिया है। वे लिखते हैं—

“यद्यपि वर्णं गन्ध रस स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेद यधेऽधिष्ठि यते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटी कोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसमहोऽभिहिता, अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता । बन्ध तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषित गणनीयम् ॥ २९ ॥”

अर्थात्—यद्यपि बन्ध अवस्थामें वर्णादि चार ही लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं लिये जाते। कर्मप्रकृति आदि प्रथमोंमें उनके भेदोंको न लेकर, वर्णादि चतुष्कभी स्थिति बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण बतलाई है। तथापि पञ्चसमह नामक ग्रन्थमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके बीस भेदोंकी भी पृथक् पृथक् स्थिति बतलाई है अतः हमने भी वैसाही कथन किया है। बन्धकी अपेक्षासे तो वर्णादि चार ही गिनने चाहिये, उनके भेद नहीं गिनने चाहिये। उत्कृष्ट अवाधाके निरूपणमें भी कोई अन्तर नहीं है।

पञ्चसमह में गा० २३८ से स्थितिबन्धका निरूपण प्रारम्भ होता है।

यह है कि अन्यत्रगौरी अत्राधा स्थितिके अनुगतपर अनन्वित है अतः
 सुनिश्चित है । किन्तु आयुक्रमका अत्राधा सुनिश्चित नहीं है, क्योंकि आयुके
 विभागमें भी आयुक्रमका बंध अवश्यमावी नहीं है, क्योंकि विभागना भी
 विभाग करते करते जाठ विभाग पड़त हैं । उनमें भी यदि आयुबंध नहीं
 होता तो मरणसे अतिसुदृढत पहले अत्रस्थ होजाता है । इसी अनिश्चितता
 के कारण आयुक्रमकी स्थितिमें उसका अत्राधानाल सम्मिलित नहीं किया
 गया, ऐसा प्रतीत होता है । इसप्रकार उत्कृष्टस्थिति और अत्राधाका
 प्रमाण जानना चाहिये ।

विभागमें आयुबंध होता है । और जब विभागमें भी यदि आयु न बंधे तो
 छह मासके नौवें भागमें आयुबंध होता है । सारांश यह है कि जैसे कर्म
 भूमिज मनुष्य और तियर्थोंमें अपनी अपनी पूरी आयुके विभागमें परमव
 की आयुका बंध होता है वैसेही देव नारक और भोगभूमिजोंमें छह मासके
 विभागमें आयुबंध होता है । दिगम्बर सम्प्रदायमें यही एक मत मान्य है ।
 केवल भोगभूमिजोंको लेकर मतभेद है । निहंसा मत है कि उनमें नौमास
 आयु शेष रहने पर उसके विभागमें परमवकी आयुका बंध होता है । देखा
 कर्मकाण्ड गा० १५८ की संहृत टीका तथा कर्मकाण्डकी गा० ६४० ।
 इसका सिवाय एक मतभेद और भी है । यदि आठों विभागोंमें आयुबंध न
 हो तो अनुभूयमान आयुका एक अतिसुदृढत काल बाकी रहजाने पर परमव
 की आयु नियमसे बंध जाती है । यह सवमान्य मत है । किन्तु किन्हींके
 मतसे अनुभूयमान आयुका काल आवलिसाके असह्यातरे भाग प्रमाण बाकी
 रहने पर परमवकी आयुका बंध नियमसे होजाता है । देखो कर्मकाण्ड गा०
 १५८ और उसकी टीका ।

१ कर्मकाण्ड में गाथा १२७ से और कर्मप्रकृतिके बंधन करणमें गाथा
 ७० से स्थितिवर्धका कथन प्रारम्भ होता है । उत्कृष्ट स्थितिवर्धको लेकर

भाषार्थ—इम गाथामे जिन चार कमप्रकृतियोंका बडात स्थितिबध बतलाया है, उनका यह जघन्यस्थितिबध अपनी अपनी बन्धन्युच्छितिके पीछेमें हो होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबध नगमें गुणधानमें होता है। इससे पहली गाथामें निर्दिष्ट अठारह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीघइरनाम और आहारकद्रिककी जघन्यस्थिति ता उनकी उत्कृष्ट स्थितिके साथही बतला आये हैं। चाग आयु और घैत्रियपत्रकी जघन्यस्थिति आगे बतलायेगे। अतः ८५ प्रकृतियों ब्रेप रह जाती हैं, जिनका जघन्यस्थितिबध बादर परातक एकेन्द्रिय चीन ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर प्रत्येक ने सनका जघन्यस्थिति जानोके लिये एक सामान्य नियमका निदण कर दिया है। निमके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिष्यान्वयकी उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोटिरोटि सागरका भाग देनेसे उस प्रकृतिकी जघन्यस्थिति मात्रूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निम्नान्यक और असातवेदनीयकी जघन्यस्थिति $\frac{3}{8}$ सागर, मिष्यान्वकी एक सागर, अनन्तानुदभी आदि बारह कगयोंकी $\frac{5}{8}$ सागर, र्श्रीपेद और मनुष्यद्रिककी $\frac{7}{8}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पन्द्रह कोटिरोटि सागरमें सत्तर कोटिरोटि सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{9}{16}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोना अङ्कोंको ५ से बाटने पर $\frac{3}{8}$ योग रहता है), सूर्यमन्त्र और विक्रमन्त्रकी $\frac{9}{16}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{7}{8}$ आता है। ७१५ को० अंके में ३३३३३३३३ में बाटने पर $\frac{9}{16}$ योग रहता है),

दशनावरणाका जपय स्थितिग्रन्थ अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है । यश कीर्ति और उच्चगानका जपय स्थितिग्रन्थ आठमुहूर्त प्रमाण होता है । और सात-वेदनीयका जपन्य स्थितिग्रन्थ बारह मुहूर्त प्रमाण होता है ।

भावार्थ—इस गायसे जपय स्थितिग्रन्थका जपन प्रारम्भ होता है । इसमें अठारह प्रवृत्तियोंके जप य स्थितिग्रन्थके प्रमाणका निदर्श किया है । यह स्थितिग्रन्थ अपने अपने बंधयुष्मिन्निष्ठने समयमें ही होता है । अर्थात् जप इन प्रवृत्तियोंके बंधका अन्तर्गत होता है, तभी उस जपय स्थितिग्रन्थ होता है । अतः सवर्ण स्तोमका जपन्य स्थितिग्रन्थ नव गुणस्थानम और पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दशनावरण, यश कीर्ति और उच्च गानका जपय स्थितिग्रन्थ दसव गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है । सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त प्रमाण का जपन्यस्थिति ग्रन्थ है, यह सप्तशय बन्धकी अपक्षासे बनता है । अस्याय बंधककी अपेक्षासे ता उपपन्नान्तकपाय आदि गुणस्थानामें उसका जपयस्थिति दो समय मान ही जाता है, यह पहले कह आय है ॥

दो इगमासो पन्ध्रौ सजलणतिगे पुमद्वरिसाणि ।

सेसाणुकोसाउ मिच्छत्तिर्द्विंश ज लद्व ॥ ३६ ॥

अर्थ—सवर्ण श्रोत्रकी दो मास, सजलन मानकी एक मास, सवर्ण मायाका एक पन्ध्र और पुरुष वेदका आठ वष जपन्यस्थिति है । तथा, शेष प्रवृत्तियोंकी उत्पृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वमोहनीयकी उत्पृष्टस्थिति सत्तर कोटिकोटी सागरका भाग देने पर जो लब्ध होता है वही उनकी जपय स्थिति जाननी चाहिये ।

१ तुलना करो—

दो मास पन्ध्र अर्द्ध अतमुहूर्त च कोहपुत्राणि ।

सेसाणुकोसाउ मिच्छत्तिर्द्विंश ज लद्व ॥ २५५ ॥” पद्यसं०

तु—सामो । ३—द्व ।

भावार्थ—इस गायाम जिन चार कमप्रकृतियोंका कठाक्त स्थितियन्त्र बालाया है, उनका वह जगन्मस्थितियन्त्र अपनी अपनी वधव्युत्थिति-के कालमें ही होता है। अतः चारों ही प्रकृतियोंका जगन्म स्थितियन्त्र नरमें गुणस्थानमें होता है। इससे पहली गायामें निर्दिष्ट अक्षरह और इसमें निर्दिष्ट चार प्रकृतियोंके सिवाय तीथङ्करनाम और आहारफद्विककी जगन्मस्थिति तो उनकी उत्कृष्ट स्थितिसे सायही बतल आये हैं। चारों आयु और वैत्रियषट्फकी जगन्मस्थिति आगे बतलायेंगे। अतः ८५ प्रकृतियों शेष रह जाती हैं, जिनका जगन्मस्थितियन्त्र बाहर पयास्तन एवेन्द्रिय जीव ही करते हैं। उन प्रकृतियोंकी जगन्मस्थिति पृथक् पृथक् न बतलाकर प्रथमरूप ने सभी जगन्मस्थिति जाननेके लिय एक सामान्य नियमका निदान कर दिया है। जिसके अनुसार उक्त ८५ प्रकृतियोंमें से किसी भी प्रकृति की उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वनामकी उत्कृष्टस्थिति उत्तर कोटिमोटी गारवा भाग देनेसे उस प्रकृति की जगन्मस्थिति मालूम हो जाती है। इस नियमके अनुसार निद्रावज्रक और असातवेदनीयकी जगन्मस्थिति $\frac{1}{2}$ सागर, मिथ्यात्वकी एक सागर, अनन्तानुमकी आदि बारह कणायोंकी $\frac{1}{8}$ सागर, रसावेद और मनुष्यद्विककी $\frac{1}{4}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति पत्रह पाटीवागी सागरमें उत्तर कागीमोटी सागरका भाग देनेसे लब्ध $\frac{1}{2}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोना अष्टाशो ५ से काटने पर $\frac{1}{4}$ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिज और मित्रलत्रिककी $\frac{1}{2}$ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्टस्थिति १८ को० सा० में ७० को० सा० का भाग देने से लब्ध $\frac{1}{2}$ आता है। ऊपर और नीचेके दोना असाशो दो से काटने पर $\frac{1}{2}$ शेष रहता है), रिधर, गुम, मुमग, मुग्गर, आदेय, हास्य, रति, प्रयस्त विहाभोगति, वज्र-महामनाराचनहनन, समन्वुररसस्थान, मुगन्ध, गुक्कण, मधुररस, मृदु, लघु, म्निग्ध और उष्णलघुकी $\frac{1}{2}$ सागर, शेष गुम और जगुम कणादि-

१ यद्यप्य अवस्थामें वर्णदि चारही लिखे जाते हैं, उनके भेद नहीं लिखे

“वग्गुकोसठिइण मिच्छन्नुकोसणेण ज लद्ध ।

मेसाण नु जहन्ता पहामखिच्चमागूणा ॥ ७९ ॥”

अर्थान्—अपने अपने वगकी उत्पृष्टस्थिति में मिथ्यात्वकी उत्पृष्ट-स्थितिका भाग देनेपर जो लब्ध होता है, उसमें पत्थके असख्यातवें भागको कमकर देनेपर दोष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति आती है । इसके अनुसार दधानावरण और वदनीयक वगकी उत्पृष्टस्थिति तीस कार्गकोगी सागर में मिथ्यात्वकी उत्पृष्टस्थिति सत्तर कोगीकोगी सागरका भाग देनेपर लब्ध ३ सागर आता है, उसमें पत्थके असख्यातव भागको कमकर देनेपर निम्नान्न और असातवेदनापनी जघन्यस्थिति आती है । दगनमाहनीय वगकी उत्पृष्टस्थिति सत्तर कोगीकोगी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्पृष्टस्थितिका भाग देकर लब्ध एक सागरमें से पत्थका असख्यातवों भाग कम करनेपर मिथ्यात्वकी जघन्यस्थिति आता है । कपायमाहनीयवगकी उत्पृष्टस्थिति चालीस कोगीकोगी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्पृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध ३ सागरमें से पत्थका असख्यातवों भाग कम करनेपर प्रारम्भार्थ बारह कपायकी जघन्यस्थिति आता है । नाकपायमाहनीयवगकी उत्पृष्टस्थिति बीस कोगीकोगी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्पृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्ध ३ सागरमें से पत्थका असख्यातवों भाग कमकर देनेपर पुरुषवदके त्रिंशद दोष जाठ नाकपायोंकी जघन्यस्थिति आती है । नामवग और गोत्रवगकी उत्पृष्टस्थिति बीस कोगीकोगी सागरमें मिथ्यात्वकी उत्पृष्टस्थितिका भाग देकर, लब्धम से पत्थका असख्यातवों भाग कमकर देनेपर वैत्रियपङ्क, आहारजदिक, तापहर और वग जर्निना छोड़कर नामरूपकी दोष सत्तावा प्रकृतियोंकी और नीचगानम जघन्यस्थिति आती है ।

सामान्यसे सब प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतगकर, अब एनेन्द्रिय आदि जावारु याम्य प्रकृतियोंकी उत्पृष्ट और जघन्यस्थिति उतलाते हैं—

अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासखसहीण लहुनघो ।

कमसो पणवीसाए पना-सय-सहस्ससंगुणिओ ॥ ३७ ॥

विगलिअसन्निमु जिदो कणिद्वउ पल्लसखभागूणो ।

अर्थ—इससे पहलेका ३६ वीं गाथामें, अपने अपने वगरी उत्कृष्ट-स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर जो लब्ध निकाला है, वही एकेन्द्रिय जीवोंके उन उन प्रकृतियोंके उत्कृष्टस्थितिप्रधान प्रमाण होता है । उस उत्कृष्टस्थितिप्रधान पद्योंके असंख्यात भागको कमकर देनेपर एके-

१ जिन प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति बतलाई है, उनके सम्बन्धमें तो कर्मप्रकृति, कर्मकाण्ड और कर्मग्रन्थमें कोई अंतर नहीं है । शेष पिचासी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें जो कुछ वक्तव्य है वह इस प्रकार है—कर्म काण्डमें उनके बारेमें केवल इतना लिख दिया है—

‘सेसाण पअत्तो यादर ण्हदियो विसुद्धो य ।

यधदि सम्मजहणण सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥ १४३ ॥”

अर्थात्—शेष प्रकृतियोंकी जघन्यस्थितियोंकी यादर पर्याप्त विगुद्ध परिणामवाला एकेन्द्रिय जीव अपनी अपनी उत्कृष्टस्थितिके प्रतिभागमें बोधता है ।

और आगे एनेन्द्रियादिक जीवोंकी अपेक्षासे उक्त प्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्टस्थिति बतलानेके लिये अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर एकेन्द्रियके योग्य उत्कृष्टस्थिति, और उसमें पर्यक्ता असंख्यातवां भाग न्यून करके जघन्यस्थिति बतलाई है । उक्तगाथा १४३ में त्रिम प्रतिभागका उल्लेख किया है उस प्रतिभागकी आगे की गाथामें उक्त प्रकारसे स्पष्ट करदिया है । अतः कर्मकाण्डमें जो शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिवन्ध अलगसे नहीं बतलाया है, उसका कारण यही है कि उक्त जघन्य स्थितिवन्ध एनेन्द्रिय जीव ही करता है और

द्रिय जीवरु जघन्यस्थितिप्रधरा प्रमाण आता है । एकेन्द्रिय जीवने उत्कृष्ट स्थितिप्रधसे पचीसगुणा उत्कृष्टस्थितिप्रध दोर्द्द्विय जीवने हाता है, पचासगुणा उत्कृष्टस्थितिप्रध त्राद्रिय जीवने हाता है, सौगुणा उत्कृष्टस्थितिप्रध चतुरिन्द्रिय जीवने हाता है, एक हजारगुणा उत्कृष्टस्थितिप्रध अचञ्चली पञ्चेन्द्रिय जीवने हाता है । अपने अपने उत्कृष्टस्थितिप्रधमें से परपका सख्यातनों भाग कम करनेपर अपने अपने जघन्यस्थितिप्रधका प्रमाण आता है ।

भाषार्थ—इस पूरकी गायार्थोंमें उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्यसे बतलाइ है । किन्तु इस गायामें एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अचञ्चिपञ्चेन्द्रियको अपघासे उत्तर उसके बधने योग्य प्रकृतियाकी स्थिति आये बतलाइ ही है । कमप्रकृतिमें शेष प्रकृतियाकी जघन्यस्थिति बतलाते हुए जो गायी दी है, वह ३६ की गायामें भाषार्थमें लिख आये हैं । उसके आगे एकेन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे प्रकृतियोंकी स्थितिका परिमाण बतलाते हुए लिखा है—

एकेन्द्रियवद्वरो मन्वांसि ऊनसज्जभो जेद्वो ।

अर्थात्—अपने अपने वर्गकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग देकर सभमें से बल्यके असख्यातने भागको कम करनेमें जो अपनी अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकन्द्रियके योग्य जघन्य स्थितिका प्रमाण जानना चाहिये । कमकिये हुए बल्यके असख्यातने भागको उस जघन्य स्थितिमें जोड़ देनेपर उत्कृष्टस्थिति का प्रमाण होता है ।

कर्मप्रश्नके रचयिताने अपनी स्वोपश टीकामें शेष ८५ प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हुए गायी ३६ के उत्तरार्द्धका पहला व्याख्यान पञ्चसङ्ग्रहके अभिप्रायानुसार किया है । और दूसरा व्याख्यान कमप्रकृतिके अनुसार किया है । दोनों व्याख्यानोंमें एक मीलित अन्तर तो स्पष्टही है कि पञ्चसङ्ग्रह में अपनी अपनी प्रकृतिकी उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका भाग

प्रकृतियाँ उच्छृष्ट तथा जघन्यस्थिति बनलानेका उपक्रम किया है। गायान० ३६ म दीप ८५ प्रकृतियाँ जघन्यस्थितिप्रधान बनलानेके लिये, उक्त प्रकृतियोंके भर्गोनी उच्छृष्टस्थितियोंमें मिथ्यात्वकी उच्छृष्टस्थितिसे भाग देने का जा विधान किया है, एकेन्द्रिय जीवके उत्तर प्रकृतियोंके उच्छृष्टस्थिति-

देकर जघन्यस्थिति निकाली है, जैसा कि कर्मकाण्डमें भी पाया जाता है। किन्तु कमप्रकृतिमें अपने अपने वर्गकी उच्छृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उच्छृष्टस्थिति का भाग देकर और उसमें पत्यका असख्यातवाँ भाग कम करके जघन्यस्थिति घटलाई है। अतः जहातक प्रकृतियोंकी स्थितिमें भाग देनेका सम्यग्ध है वहातक तो कर्मकाण्ड पञ्चसङ्ग्रहके मतसे सदमत है। किन्तु आगे जाकर वह कर्मप्रकृतिसे महमत हो जाता है। क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहके मतानुसार प्रकृतियोंकी उच्छृष्टस्थितिमें भाग देने पर जो लब्ध आता है वह तो एकेन्द्रियकी अपेक्षासे जघन्यस्थिति होती है और उसमें पत्यका असख्यातवाँ भाग जो देने पर उसकी उच्छृष्टस्थिति होती है। किन्तु कमप्रकृति और कर्मकाण्डके मतानुसार मिथ्यात्वकी उच्छृष्टस्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही उच्छृष्टस्थिति होती है और उसमें पत्यका असख्यातवाँ भाग कम कर देनेपर जघन्यस्थिति होती है। अतः कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहके मतमें वही अन्तर है।

कर्मप्रकृतिः। 'वग्गुकोसमिद्दं' आदि गायत्री टीकामें उपाध्याय यशोविजयजीने भी पञ्चसङ्ग्रहके मतका उल्लेख करने हुए लिखा है—“पञ्चसङ्ग्रहे तु धर्गोच्छृष्टस्थितिर्विभननीयतया नामिमेता किन्तु 'सिसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तर्हिद्दं अ रद्धं' ॥ ४८ ॥ इति ग्रन्थेन स्वस्वोच्छृष्टस्थितिर्मिथ्यावोच्छृष्टस्थित्या भाग दत्ते यद्धम्यते तद्वच्च जघन्यस्थितिपरिमाणम्।” अर्थात् पञ्चसङ्ग्रहमें तो अपने अपने वर्गकी उच्छृष्टस्थितिमें भाग नहीं दिया जाता। किन्तु अपनी अपनी उच्छृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उच्छृष्टस्थितिसे भाग देने पर जो लब्ध आता है वही जघन्यस्थितिका परिमाण होता है।

वर्धन प्रमाण निकालनेके लिये भी वहां विधान काममें लाया जाता है । उस विधानके अनुसार नियमित प्रवृत्तिसे पहले बतलाइ गई उत्कृष्टस्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थितिका माग देनेपर जितना लब्ध आता है एकेन्द्रिय जीवके उस प्रवृत्तिका उतना ही उत्कृष्टस्थितिबन्ध होता है । जैसे, पाँच शानावरण, नौ दशनावरण, दो वेदनीय और पाँच अन्तराय, इन इक्कीस प्रवृत्तियाँका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवक है सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रवृत्तियोंक सर्गोकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोटीकोटी सागर है । उसमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिसे माग देनेपर है सागर लब्ध आता है । इसी क्रमसे अन्य प्रवृत्तियोंका स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्वकी एक सागर, सोलह क्षणोंकी है सागर, नौ नाश्यायकी है सागर, चैत्रिय-

१ एकेन्द्रियादिक जीवोंके वैक्रियपट्टका बन्ध नहीं होता अतः उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है । किन्तु असक्षिप्योन्द्रियके उसका बन्ध होता है, अतः उसकी अपेक्षासे वैक्रियपट्टकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति पञ्चसमग्रमें निम्नप्रकारसे बतलाई है-

“वेदत्रिष्टुप्ति च सहस्रवाहिय च असन्निधो तेषां ।

पक्षिपासजसृण ठिह् अवाहृणियनितेगो ॥ २५९ ॥”

अर्थात्-“उक्तरीतिके अनुसार वैक्रियपट्टकी बीस कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति ७० कोटीकोटी सागरका माग देने से जो है स्थिति आती है उसे एक हजारसे गुणा करनेपर असंख्य जीवके वैक्रियपट्टकी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण आता है । उसमें पत्यका असंख्यातवाँ भाग कमकर देनेसे जघन्यस्थितिका प्रमाण आता है ।’ यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले नरक्षेत्रिक और वैक्रियद्विकवा उत्कृष्टस्थितिबन्ध बीस कोटीकोटी सागर और देवद्विकका दस कोटीकोटी सागर बतलाया है । तथापि यहाँ उसकी जघन्यस्थिति बतलानेके लिये बीस कोटीकोटी सागर

पट्क, आहारवद्विक और तीर्थंकरको छोड़कर, एकेन्द्रियके बधने योग्य नाम-
कमकी दोष अट्ठावन प्रकृतियाँकी और दाना गोनोंकी ऊँ सागर प्रमाण
उत्कृष्टस्थिति आती है । इस उत्कृष्टस्थिति बधमेंसे पत्यना असख्यातना
भाग कम करदेने पर एकेन्द्रिय जीवके जघन्य स्थिति प्रका प्रमाण आता है ।
अथात् प्रत्येक प्रकृतिनी ऊँ सागर बगैरह जो उत्कृष्टस्थिति निकाली है,
उसमें से पत्यना असख्यातना भाग कम करदेने पर वही उस प्रकृतिकी
जघन्यस्थिति होजाती है ।

गाथाके पूराध्वारा एकेन्द्रिय जीवनी अपेक्षासे स्थितिप्रधना परिमाण
बतलाकर, उत्तराध्वारा द्वीन्द्रियादिक जीवाकी अपेक्षासे उसका परिमाण
बतलाया है । जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवके ऊँ सागर बगैरह
जो उत्कृष्ट स्थितिप्रध होता है, उसे पच्चीससे गुणा करनेपर द्वीन्द्रिय जीवके
उत्कृष्ट स्थितिप्रधका प्रमाण आता है । अथात् प्रत्येक प्रकृतिका उत्कृष्ट
स्थितिप्रध द्वीन्द्रिय जीवके एकेन्द्रिय जीवनी अपेक्षासे पच्चीस गुणा अधिक
होता है । जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्वनी उत्कृष्टस्थिति एक सागर-
प्रमाण बधती है । तो द्वीन्द्रियजीवके उसनी उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागर
प्रमाण बधती है । इसी प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये । तथा,
एकेन्द्रिय जीवके जो उत्कृष्ट स्थितिप्रध होता है, उससे पचास गुणा उत्कृष्ट
स्थितिप्रध त्रीन्द्रिय जीवके होता है । जैसे, एकेन्द्रिय जीवके मिथ्यात्व-
की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर बधती है तो त्रीन्द्रियके पचास सागर
प्रमाण बधता है । ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंमें भी समझलेना चाहिये ।
तथा, एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिप्रधसे सौगुणा उत्कृष्ट स्थितिप्रध
प्रमाण ही लिया गया है जैसा कि उसकी टीकामें (पृ० २२८ पृ०) आचार्य
मलयगिरिनीने लिखा है—“देवद्विकस्य तु यद्यपि दशसागरोपमकोटीकोटी-
प्रमाणस्तथापि तस्य जघन्यस्थितिपरिमाणानयनाय
कोटीकोटीप्रमाणो विवक्ष्यते ।”

चतुरिन्द्रिय जीव करता है, अतः मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवके सौ सागर प्रमाण होता है । ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके बारेमें भी समझलेना चाहिये । तथा एकेन्द्रिय जीवके उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें एक हजार गुणा स्थितिबन्ध असन्निपचेन्द्रिय जीवके होता है । इसके अनुसार मिथ्यात्वकी उत्कृष्टस्थिति असन्निपचेन्द्रिय जीवके एक हजार सागर प्रमाण बधती है । ऐसा ही अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये ।

१ कर्मकाण्डमें एकेन्द्रियादिक जावोंके स्थितिबन्धका प्रमाण जिन गौलीमें बतलाना है स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उसे महा उद्बुद्ध करते हैं—

‘ एव पणरुद्धी पण्ण न्य सहुस्स थ मिच्छवरयधो ।

इगविगल्लण भवर पहासएणसखण ॥ १४४ ॥”

अर्थात्—एकेन्द्रिय और विकल्पीन्द्रिय जावोंके मिथ्यात्वका उत्कृष्टस्थितिबन्ध क्रमशः एक सागर पचास सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण होता है । तथा उसका अधन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियके पक्षके अस्वस्थानमें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकल्पीन्द्रिय जावोंके पक्षके स्वस्थानमें भाग हीन अपना अपनी उत्कृष्टस्थितिप्रमाण होता है । आगे लिखते हैं—

“जदि सत्तरिस्स एत्तिमेत्त कि होदि तीसियादीण ।

इदि सपाळे सेसाण इगविगलेसु उमयठिदी ॥ १४५ ॥”

अर्थात्—यदि सत्तर कोटिकोटी सागरकी स्थितियाँ मिथ्यात्वकर्म एकेन्द्रिय जीवके एक सागर द्वीन्द्रियके पचास सागर, त्रीन्द्रियके पचास सागर, चतुरिन्द्रियके सौ सागर और असन्निपचेन्द्रियके एक हजार सागर प्रमाण बधता है तो तीस कोटिकोटी सागर आदिकी स्थितियाँ अन्य कम उनके कितनी स्थितिकी रुकर बंधेंगे ऐसा त्रैराशिक करने पर एकेन्द्रिय और विकल्पीन्द्रिय जावोंके दोष प्रकृतियोंकी दोनों स्थितियाँ माध्यम हो जाती हैं ।

द्वाद्विध, त्रीद्विध, चतुरिद्विध और पञ्चविधचेन्द्रियके उत्त अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थमें पन्थका सत्यातना भाग कम मरदेनेपर अपना अपना जन्य स्थितिग्रन्थ होना है । इसप्रकार एनेन्द्रियसे लेकर अस्ति पचेन्द्रिय पयन्त जीवोंके स्थितिग्रन्थका प्रमाण जानना चाहिये ।

अत्र बानी बचे आयुष्मकी उत्तर प्रकृतियोंकी जन्यस्थिति बनगते हैं—

सुरनरपाउ समादससहस्र सेसाउ सुडुभन ॥ ३८ ॥

अर्थ—देवायु और नरनायुकी जन्यस्थिति दस हजार वष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जन्यस्थिति क्षुद्रभन प्रमाण है ।

भावार्थ—ऊपर निज प्रकृतियोंकी जन्यस्थिति आगे बतलाने का निदान कर आय थे, उनमेंसे चारों आयुकी जन्यस्थिति यहा उतलाई है । जागममें मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुकी जन्यस्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण बनगते हैं, और यहा क्षुद्रभन प्रमाण लिखी है । इसका कारण यह है कि अन्तमुहूर्तके उतसे भेद हैं । अतः यह उतलानेके लिय कि अन्तमुहूर्त क्षुद्रभनप्रमाण लेना चाहिये, यहा अन्तमुहूर्त न लिखकर उसके ठीक ठीक परिमाणका सूचन क्षुद्रभन लिखा है । क्षुद्रभनका निरूपण आगे प्रत्यक्ष स्वरूप करेंगे ।

जन्य स्थिति का कथन करके, अब जन्य अग्राधाको उतलाते हैं—

सद्वाणवि लहुनघे भिन्नमुहू जगाह आउजिह्वे वि ।

केइ सुराउसम जिणमतमुहू विति आहार ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त प्रकृतियोंके जन्य स्थितिग्रन्थमें तथा आयुष्मके उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थमें भी जन्य अग्राधाका प्रमाण अन्तमुहूर्त है । इन्हीं आचार्यों के मतसे तीर्थङ्करनामकी जन्यस्थिति देवायुके समान अथात् दस हजार वष है और आहारकद्विक की अन्तमुहूर्त प्रमाण है ।

भावार्थ—इस गाथाके पूवादमें सभी उत्तर प्रकृतियोंकी जन्य

अवाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है । जघन्य स्थितिबधमें जो अवाधा काल हाता है उसे जघन्य अवाधा कहते हैं और उत्कृष्ट स्थितिबधमें जो अवाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अवाधा कहते हैं । किन्तु यह परिमाण उन सातकर्मों तक ही सीमित है, जिनकी अवाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार होती है । आयुक्रमकी तो उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अवाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अवाधा हो सकती है । क्योंकि उसका अवाधाकाल स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नहीं होता, जैसा कि पहले लिख आये हैं । अतः आयुक्रमकी अवाधामें चार विन्य होते हैं—१—उत्कृष्ट स्थितिबधमें उत्कृष्ट अवाधा, २—उत्कृष्ट स्थितिबधमें जघन्य अवाधा, ३—जघन्य स्थितिबधमें उत्कृष्ट अवाधा और ४—जघन्य स्थितिबधमें जघन्य अवाधा । इन विन्यासका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी एक पूरकाटिकी आयुमें तीसरा भाग शेष रहनेपर तैंतीस सागरकी आयु बाधता है तब उत्कृष्टस्थिति बधमें उत्कृष्ट अवाधा होती है । और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर तैंतीस सागरकी स्थिति बाधता है तो उत्कृष्टस्थितिमें जघन्य अवाधा हाती है । तथा, जब कोई मनुष्य एक पूर्व-कोणीका तीसरा भाग शेष रहते हुए परमर की जघन्यस्थिति बाधता है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट अवाधा होती है । और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहनेपर परमरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाधता है तो जघन्य स्थितिमें जघन्य अवाधा होती है । अतः आयुक्रमकी उत्कृष्टस्थितिमें भी जघन्य अवाधा हो सकती है और जघन्य स्थितिमें भी उत्कृष्ट अवाधा हो सकती है ।

इस प्रकार अवाधाना कथन करके ग्रन्थकारने गायक उत्तरादमें तीथङ्कर और आहारकद्विकी जघन्यस्थितिके सम्बन्धमें किन्हीं आन्तरिकोंके मतका उल्लेख किया है, जो तीथङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानते हैं । इन

तीनों प्रकृतियोंकी जघन्यस्थिति ग्रन्थकार पहले अन्त मोटीकोगीसागर बतला आये हैं । उन्हींके सम्बन्धमें यह मतान्तर जानना चाहिये ।

तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी जघन्यस्थिति क्षुद्रमयके बराबर बतलाइ है । अतः दो गाथाओंसे क्षुद्रमयका निरूपण करते हैं—

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुमि हुति खुड्ढभवा ।

सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तमि ॥ ४० ॥

पणसहिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्ढभवा ।

आवलियाणं दोसय उप्पन्ना एगखुड्ढभवे ॥ ४१ ॥

अर्थ—एक द्वासोच्छ्रासमें कुछ अधिक सत्तरह क्षुद्र या क्षुल्लक भव होते हैं । एक मुहूर्तमें ३७३ द्वासोच्छ्रास होते हैं । तथा, एक मुहूर्तमें ६५३६ क्षुद्रभवन होते हैं और एक क्षुद्रभवमें २५६ आवली होती हैं ।

१ यह मत पञ्चसङ्गहकारका जान पड़ता है, क्योंकि उन्हींने तीर्थङ्कर-नामकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष और आहारककी जघन्यस्थिति अन्त मुहूर्त बतलाई है । यथा—

“सुरनारयाउयाण दसवाससहस्स लघु सतिरयाण ॥ २५१ ॥”

अर्थात्—तीर्थङ्कर नाम सहित देवायु नरकायुकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है । तथा—

‘साए बारस हारगविग्धावरणाण किञ्चूण ॥ २५४ ॥’

‘सात वेदनीयकी बारह मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी कुछ कम मुहूर्तप्रमाण जघन्यस्थिति है ।’

२ जीवकाण्डमें एक अन्तमुहूर्तमें ६६३३६ क्षुद्र भव बड़े हैं । यथा—

“तिग्गिसया छत्तीसा छावट्टि सहस्सगाणि मरणाणि ।

अतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुड्ढभवा ॥ १२३ ॥”

अर्थात्—लक्ष्यपर्याप्तक जीव एक अन्तमुहूर्तमें ६६३३६ बार मरण

भावार्थ—गाथा ३८म मनुष्यायु और त्रियज्ञायुकी जगन्म स्थिति धुल्लभ्य या धुद्रभ्य प्रमाण बताइ थी, अत इन गाथाओंके द्वारा धुद्र भ्यका प्रमाण बतलाया है । निगादिया जानके भयना धुद्रभ्य कहते हैं, क्योंकि उसकी स्थिति सब भयना अपवासे अति जल्प हाता है और वह भय मनुष्य और त्रियज्ञभयायमें ही हाता है । अत मनुष्यायु और त्रियज्ञायु की जगन्म स्थिति धुद्रभ्य प्रमाण बतलाइ है । धुद्रभ्यके कारण प्रमाण निम्न प्रकार है—

जैन फाल्गुननाके अनुसार, असरयात समयकी एक आवली हागी करता है, अत एक अतसुहूर्तमें उतनेही अर्थात् ६६३३६ ही धुद्रभ्य होते हैं । तथा—

“सीदो सट्टी छाल त्रियले चउवीस होति पचवत्त ।

छावट्टि च सहस्सा समय च चचीसमेवसले ॥१२४॥”

‘उन ६६३३६ मकोंमेंसे, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके साठ, चतुरिन्द्रियके ४०, पचेन्द्रियके २४ और एकेन्द्रियके ६६१३२ धुद्रभ्य होते हैं ।’

इस प्रकार दिग्गम्भरीके अनुसार एक आसमें १८ धुद्रभ्य होते हैं ।

१ । १ ज्योतिष्करण्डकम लिखा है—

‘कालो परमनिरद्वो अविभज्जो य तु पाण समय तु ।

समया य असरोज्जा इवद्दु उस्सासनिस्सासो ॥ ८ ॥

उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भज्जण ण्हो ।

पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु त ९ ॥

अट्ठसीस ॥ सवा अट्ठलवो धेव नालिया होइ ।”

अर्थात्—कालके अत्यन्त सूक्ष्म अविभायी वशको समय कहते हैं । असरयात, समयका एक उच्छ्वास निद्रास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं । सात प्राणका एक स्तोत्र, सात स्तोत्रका एक लव, साढ़ अट्ठसीस लवकी एक नागी और ‘वे नालिया मुहुत्तो-दो नालीका एक मुहूर्त होता है ।

है। सख्यात आग्नेया एक उद्वास-निश्वास होता है। अर्थात् एक रोगरहित निश्चित तद्वग पुरुषने एक बार स्वास लेने और त्यागनेके कालको एक उद्वास-निश्वासकाल या द्वासोद्वासकाल कहते हैं। सात द्वासोद्वासकाल एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लघु होता है। साठे अड़तीस लघु एक नाली या घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। अत एव मुहूर्तम द्वासोद्वासका सख्या माहूम करनेके लिय १ मु० \times २ घ० \times ३८ $\frac{1}{2}$ लघु \times ७ स्तोक \times ७ उद्वास, इस प्रकार समको गुणा करनेपर ३७३ सख्या आती है। तथा, एक मुहूर्तमें एव निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है। अत ६५५३६म ३७३ से भाग देनेपर १७३ $\frac{1}{2}$ लघु आता है। अत एक द्वासोद्वासकालमें सतरहसे कुछ अधिक धुद्रमयोंका प्रमाण जानना चाहिये। अर्थात् एक धुद्रमयका काल एव उद्वास निश्वासकालके कुछ अधिक सतरहवें भाग प्रमाण होता है। उतने ही समयमें दो सौ ठगन जागली होती हैं।

यदि आधुनिक कालगणनाके अनुसार धुद्रमयके कालका प्रमाण निराला जावे तो यह इस प्रकार होगा। एक मुहूर्तमें अड़तालीस मिनिट होते हैं, अर्थात् एक मुहूर्त ४८ मिनिटके बराबर होता है। और एक मुहूर्तम ३७३ द्वासोद्वास होते हैं। अत ३७३में ४८से भाग देनेपर एक मिनिटमें साठे अठत्तरके लगभग द्वासोद्वास आते हैं। अर्थात् एक द्वासोद्वासका काल एक सैकण्टसे भी कम होता है, उतने कालमें निगोदिया जीव सतरहसे भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे धुद्रमय की धुद्रताका अनुमान सरलतासे किया जा सकता है।

वैज्ययट्के सिवाय शेष प्रवृत्तियोंके उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थका और सभी प्रवृत्तियोंके अपन्य स्थितिग्रन्थका निरूपण करके, अब उनके उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थके सामियोंका बतलाते हैं—

अविरयसम्भो तित्थ आहारदुगामराठ य पेमत्तो ।

मिच्छदिद्वी बंधइ जिह्ठिठई सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीथङ्कर प्रकृतिवत् उत्कृष्ट स्थिति बंध करता है । प्रमत्तसयत मुनि आहारकद्विक और देवायुना उत्कृष्ट स्थिति बंध करता है । और मिष्यादृष्टि जीव दोष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है ।

भावार्थ—उत्कृष्टस्थितिवंधके स्वामियोंको बतलाते हुए, इस गायाम तीथङ्करप्रकृतिके उत्कृष्टस्थितिवंधका स्वामी (कता) अनिरतसम्यग्दृष्टिको बतलाया है । किंतु उसके सम्यग्धर्म इतना विनोय नसक्य है कि जो अनिरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वग्रहण करनेसे पहले मिष्यात्व गुण स्थानमें नरकापुका बंध कर लेता है, और बादको शायोपशमिक सम्यक्त्वग्रहण करने तीथङ्कर प्रकृतिका बंध करता है, वह मनुष्य जब नरकमें जानेका समय आता है तो सम्यक्त्वको बमन करके मिष्यात्वको अङ्गीकार करता है । जिस समयमें वह सम्यक्त्वको त्यागकर मिष्यात्वको अङ्गीकार

१ प्रकरणशरणाकरके चौथे भागमें 'य पेमत्तो'के स्थानमें 'अपमत्तो' पाठ सुचित है और टिप्पणी में उसका अर्थ प्रमत्तभावके अभिप्राय अप्रमत्त किया है । टिप्पणीमें लिखा है— 'आहारकशरीर तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग, य वे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिवंध प्रमत्तगुणगणाने सन्मुख बंधलो पुरो अप्रमत्त पति से अप्रमत्त गुणगणाने चरमबन्धे बांधे । एना बंधक माई एहिज भतिसदिहए के । तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिवन्धस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो । एण एटलु विनोय जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबन्ध आरभीने अप्रमत्तें चढवो साधु बांधे ।'

कमप्रकृति के स्थितिवन्धाधिकारमें गा० १०२ का व्याख्यान करते हुए उपाध्याय यशोविजयजीने भी आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिवंध प्रमत्त

करता है, उससे पहले समयमें उस अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्यके तीर्थङ्कर प्रवृत्तिना उत्कृष्टस्थितिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थङ्कर प्रवृत्तिना बन्ध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक होता है, किन्तु उत्कृष्टस्थिति उत्कृष्ट सकलेशसे ही प्रवृत्ती है, और वह उत्कृष्ट सकलेश तीर्थङ्कर प्रवृत्तिके बन्धकामेंसे अविरतसम्यग्दृष्टिके ही उस अवस्थामें होता है, जिसका घणन ऊपर किया है। अतः उसका ही ग्रहण किया है। तथा, तीर्थङ्कर गतिमें तो तीर्थङ्कर प्रवृत्तिना बन्ध ही नहीं होता। देवगति और नरकगतिमें उसका बन्ध तो होता है, किन्तु वहाँ तीर्थङ्कर प्रवृत्तिना बन्धक चौथे गुणस्थानसे च्युत होकर मिथ्यात्वके अभिमुख नहीं होता। और ऐसा हुए बिना तीर्थङ्कर प्रवृत्तिके उत्कृष्टस्थितिबन्धना कारण उत्कृष्ट सकलेश नहीं हो सकता। अतः मनुष्यका ग्रहण किया है। तथा, तीर्थङ्करप्रवृत्तिना बन्ध करनेसे पहले जो मनुष्य नरकायुका बन्ध नहीं करता, वह तीर्थङ्कर प्रवृत्तिना

भावके अभिमुख अप्रमत्त मुनिके और देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्त-भावके अभिमुख प्रमत्तयतिके बतलाया है। पञ्चसमूह (प्र० भा०) की टीकाओंमें भी (पृ० २१६) यही बतलाया है। कर्मकाण्डमें भी लिखा है—

“देवाउग पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो ह ।

तिरधयर च मनुस्तो अविरदसम्मो समउमेह ॥ १३६ ॥”

अर्थात्—देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध अप्रमत्तभावके अभिमुख प्रमत्तयति करता है और आहारकद्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तभावके अभिमुख अप्रमत्तयति करता है। इसप्रकार एक समी उल्लेखोंके आधारपर आहारक द्विकका उत्कृष्टस्थितिबन्ध सातवें गुणस्थानमें उस समय होता है जब जीव छठे गुणस्थानके अभिमुख होता है। किन्तु कर्मग्रन्थके रचयिताके अनुसार सातवेंसे छठेमें आने पर होता है। उन्होंने अपनी स्वोपश टीकामें यही अर्थ किया है। इसलिये हमने ‘अपमत्तो’ पाठ न रखकर ‘य पमत्तो’ रखा है। भावनगरसे प्रकाशित नवीन संस्करणमें भी ‘यही पाठ

बन्धन करके बाध नरकमें उतार नहीं होता, अतः ऐसे मनुष्यका प्रहण किया है जो तापद्वार प्रवृत्ति का बाध करनेसे पहले नरकसी आयु बाध लेता है। तथा, राजा भेषिककी तरह कोढ़ कोढ़ शायिक सम्यग्दृष्टि और सम्यक्त्व दानाम् बाँ मरकर नरकमें जा सकते हैं, किन्तु विगुह परिणाम होनेके कारण वे जब तीर्थद्वार प्रवृत्ति उत्कृष्ट स्थितिमें नहीं कर सकते, और उसका ही यहाँ प्रकरण है। अतः उनका प्रहण न करके, मिथ्यात्वके अग्नि मुग्ध अनिरत सम्यग्दृष्टि ही प्रहण किया है। सारांश यह है कि चौपे गुण स्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानतक तीर्थद्वार प्रवृत्ति बाध हो सकता है। किन्तु उत्कृष्टस्थिति बाधके लिये उत्कृष्ट संकल्पकी आवश्यकता है, और तापद्वार प्रवृत्तिके बाधक मनुष्यके उसी देशमें उत्कृष्ट संकल्प हो सकता है, जब वह मिथ्यात्वके अग्निमुग्ध हो। और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्वके अग्निमुग्ध तभी होता है जब तीर्थद्वार प्रवृत्ति बाध करनेसे पहले उसने नरकायुका बाध कर लिया हो। अतः नरकनरकायु अनिरत सम्यग्दृष्टि

१ पञ्चमस्कन्ध प्र० भा० पृ० २३६ में मलयगिरिटीका में लिखा है—

“तथा चोक्तं तत्तच्छूर्णो विषयवर्णनामस्त उद्धोसठिह मणुरसो असज्जभो धेयगन्धमहिद्री पुत्र नरगन्धर्वान्तरो नरगाभिमुखो मिच्छस पडिवज्जिह्वी इति अतिमे ठिह्वये घट्टमाणो ययह, तत्तच्छूर्णो अहसकिलिह्वोत्ति काउ। जो सम्मत्तण साहगेण नरग ययह सो तभो त्रिभुदपरोत्ति काउ तम्मि उद्धोसो न हवह ति।” अर्थात् क्षतकचूर्णि में कहा है कि जो मनुष्य असज्ज वेदक सम्यग्दृष्टि पहले नरकायुका बाध कर चुकने के कारण नरक के अग्निमुग्ध होता हुआ अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त करेगा, वह अन्तिम स्थितिबाधमें वतमान रहते हुए तीर्थद्वार नामकी उत्कृष्टस्थितिको बाधता है। तीर्थद्वारके बाधकोंमें उसीने अति सक्रिय परिणाम होता है। जो शायिकसम्यक्त्वसे नरक जाता है, वह उससे विशुद्धतर है, अतः उसका नहीं किया है।

मनुष्य जन्म मिथ्यात्वके अभिमुख होता है, उसी समय उसके तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होना है ।

तथा, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्गता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्त गुणस्थानसे व्युत्पन्न हुआ प्रमत्त-सयत्त मुनि करता है । क्योंकि इन प्रकृतियों के भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिये उत्कृष्ट संकलेश होना आवश्यक है । और उनके बन्धन प्रमत्त मुनिके उसी समय उत्कृष्ट संकलेश होता है, जब वह अप्रमत्त गुणस्थानसे व्युत्पन्न होकर छोटे गुणस्थानमें आता है । अतः उसने ही उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जानना चाहिये ।

तथा, देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसयत्त गुणस्थानके अभिमुख प्रमत्तसयत्त मुनिके ही होता है । क्योंकि यह स्थिति शुभ है, अतः इसका बन्ध विगुह, दग्गम हा होता है । और यह विगुह दग्गम अप्रमत्त मायके अभिमुख प्रमत्तसयत्त मुनिके ही होती है ।

शुद्धा—यदि देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विगुह मायोंसे होता है तो अप्रमत्तसयत्त गुणस्थानमें ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नतलाना चाहिये,

१ आहारकद्विकके बन्धकके बारेमें कमग्रन्थकी टीकामें लिखा है—‘तथा ‘आहारकद्विक’ आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण ‘पमत्तु’त्ति प्रमत्त सयत्तो अप्रमत्तभावादिवर्तमान इति विशेषो दृश्य, उत्कृष्टस्थितिक वक्ष्याति । अगुमा हीय स्थितिरित्युत्कृष्टसंकलेशेनोत्कृष्टा वक्ष्यते, तद्वन्ध कश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तमागदिवर्तमान एवोत्कृष्टसंकलेशयुक्ते हन्वते इतीत्यं निदिश्यते ।’ इसका अर्थ ऊपर दिया ही गया है ।

२ ‘सम्वाणं निर्दे अमुमा उद्धोमुद्धोससकिलेसेण ।

इयरा उ विसोहीणं सुरनरतिरिआउणं मोत्तु ॥ २७१ ॥’ पञ्चस०

अर्थात्—‘देवायु, नरायु और त्रिययायुको छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्टस्थिति अगुम होती है, और उसका बन्ध उत्कृष्ट संकलेशसे होता है । तथा विगुहपरिणामोंसे अगुम स्थितिबन्ध होता है ।’

क्योंकि प्रमत्तसयत मुनिसे, भले ही वह अप्रमत्त भावके धमिगुप्त हो, अप्रमत्त मुनिके भाव निशुद्ध होते हैं ।

समाधान—अप्रमत्त गुणस्थानमें देवायुके बंधका आरम्भ नहीं होता, किंतु प्रमत्त गुणस्थानमें प्रारम्भ हुआ देवायुका बंध कभी कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें पूर्ण होता है । द्वितीय कमप्रेथमें छठे और सातवें गुणस्थानमें बंधप्रकृतियोंकी सख्या मतलते हुए जो कुछ लिखा है उससे यही आशय निकलता है कि जो प्रमत्त मुनि देवायुके बंधका प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो उसी गुणस्थानमें देवायुके बंधका प्रारम्भ करके उसीमें उसकी समाप्ति कर लेते हैं और दूसरे छठे गुणस्थानमें उसका बंध प्रारम्भ करके सातवेंमें उसकी पूर्ति करते हैं । अतः अप्रमत्त अवस्थाम देवायुके बंधकी समाप्ति तो हो सकती है किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता । इसीलिये देवायुके उत्कृष्ट स्थितिवर्धका

१ 'तेवद्वि पमत्ते सोग अरह् अभिरदुग भजस अस्ताय ।

मुच्छिउम छय सत्त व नेह मुराउ जया निद्व ॥ ७ ॥

गुणमद्वि अपमत्ते मुराउबध हु जह इहागच्छे ।

अहह अट्ठावन्ना, ज आहारगदुग बधे ॥ ८ ॥'

अर्थात्—प्रमत्त गुणस्थानमें त्रैसठ प्रकृतियोंका बंध होता है और छह प्रकृतियोंकी म्युच्छिति होती है । यदि देवायुके बंधकी पूर्ति भी यहीं हुई तो सातकी म्युच्छिति होती है । अप्रमत्त गुणस्थानमें, यदि देवायुका बंध वहाँ चला आया तो उनसठ प्रकृतियोंका बंध होता है, अथवा अट्ठावनका बंध होना है क्योंकि वहाँ आहारकद्विकका भी बंध होता है ।'

समार्पणसिद्धिमें भी देवायुके बंधका आरम्भ मुख्यतया छठवें गुणस्थानमें ही बतलाया है । यथा—'देवायुवधारम्भस्य प्रमाद पक्क हेतुर प्रमादोऽपि तद्व्यासञ्च ।' पृ० २३८ ।

स्वामी अप्रमत्तको न बतलाकर अप्रमत्त भावके अभिमुख प्रमत्त सयमीको बतलाया है ।

आहारकद्विक, तीर्थङ्कर और देवायुके सिवाय शेष ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है, क्योंकि पहले लिख आये हैं कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रायः संकलेशसे ही होता है, और सब बन्धनोंमें मिथ्या-दृष्टिके ही विशेष संकलेश पाया जाता है । किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन ११६ प्रकृतियोंमेंसे मनुष्यायु और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिसे होता है, अतः इन दोनोंका बन्धक सविलम्ब परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है ।

शुद्धा—मनुष्यायुका बन्ध चौथे गुणस्थानतक होता है और तिर्यगायुका बन्ध दूसरे गुणस्थानतक होता है । अतः मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये और तिर्यगायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सात्वादन सम्यग्दृष्टिके होना चाहिये । क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि और सात्वादनसम्यग्दृष्टिके परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, और तिर्यगायु तथा मनुष्यायुके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके लिये विशुद्ध परिणामोंकी ही आवश्यकता है ।

समाधान—यह सत्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके परिणाम मिथ्या-दृष्टिकी अपेक्षासे विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हास्यता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यगायुकी उत्कृष्टस्थिति तीन पत्योपम है और यह उत्कृष्टस्थिति भोगभूमिज मनुष्या और तिर्यग्वाके ही होती है । परन्तु चतुर्थगुणस्थानगती देव और नारक मनुष्यायुका बन्ध करके भी कर्मभूमिमें ही जमलेते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यग्वा, यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हा तो देवायुका ही बन्ध करते हैं । अतः चतुर्थ गुण-स्थानकी विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायुके बन्धका कारण नहीं हास्यती । तथा, दूसरा गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्वका चमन करके

मिथ्यात्वने अभिमुख होता है । जब सम्यक्त्वगुणने अभिमुख मिथ्यादृष्टि की ओर उसे सम्यक्त्वगुणस्य विमुख मामादनमस्यगृह्यिके अधिन विशुद्धि नहीं हास्यती । इसलिये त्रियञ्चायु और मनुष्यायुस उत्कृष्ट स्थितिप्रथ सास्वादनसम्यगृह्यिके नहीं हा मक्ता ।

सकल्ल मिथ्यागृह्यिके ११६ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिप्रथ सामान्यसे मतलब है । उन चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव त्रिन किन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिप्रथ करते हैं, यह विस्तारसे बतलाने हैं—

**विगलसुहृमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउब्बिनिरयदुग ।
एगिद्विथामरायव आईसाणा सुरुषोस ॥ ४३ ॥**

अर्थ—त्रिमल्लिग (दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मल्लिग (सूक्ष्म, अपवास और साधारण), आयुल्लिग (नरकायु, त्रियञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विग (देवगति, देवानुपूर्वी), दैन्यल्लिग और नारकल्लिगका उत्कृष्ट स्थितिप्रथ मिथ्यादृष्टि त्रियञ्च और मनुष्योंने ही हाता है । तथा, एकेन्द्रिय जाति, स्थायर, और आतरागमस उत्कृष्ट स्थितिप्रथ इजान रग तन्के देव करते हैं ।

भावार्थ—इस गायाम पद्वह प्रकृतियोंका उत्कृष्टस्थितिप्रथ त्रियञ्च और मनुष्यके तथा तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिप्रथ भयनवासो, व्यन्तर, लोकोत्थिग तथा सौघम और इजान रगके देवाने मतलब है । पन्द्रह प्रकृतियोंमें से त्रियञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका सब देवगति और नरकगति मता जससे ही नहीं होता । तथा, त्रियञ्चायु और मनुष्यायुसी उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्य है, जो भाग भूमिका में ही हाती है । किन्तु देव और नारक मरकरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं । जब इन पन्द्रह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिप्रथ मनुष्य और त्रियञ्चके ही बतलाया है । इसी प्रकार शेष तीन प्रकृतियोंका

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध इंगान स्वर्ग तरफे देवोंके बतलाया है, क्योंकि ईशान स्वर्गसे ऊपरके देव तो एकेन्द्रिय जातिमें जन्म ही नहीं लेते, अतः एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियोंका बन्ध उनके नहीं होता । तथा, त्रियज्ञ और मनुष्योंके यदि इस प्रकारके सक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, अतः उनके भी एकेन्द्रियजाति आदि तीन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता । किन्तु इंगान स्वर्ग तरफे देवोंमें यदि इस प्रकारके सक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं, क्योंकि देव भस्कर नरकमें जन्म नहीं लेता है । अतः पद्महना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रियज्ञ और मनुष्य गतिमें तथा तीनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देवगतिमें ही जानना चाहिये ॥

अब शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हैं—

१ कर्मकाण्डमें भा ११६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाते हुए लिखा है—

‘गारितरिया सेसाउ वेगुविषयछवियलमुहुमतिय ।

सुरगिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसपत्त ॥१३७॥

देवा पुण ण्हदिय आदाव थावर च सेसाण ।

उक्कस्समकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमग्गिमया ॥१३८॥”

अर्थात्— देवायुके निम्न शेष तीन आयु, वैक्किमिक्कपट्ट, विक्कन्निक, और सूक्कन्निकका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यक्ष करते हैं । औगारिक्कदिक, तिर्यक्कदिक उद्योत, और असप्राप्तासृष्टाटिका सहननका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं । एकेन्द्रिय, आतप और स्थावरका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं । और शेष ९२ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संकल्पवाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ।

मिथ्यात्वके अभिमुख होता है । अतः सम्यक्त्वगुणके अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे सम्यक्त्वगुणमें प्रमुख साक्षादनसम्यग्दृष्टिमें अधिष्ठ विवृद्धि नदा हो सकती । इसमें त्रिविधायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट स्थितिग्रह साक्षादनसम्यग्दृष्टिके नहीं हो सकता ।

सर्वत्र मिथ्यादृष्टिके ११६ प्रवृत्तियाँका उत्कृष्ट स्थितिग्रह सामान्यतः बतलाया है । अब चारों गतियोंके मिथ्यादृष्टि जीव भिन किन प्रवृत्तियोंका उत्कृष्ट स्थितिग्रह करते हैं, यह विस्तारसे बतलाते हैं—

**विगलसुहृमाउगतिग विरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग ।
एगिदिधावरायव आईसाणा सुरकोम ॥ ४३ ॥**

अर्थ—त्रिगुणिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति), सन्मनिक (सूक्ष्म, अन्वक्त आर साधारण), आयुनिक (नरमायु, त्रिविध आयु और मनुष्यायु), सुगदिक (देवगति, देवायुग), वैश्वानरिक और नारकद्विजका उत्कृष्ट स्थितिग्रह मिथ्यादृष्टि त्रिविध और मनुष्योंके ही हाता है । तथा, एकैन्द्रिय जाति, स्थावर, और आवरागमका उत्कृष्ट स्थितिग्रह इष्टान स्वर्ग तन्के देव करते हैं ।

भावार्थ—इस गायाम पद्वह प्रवृत्तियोंका उत्कृष्टस्थितिग्रह त्रिविध और मनुष्याके तथा तीन प्रवृत्तियोंका उत्कृष्ट स्थितिग्रह भवनासी, व्यन्तर, यातिन तथा सौधम और इष्टान स्वर्गके देवोंके बतलाया है । पद्वह प्रवृत्तियोंमें से त्रिविधायु और मनुष्यायु के विषय दोष तेरह प्रवृत्तियोंका वध देवगति और नरमायु मत्ता जन्मसे ही नहीं होता । तथा, त्रिविधायु और मनुष्यायुकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पद्वह, जो भोगभूमिजों में ही होती है । किंतु देव और नारक भस्वरके भोगभूमिमें जन्म नहीं ले सकते हैं । अतः इन पद्वह प्रवृत्तियोंका उत्कृष्ट स्थितिग्रह मनुष्य और त्रिविधके ही बतलाया है । इसी प्रकार दोष तीन प्रवृत्तियोंका

हैं और सभी जीव भी करते हैं। उनमेंसे देवायु और नरकायुना जघन्य स्थितिबन्ध पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य करते हैं, तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्चायुना जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय वगैरह करते हैं। शेष ८५ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितियन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है, क्योंकि प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध को बतलाते हुए यह लिख आये हैं कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके ही होता है, क्योंकि उनके बन्धनामें वही विशेष विगुद्धिवाला होता है। अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विगुद्धि न दानेके कारण उक्त प्रकृतियोंको अधिक स्थिति बाधते हैं। तथा, यद्यपि विकलेन्द्रियादिमें एकेन्द्रियासे अधिक विगुद्धि होती है, किन्तु वे स्वभावसे ही प्रस्तुत प्रकृतियोंकी अधिक स्थिति बाधते हैं, अतः शेष प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका स्वामी बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवको ही बतलाया है।

प्रकृतियोंके स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाकर, अब स्थितिबन्धमें उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं—

उक्कोसजहनेयरमगा साइ अणाइ धुव अधुवा ।

चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥

अर्थ—बन्धके चार भेद हैं—उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध। दूसरी तरहसे भी बन्धके चार भेद हैं—सादि बन्ध, अनादिबन्ध, भुवबन्ध और अभुवबन्ध। आयुक्रमके सिवाय शेष सात कर्मोंका अजघन्यबन्ध चार प्रकारका होता है। तथा, उन कर्मोंके शेष तीन बन्ध और आयुक्रमके चार बन्ध सादि और अभुव, इस तरह दो ही प्रकारके होते हैं।

१ कर्मकाण्ड गा० १५१ में, कर्मप्रकृति पृ० २०२ बन्धनकरणमें और पञ्चसङ्ग्रह गा० २७० में जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियोंको बतलाया है।

साय-त्रसुच्चावरणा विग्ध सुहृमो विउम्बिछ असन्नी ।
सन्नीवि आउ वायग्गज्जेगिदिउ सेसाण ॥ ४५ ॥

अर्थ—सात वेदनीय, यश रीति, उच्चगोन, पाँच शानावरण, चार दशनावरण, पाँच अन्तराय, इन प्रकृतियाँका जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म-सान्प्रराय नामक दसवें गुणस्थानके अन्तमें होता है । वैत्रियपङ्क अथात् वैत्रियद्विक, नरकद्विक और देवद्विकका जघन्य स्थितिबन्ध असन्नी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च करता है । चारों आयुओंका जघन्य स्थितिबन्ध सन्नी और असन्नी, दोनों ही करते हैं । तथा, शेष प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध यादर पयासक एकेन्द्रिय जीव करता है ।

भावार्थ—जघन्य स्थितिबन्धके स्वामियाने बतलाते हुए इस गायाम सात वेदनीय आदि सत्त्व प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धका न्यामी सूक्ष्म-सान्प्ररायनामको बतलाया है, क्योंकि सात वेदनीयके सिवा शेष सोलह प्रकृतियाँ इसी गुणस्थान तक घबती हैं, अतः उनसे बन्धकमें वही गुणस्थान विशेष विरुद्ध है । तथा, यद्यपि सात वेदनीयका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है, तथापि स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबन्धका कारण कपाय है और कपायका उदय दसवें गुणस्थान तक ही होता है । अतः सात वेदनीयका जघन्य स्थितिबन्ध भी दसवें गुणस्थानमें ही बतलाया है ।

वैत्रियपङ्कका जघन्य स्थितिबन्ध असन्नी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च करते हैं, क्योंकि देव, नारक, और एकेन्द्रिय तो नरकगति और देवगति में जन्म ही नहीं ले सकते, और सन्नी तिर्यञ्च तथा मनुष्य स्वभावसे ही उक्त छह प्रकृतियोंका मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं । अतः अष्टा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ही उनका जघन्य स्थितिबन्ध बतलाया है ।

आयुक्रमकी चारों प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध असन्नी जीव भी करते

अतः ग्यारहवें गुणस्थानमें अजघन्य बंध न करके, वहासे व्युत्पन्न होकर जत्र जीव पुनः सात कर्मोंका अजघन्य बंध करता है, तब वह बंध सादि कहलाता है। नौवें दसवें आदि गुणस्थानोंमें आनेसे पहले उक्त सात कर्मोंका जो अजघन्य बंध होता है, वह अनादि कहलाता है, क्योंकि अनादिकालसे निरन्तर उसका बंध होता रहता है। अभव्यके जो अजघन्य बंध होता है, वह ध्रुव कहलाता है, क्योंकि उसका अन्त नहीं होता है। और मध्यके जो अजघन्य बंध होता है, वह अध्रुव कहा जाता है, क्योंकि उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार सात कर्मोंके अजघन्य बंधमें चारों ही भेद होते हैं। किंतु शेष तीन बंधोंमें सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। क्योंकि हम लिख आये हैं कि मोहनीयकर्मका नौवें गुणस्थानके अन्तमें और शेष छह कर्मोंका दसवें गुणस्थानके अन्तमें अजघन्य स्थितिवन्ध होता है, इससे पहले नहीं होता है, अतः वह बंध सादि है। तथा, उसके बाद बारहवें आदि गुणस्थानोंमें उसका सबंधा जभाव होजाता है, अतः वह अध्रुव है। इस प्रकार अजघन्य बंधमें केवल दो ही विस्मृत्य होते हैं। तथा उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सखिलष्ट परिणामी पश्चात् सभी पञ्चेन्द्रिय भिष्यादृष्टि जीवके ही होता है। यह बंध कभी कभी ही होता है, सर्वदा नहीं होता, अतः सादि है। तथा, अन्तर्मुहूर्तके बाद नियमसे इसका स्थान अनुत्कृष्ट बंध ले लेता है, अतः अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्ट बंधमें भी दो ही विस्मृत्य होते हैं। उत्कृष्ट बंधके पश्चात् अनुत्कृष्ट बंध होता है, अतः वह सादि है और कमसे कम अन्तर्मुहूर्तके बाद और अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बाद उत्कृष्ट बंधके होनेपर अनुत्कृष्ट बंध रुक जाता है अतः वह अध्रुव कहा जाता है। सारांश यह है कि उत्कृष्ट बंध लगातार अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बंध लगातार अधिकसे अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल है। उसके बाद दो-दूसरेका स्थान ले लेते हैं,

अजघन्य बन्धके चारों ही विकल्प होने हैं, जो मूलकर्मोंके अजघन्यबन्ध ही की तरह जानने चाहिये । अथात् उपशमश्रेणिमें इन अष्टारह प्रकृतियोंने बन्धना विच्छेद करने, वहासे च्युत होकर जत्र पुन उनका अजघन्य बन्ध करता है तो वह रूध सादि होता है । उपशमश्रेणि चढने से पहले वह रूध अनादि होता है । तथा, अभ्युक्ता वही बन्ध ध्रुव होता है और मध्यमा अभ्रुव होता है । इसी अष्टारह प्रकृतियोंके दोष तीन बन्ध सादि और अभ्रुव, दा ही तरह के होते हैं, क्योंकि नौवें गुणस्थानमें अपनी अपनी बन्धव्युच्छित्तिके समय सज्जनचतुष्कका जघन्य बन्ध होता है । तथा, दसवें गुणस्थानके अन्तम दोष चौदह प्रकृतियोंका जघन्य रूध होता है । यह बन्ध इन गुणस्थानोंमें आनेसे पहले नष्ट होता, अत सादि है और आगेके गुणस्थानोंमें जानेपर विलुप्त रुक जाता है, अत अभ्रुव है । इसी प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टरूध भी समस्त लेना चाहिये, क्योंकि ये दाना बन्ध भी परिवर्तित होते रहते हैं, कभी जीव उत्कृष्टबन्ध करता है और कभी अनुत्कृष्टबन्ध करता है ।

दोष एक से दो प्रकृतियोंके चारों ही प्रकारके बन्धोंके सादि और अभ्रुव भेद ही होते हैं, क्योंकि पौंच निद्रा, मिथ्यात्व, प्रारम्भनी नारह कषाय, मय, बुगुप्ता, तैजस, कामण, रग चतुष्क, अगुरुभु, उपघात और निमाण, इन उनतीस प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध विगुदियुक्त बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है । अन्तर्मुहूर्तके बाद वही जीव सकल्प

१ 'अष्टारसण्ह खवगो, यादर एगिदि सेस धुवियाण ।

पज्जो कुणह् अहञ्ज सार्ह अघुवो अभो एसो ॥२६८॥' पचस० ।

अर्थ-अष्टारह प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध क्षणिक श्रेणीमें होता है, और दोष ध्रुव प्रकृतियोंका जघन्यबन्ध बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है । अत यह बन्ध भी सादि और अभ्रुव होता है ।

परिणामी होनेपर उन प्रकृतियोंका अपघन्य बंध करता है । उसके बाद उसी भ्रममें अथवा दूसरे भ्रम निवृद्ध परिणाम होनेपर वही जीव पुनः उनका जघन्य बंध करता है । इस प्रकार जघन्य और अपघन्य बंध बदलते रहते हैं, अतः दोनों हां सादि और अभ्युय होते हैं । तथा, इही उनकी प्रकृतिशाका उत्कृष्ट बंध सकलपरिणामी पञ्चेन्द्रिय जीव करता है । अतःसुखके बाद वही जीव उनका अनुत्कृष्ट बंध करता है, उसके बाद पुनः उत्कृष्ट बंध करता है । इस प्रकार बदलते रहनेके कारण ये दोनों बंध भी सादि और अभ्युय होते हैं । शेष ७३ प्रकृतियों अभ्युयबन्धिना हैं, अतः अभ्युयबन्धिनी होनेके कारण ही उनके जघन्य आदि स्थितिवन्ध सादि और अभ्युय होते हैं । इस प्रकार उत्तर प्रकृतियोंका बंधों में सादि आदि मझाने जानना चाहिये ।

स्थितिवन्धमें सादि आदि मझाना निरूपण करके अब गुणस्थानोंमें स्थितिवन्ध विचार करते हैं—

• साणाइअपुव्वते अयरतो कोडिकोडिउ न हिगो ।

बधो न हु हीणो न य मिच्छ मन्नियरसन्नमि ॥ ४८ ॥

अर्थ—सात्यादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त कोटीकोटीसागरसे न तो अधिक ही स्थिति बधता है और न कम हा बधती है । तथा अन्य सही मिध्यादृष्टिके और अभव्य सहा मिध्यादृष्टिके भी अन्त कोटीकोटीसागरसे कम स्थितिवन्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—गहले सामान्यसे और पीछे एकेन्द्रियादिक जीवोंकी अपक्षासे स्थितिवन्धका प्रमाण बतलाया था । इस गायामें गुणस्थानोंकी

१ कर्मप्रकृति, बंधनकरणमें पृ० २०० स, पञ्चसङ्ग्रहमें भा० २६६ ॥

और कर्मकाण्डकी गायी १५२-१५३में स्थितिवन्धमें उक्त मन्त्रोंका निरूपण किया है ।

अपेक्षासे उसका प्रमाण बतलाया है । अर्थात् यहाँ यह बतलाया है कि इस गुणस्थानमें कितना स्थितिबन्ध होता है ? सात्वादन गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता है । इससे यह आशय निकलता है कि अन्त कोटीकोटीसागरसे अधिक स्थितिबन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है । सारांश यह है कि सात्वादन आदि गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वप्रथिना भेदन कर देते हैं, अतः उनके अन्त कोटीकोटीसागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक बन्ध नहीं होता ।

शुद्धा—कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें मिथ्यात्वप्रथिना भेदन करनेवालोंके भी मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटीकोटी सागर प्रमाण बतलाया है । ऐसी दृष्टिसे यह बचन ठीक नहीं है कि सात्वादनसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तकके जीव मिथ्यात्वप्रथिना भेदन कर देते हैं, इसलिये उनके अन्त कोटी कोटी सागरसे अधिक बन्ध नही होता है ।

समाधान—यह ठीक है कि ग्रन्थिना भेदन करनेवालोंके भा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, किन्तु सम्यक्त्वका वमन करके जा पुन मिथ्यात्व-गुणस्थानमें आ जाते हैं, उनके ही यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है । यहाँ तो प्रथिना भेदन कर देनेवाले सात्वादन आदिके ही उत्कृष्ट स्थितिबन्धका निषेध किया है, अतः काह दोष नहीं है । आवश्यक आदि ग्रन्थोंमें

१ 'यतोऽप्याप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्योत्कृष्ट स्थिती कर्मप्रकृतीर्यच्छेदति, 'यथेन न योल्लङ्घ्ययाह' इति वचनात् । एष सिद्धांतिकाभिप्राय । कर्मप्रथिनास्तु भिन्नग्रन्थेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति प्रतिपत्त्या ।' आव० नि० टी० पृ० १११ उ० ।

अर्थात्—सम्यक्त्वको प्राप्त करके, उसके छूट जानेपर भी एक बार प्रथिना भेदन करनेके बाद कर्मप्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता,

औ प्रथिमा भेदन कर देनेवाले मिथ्यादृष्टिके भा उत्कृष्टवर्षका प्रतिश्रुत क्रिया है, यह सैदान्तिकोंका मत है । कमशक्तिियोंके मतसे वा यदि मिथ्यादृष्टिके भी मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति बधनी है, किन्तु उसमें उतनी मात्र अनुभाग शक्ति नहीं होती । अतः सात्त्वादनसे अपूर्वकरण गुणस्थान तक अतः कागीकोगी सागरसे अधिक स्थितिबन्ध नहीं होता । तथा, उससे कम भी नहीं होता । कारण यह है कि दूसरेसे आठवें गुणस्थान तक अन्त कोगीकोगी सागर प्रमाण ही स्थिति बधती है, न इससे अधिक बधती है और न कम ।

शङ्का—नर एकेन्द्रिय आदि कीर सात्त्वादन गुणस्थानमें होते हैं, उस समय उनके है सागर आदि प्रमाण ही स्थिति बधनी है । अतः सात्त्वादन जाति गुणस्थानोंमें अन्त कोगीकोगी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं जचता ।

समाधान—उक्त आशङ्का उपयुक्त है । किन्तु इस प्रकारकी घटनाएँ वरचित ही होती हैं, अतः उसकी विन्यास नहीं की है । अन्तः

अपूर्वकरण गुणस्थानतक अन्त कोगीकोगी सागरसे हीन स्थिति बधना निषेध करनेसे यह स्पष्ट ही है कि उससे आगे अनिशुचिकरण वगैरह गुणस्थानोंमें अन्त कोगीकोगीसागरसे भी कम स्थितिबन्ध होता है ।

सात्त्वादन वगैरहम अतः कोगीकोगीसागरसे कम स्थितिबन्धका निषेध करनेसे स्पष्टात यह जाननेकी रुचि होती है कि क्या वाह मिथ्यादृष्टि जी-

क्योंकि बधेण न चोलइ कथाइ' ऐसा शास्त्रमें लिखा है । किन्तु यह सिद्धांत शक्तिियोंका मत है । कमशक्तिियोंके मतसे तो प्रथिमा भेदन कर देनेपर भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है ।

१ "सत्यमेतत्, केवल कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक् इति न तस्य त्रिवक्षा कृता, इति सम्भावयामि ।" पञ्चमकर्म० स्वोपज्ञ टी० ।

भी ऐसा होता है, जिसके अन्त कोटी-मोटीसागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता । इसीसे अन्यत्राने मतलब है कि मव्य सञ्जी मिथ्यादृष्टिके और अमव्य सञ्जी मिथ्यादृष्टिके भी अन्त कोटी-मोटी सागरसे कम स्थितिबन्ध नहीं होता । यहाँ मव्यसञ्जीके साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगानेसे यह आशय निम्नलता है कि मव्यसञ्जीके अनिवृत्तिवादर आदि गुणस्थानानाम हीन बन्ध भी होता है । तथा, सञ्जी विशेषण लगानेसे यह आशय निम्नलता है कि मव्य असञ्जीके हीन स्थितिबन्ध होता है । अमव्य सञ्जीके तो अन्त कोटी-मोटीसागरसे हीन स्थितिबन्ध होता ही नहा है, क्योंकि ग्रन्थिना भेदन करनेवालेके ही हीन स्थितिबन्ध होता है । किन्तु अमव्यसञ्जी अधिकसे अधिक ग्रन्थिदेश तक तो पहुँच जाता है, किन्तु उसना भेदन करनेम असमय होनेके कारण पुन नीचे जा जाता है ।

गुणस्थानोमें स्थितिबन्धना निरूपण करके, अब तीन गाथाओंके द्वारा एकेन्द्रियादि जीवोंकी अपेक्षासे स्थितिबन्धना अल्पमहुच मतगतते हैं—

जहलहुचन्धो वायर पज्ज असरयगुण सुहुमपज्जहिगो ।

एसि अपज्जाण लहु सुहुमेअरअपजपज्ज गुरु ॥ ४९ ॥

लहु निय पज्जअपज्जे अपजेयर विय गुरु हिगो एव ।

ति चउ अमन्निसु नवर सखगुणो वियअमणपज्जे ॥ ५० ॥

तो जइजिहो बधो सखगुणो देसविरय हस्सियरो ।

सम्मचउ सन्नचउरो ठिइयधाणुकम सखगुणा ॥ ५१ ॥

अर्थ—१ सबसे जयन्य स्थितिबन्ध यति अर्थात् सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थाननर्ती साधुके होता है । २-उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रियका जयन्य स्थितिबन्ध असख्यातगुणा है । ३-उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जयन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ४-उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रियके होनेवाला जयन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ५-उससे सूक्ष्म

अप्याप्तक एकेन्द्रियता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ६-उससे सूक्ष्म अप्याप्तक एकेन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ७-उससे वादर अप्याप्तक एकेन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ८-उससे सूक्ष्म प्याप्तक एकेन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । ९-उससे वादर प्याप्तक एकेन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १०-उससे द्वीन्द्रिय प्याप्तकता जघन्य स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है । ११-उससे द्वीन्द्रिय अप्याप्तकता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १२-उससे द्वीन्द्रिय अप्याप्तकता का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १३-उससे द्वीन्द्रिय प्याप्तकता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १४-उससे त्रीन्द्रिय प्याप्तकता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १५-उससे त्रीन्द्रिय अप्याप्तकता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १६-उससे त्रीन्द्रिय अप्याप्तकता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १७-उससे त्रीन्द्रिय प्याप्तकता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अधिक है । १८-उससे प्याप्तक चतुरिन्द्रियता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । १९-उससे अप्याप्त चतुरिन्द्रियता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २०-उससे अप्याप्त चतुरिन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २१-उससे प्याप्त चतुरिन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २२-उससे प्याप्त असजी पचेन्द्रियता जघन्य स्थितिबन्ध सख्यात गुणा है । २३-उससे अप्याप्त असजी पचेन्द्रियता जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २४-उससे अप्याप्त असजी पचेन्द्रियता का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २५-उससे प्याप्त असजी पचेन्द्रियता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है । २६-उससे सद्यता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है । २७-उससे देशसद्यता जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है । २८-उससे देशसद्यता उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है । २९-उससे प्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य स्थितिबन्ध सख्यातगुणा है । ३०-उससे अप्याप्त सम्यग्दृष्टिका जघन्य

१ स्वोपज्जदीकामे अविरत सम्यग्दृष्टे और सञ्जिपचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिमें

स्थितिवन्ध सख्यात गुणा है । ३१-उससे अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सख्यात गुणा है । ३२-उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सख्यात गुणा है । ३३-उससे अपर्याप्त सजी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सख्यात गुणा है । ३४-उससे पर्याप्त सजी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका जघन्य स्थितिवन्ध सख्यातगुणा है । ३५-उससे अपर्याप्त सजी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सख्यातगुणा है । ३६-उससे सजी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सख्यात गुणा है ।

भावार्थ—इन तीन गायार्थोंके द्वारा यह बतलाया गया है कि किस जावने अधिक स्थितिवन्ध होता है और किस जीवके कम स्थितिवन्ध होता है । इसीका अल्पग्रहत्व कहते हैं । सबसे जघन्य स्थितिवन्ध दसवें गुणस्थानमें होता है, उससे हीन स्थितिवन्ध किसी भी जीवने नहीं होता । यद्यपि आगेके गुणस्थानोंमें एक समयका ही स्थितिवन्ध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं अतः वहाँ स्थितिवन्धकी निश्चया ही नहीं है । इसीलिये दसवें गुणस्थानसे ही स्थितिवन्धके अल्पग्रहत्वका वर्णन प्रारम्भ होता है । और पर्याप्त सजी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिके सबसे उत्कृष्ट स्थितिवन्ध होता है, अतः वह वर्णन वहाँ आकर समाप्त होता है । स्थिति-

स्थितिका अल्पग्रहत्व बतलात हुए अपर्याप्तकके जघन्य स्थितिवन्धमें पर्याप्तका जघन्य स्थितिवन्ध सख्यात गुणा बतलाया है । अर्थात् अपर्याप्तका जघन्य स्थान पहले रखा है और पर्याप्तका जघन्य स्थान बादको रक्खा है । किन्तु गुजराती टीनेमें तथा कर्मप्रकृति (बन्धनकरण) की गा० ८१ की प्राचीन चूर्णि और दोनों टीकाओंमें पर्याप्तके जघन्य स्थितिवन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिवन्ध सख्यातगुणा बतलाया है । तथा कमग्रन्थमें भी द्वौन्द्रियादिकमें पर्याप्तकके जघन्य स्थितिवन्धसे अपर्याप्तका जघन्य स्थितिवन्ध ही अधिक बतलाया है । इसलिये उक्त दोनों स्थानोंमें भी हमने वही क्रम रखा है । स्वोपज्ञीका का वह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

होता है। किन्तु सञ्ज्ञानचेन्द्रिय होनेके कारण सयमी मनुष्यकी चैतन्यशक्ति गूढ़ निहित होजाती है, अतः यद्यपि सयमी होनेके कारण सञ्ज्ञानचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे अपभ्रष्टसे ज्ञान स्थितिग्रथ बहुत कम होता है, तथापि अष्टादश पञ्चोद्वयकी अपभ्रष्टसे वह अधिक ही है। यह सब जीवक भाग अत्र अवस्थाओंकी ही परिणाम है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि सयतके उत्कृष्ट स्थितिग्रथों से लेकर सगोपचन्द्रिय अपभ्रष्टके उत्कृष्ट स्थितिग्रथ तक जितनी स्थितिग्रथ गतलाय है उन सयमा प्रमाण अन्त कीकीकी सागर ही है। अर्थात् उन स्थितिग्रथोंमें अतः कीकीकी सागरकी ही स्थिति बधनी है। जैसा कि कमग्रन्थ अत्र उसकी चूर्णित रिता है—

“ओघुमेसो सगिस्स होइ पञ्चसगस्सेय ॥८२॥” “अग्नि तरतो उ कोडाकोडीए”ति एव सजयस्स उओसातो माइत्त कोडाकोडीए अग्नितरतो भवति ।”

अर्थात्—सयतके उत्कृष्ट स्थितिग्रथों से लेकर अपभ्रष्ट सगोपचन्द्रियके उत्कृष्ट स्थितिग्रथ तक जितना भी स्थितिग्रथ है वह कीकीकी सागरके अन्दर ही जानना चाहिये। और सञ्ज्ञानप्राप्तके उत्कृष्ट स्थितिग्रथों प्रमाण बढ़ो है जो सामान्यसे उत्कृष्ट स्थितिग्रथों प्रमाण बतलाया है।

स्थितिग्रथों अत्यन्तकी अपभ्रष्टसे उत्कृष्ट तथा जपन्त्य स्थितिग्रथों में स्वामियोंको बतलाने, अतः उस स्थितिमें गुम और अगुम बतलाते हुए उनका कारण बताते हैं—

० संवाण वि जिदुठिठई असुभा ज साइसकिलेमेण ।

इयरा विसोहिउ पुण मुत्तु नरअमरतिगियाउ ॥ ५२ ॥

१ मुत्तुना कीजिये—

‘संवाण विदु असुभा उओसुओससकिलेमेण ।

इयरा उ विसोहीउ, सुत्तुनरतिगियाउ मुत्तु ॥५२॥’ पञ्चस०

अर्थ—मेनुष्यायु, देवायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय सभी प्रकृतियाँ उच्छृष्ट स्थिति अशुभ कही जाती हैं, क्योंकि उसका पक्ष अति सकलेश परिणामात्मे होता है। और अन्य स्थितिका पक्ष विगुह भावोंसे होता है।

भावार्थ—इस गायामें बतलाया है कि देवायु, मेनुष्यायु और तिर्यञ्चायुके सिवाय शेष सभी प्रकृतियोंका उच्छृष्ट स्थिति अशुभ और अन्य स्थिति शुभ होती है। अर्थात् पुण्यप्रकृति हो अथवा पापप्रकृति हो, उसकी उच्छृष्ट स्थिति अच्छी नहीं समझी जाती है। यह बात बतानेकी आवश्यकता समस्त दुसलियें हुए कि साधारण जन शुभ प्रकृतिमें अधिक स्थितिके पढ़नेको अच्छा समझते हैं, क्योंकि उच्छृष्ट स्थितिसे बचनेसे शुभ प्रकृति बहुत दिनों तक शुभ फल देती रहती है। किन्तु शास्त्रकारोंका कहना है, कि अधिक स्थितिपक्षका होना अच्छा नहीं है, क्योंकि स्थितिग्रन्थका मूल कारण कपाय है, जिस श्रेणीको कपाय होती है स्थितिपक्ष भी उसी श्रेणीका होता है। अतः उच्छृष्ट स्थितिपक्ष उच्छृष्ट कपायसे होता है, इसलिये उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—शास्त्रोंमें लिखा है कि स्थितिपक्ष और अनुभागपक्ष कपायसे होते हैं। अतः स्थितिपक्षकी तरह अनुभागपक्ष भी कपायसे ही होता है। ऐसा परिस्थितिमें उच्छृष्ट अनुभागको भी उसी तरह अशुभ मानना चाहिये, जैसे कि उच्छृष्ट स्थितिको अशुभ माना जाता है। क्योंकि दोनोंका कारण कपाय है। किन्तु शास्त्रोंमें शुभ प्रकृतियोंके अनुभागपक्षको शुभ और अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागपक्षको अशुभ बताया है।

उत्तर—यद्यपि अनुभागपक्षका कारण भा कपाय ही है, और स्थितिपक्षका कारण भी कपाय ही है, तथापि दोनोंका प्रकृति अन्तर है। कपायकी

१ इसी बातको कमकाण्डमें इस प्रकार कहा है—

‘सर्वद्विदीणमुक्त्वास्मिन् दुःखस्य सखिलेसेण ।

धिवरीदेण जहण्णो आउगतिवज्जिन्नाण तु ॥ १३४ ॥’

तीव्रता होनेपर अगुम प्रकृतियामें अनुभागग्रह अधिक होता है और गुम प्रकृतियोंमें कम होता है । तथा, कपायनी मदता होनेपर गुम प्रकृतियोंमें अनुभागग्रह अधिक होता है और अगुम प्रकृतियोंमें कम होता है । इस प्रकार प्रत्येक प्रकृतिमें अनुभागग्रहकी हीनाधिस्ता कपायनी हानाधिस्ता पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु गुम प्रकृतियोंमें अनुभागग्रहकी हानता और अधिस्ता कपायनी तीव्रता और मदता पर अवलम्बित है, और अगुम प्रकृतिमें अनुभागग्रहकी हानता और अधिस्ता कपायनी मदता और तीव्रता पर अवलम्बित है । सारांश यह है कि अनुभाग ग्रहकी दृष्टिसे कपायनी तीव्रता और मदताका प्रमाण गुम और अगुम प्रकृतियों पर निष्कूल विपरीत पड़ता है । किन्तु स्थितिग्रहमें यह बात नहीं है, क्योंकि कपायनी तीव्रताके समय गुम अथवा अगुम जो भी प्रकृतियों में पड़ती हैं, उन समय ही स्थितिग्रह अधिक होता है और इसी तरह कपायनी मदताके समय वा भी प्रकृतियों में पड़ती हैं उन समय ही स्थितिग्रह कम होता है । अतः स्थितिग्रहकी अपेक्षासे कपायनी तीव्रता और मदता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एकसा होता है । जैसे अनुभागम गुम और अगुम प्रकृतियों पर कपायनी उदा उदा प्रभाव पड़ता है, वैसे स्थितिग्रहमें नहीं पड़ता है । दूसरी रातिमें इसी बातको वा कहना चाहिये कि जब जब गुम प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट अनुभागग्रह होता है, तब तब उनमें चपन्य स्थितिग्रह होता है, और जब जब उनमें जराय अनुभागग्रह होता है तब तब उनमें उत्कृष्ट स्थितिग्रह होता है । क्योंकि गुम प्रकृतियामें उत्कृष्ट अनुभागग्रहका कारण कपायनी मदता है वा नि चपन्य स्थितिग्रहका कारण है । तथा उनके जराय अनुभागका कारण कपायनी तीव्रता है अ कि उत्कृष्ट स्थितिग्रहका कारण है । यह तो हुए गुम प्रकृतियोंकी बात । अगुम प्रकृतियामें तो अनुभाग अधिक होनेपर स्थिति भी अधिक होती है, और अनुभाग कम होने पर स्थितिग्रह भी कम होता है । क्योंकि दोनोंका कारण कपायनी तीव्रता

ही है। अतः उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थ ही अग्रिम है, क्योंकि उसका कारण कपाया की तात्रता है, और शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ शुभ है क्योंकि उसका कारण कपायानी मदता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थ की तरह उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ की सर्वथा अग्रिम नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उत्कृष्ट सकलेशसे उत्कृष्ट स्थितिग्रन्थ और विगुद्विसे जघन्य स्थितिग्रन्थ होता है, किन्तु तीन प्रकृतियाँ—देवायु, मनुष्यायु और नरनायु, इस नियमके अन्तर्गत हैं। इन तीन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है क्योंकि उसका ग्रन्थ विगुद्विसे हाता है, और जघन्य स्थिति अग्रिम, क्योंकि उसका ग्रन्थ सकलेशसे होता है। सारांश यह है कि इन तीनों प्रकृतियोंके सिवाय नौ प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कपायसे बंधती है और जघन्य स्थिति मन्द कपायसे बँधती है, किन्तु इन तीनों प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति मन्द कपायसे और जघन्य स्थिति तीव्र कपायसे बँधती है।

ऊपर बतलाया है कि सब प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कपायसे बँधती है। किन्तु केवल कपायसे ही स्थितिग्रन्थ नहीं होता, किन्तु उसके साथ योग भी रहता है। अतः सब जीर्णोत्तम उस योगके अल्पमहत्त्वका विचार करते हैं—

सुहृमनिगोयाइखणप्पजोग नायरयविगलअमणमणा ।

अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असखगुणो ॥ ५३ ॥

अममत्ततसुफोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा ।

अपजेयर सखगुणा परमपज्जिए असखगुणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—सुहृम निगादिया लब्धपयात्तक जीवके प्रथम समयमें सबसे अल्प योग हाता है। उससे बादर एवेन्द्रिय, विमलनय, असज्ञा और सही लब्धपयात्तक जघन्य योग असख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भके दो लब्धपयात्तक अर्थात् पश्चिम और बादर एवेन्द्रियका उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है।

उससे दोना ही पर्याप्तता का जपन्य योग असख्यातगुणा है । उससे दोना ही पर्याप्तता का उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । उससे असमाप्त अथात् अ पर्याप्त पर्योना उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । उससे पर्याप्त पर्योना जपन्य योग असख्यातगुणा है । उससे पर्याप्त पर्योना उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्तके सख्यातगुण होते हैं । केवल अपर्याप्त द्वायिक स्थितिस्थान असख्यातगुण हैं ।

भावार्थ—पहले जलाने गये बचके चार भेदोंमें प्रवृत्तिबन्ध और प्रवेदान्ध योगसं हाते हैं और स्थितिबन्ध और अनुभावनन्ध ब्यापसे होते हैं । अतः सामान्यसे बचके दो ही मूल कारण बड़े जाते हैं—एक योग और दूसरा ब्याप । यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये । उस योगसे यह योग मिलकुल जुग है । योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियाने रोकनेको योग मतलब है और वह पुरुषके कैवल्यपदकी प्राप्ति में प्रधान कारण है । किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरजका आत्मा तन लाता है ।

पञ्चसङ्ग्रहम् इसने नामान्तर मतलबे दुए गिया है—

“जोगो विरिय यामो उच्छाह परयकमो तहा चिट्ठा ।

सत्ती सामत्य चिय जोगस्स हवन्ति पञ्जाया ॥ ३०६ ॥”

अथात्—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योगके नामान्तर हैं ।

कर्मप्रवृत्ति (वचनकरण)में लिखा है—

“परिणामा ल्यण महण साहण तेण सङ्गनामतिग ।”

अथात्—पुद्गलको परिणमन, आत्मन और महणके साधन अथात् कारणको योग कहते हैं । सारांश यह है कि धीयांतरायक्रमके ध्य, अपवा क्षापागमने आत्मा आ वीर्य प्रकृ हाता है, उस ध्यके द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलको महण करता है और

ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीररूप परिणमाता है । तथा स्वासो-
द्वास, भाषा और मनसे योग्य पुद्गलोंसे ग्रहण करके उन्हें स्वासाद्वास
आदि रूप परिणमाता है, और परिणमा करके उनका अवलम्बन अथात्
साहाय्य लेता है । इसीसे यगैके तीन नाम हो जाते हैं—मनोयोग,
वचनयोग और काययोग । मनके अवलम्बनसे जा योग अर्थात् व्यापार
होता है इसे मनयाग कहते हैं । वचनका अवलम्बन लेकर जो व्यापार
क्रिया जाता है, उसे वचनयाग कहते हैं । और स्वासोद्वास यगैरहके अव-
लम्बनसे जा व्यापार होता है उसे काययाग कहते हैं । सारांश यह है कि
योग नामक शक्तिनी यगैहसे ही जीव मन, वचन और काय यगैरहका निमाण
करता है और वह मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्तिके आ-
लम्बन हाते हैं । इस प्रकार पुद्गलके ग्रहण करनेमें, ग्रहण क्रिये हुए
पुद्गलका शरीरादिरूप परिणमानेमें और उनका अवलम्बन लेनेमें जो
साधन है उसे हा याग कहते हैं ।

जीवकाण्डम योगना स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

“पुद्गलविनाहदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्त ।

जीवस्त जा हु सत्ति कम्मागमकारण जोगो ॥ २१५ ॥”

अथात्—पुद्गलविपासी शरीरनाम कर्मके उदयसे मन, वचन
और कायसे युक्त जीवनी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है, उसे योग
कहते हैं । इस प्रकार जैन वाक्यानें वीरान्तरायके क्षयोपशम अथवा क्षयसे
जा शक्ति उत्पन्न होता है, उसके द्वारा पुद्गलके ग्रहण यगैरहमें आत्माका
जो व्यापार होता है, उसे योग कहते हैं ।

यह योग एनेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवोंसे यथायोग्य
पाता जाता है उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक वधन्य और दूसरी

उससे दाना ही पर्याप्तमाना जपन्य योग असख्यातगुणा है । उससे दानों हा पयाप्तमोना उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । उससे असमाप्त अथात् अपयाप्त त्रयोंना उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । उससे पयाप्त त्रयोंना असख्यातगुणा है । उससे पयाप्त त्रयोंका उत्कृष्ट योग असख्यातगुणा है । इसी प्रकार स्थितिर्यान भा अपयाप्त और पयाप्तके सख्यातगुणे होत हैं । केवल अपयाप्त द्वीन्द्रियके स्थितिर्यान असख्यातगुणे हैं ।

भावार्थ—पहले धनलाय गये बचने चार मेद्रीमस प्रवृत्तिरूप और प्रवेगप्रभ योगस हाते हैं और स्थितिरूप और अनुमागप्रभ कपायमे हाते हैं । अतः सामान्यस बचके दा ही मूल कारण बहे जाते हैं—एक योग और दूसरा कपाय । यहाँ 'योग' शब्दसे योगदर्शनका योग नहीं समझना चाहिये । उस योगसे यह योग त्रिगुल पुदा है । योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तिशक्त शक्तनेना योग बतलया है और यह पुरुषके वैवल्यरदकी प्राप्ति में प्रधान कारण है । किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कमरपक्ष आत्मा तर लाता है ।

पञ्चसङ्कष्टम इसके नामान्तर बतलते हुए लिखा है—

“जोगा विरिय थामो उच्छाह परककमो तहा चिट्ठा ।

ससी तामत्य चिय जोगस्म हवति पल्लाय ॥ ३०६ ॥”

अथात्—योग, वाय, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, तामस्य, ये योगके नामान्तर हैं ।

कमप्रवृत्ति (बचनकरण)म लिखा है—

“परिणामा लक्षण ग्रहण साहच्य तेन लब्धनामनिग ।”

अथात्—पुद्गलोंका परिणामन, जालम्पन और ग्रहणके साधन अथात् कारणसे योग नदते हैं । साराग यह है कि बीयातरायक्रमके शय, अथवा संप्रापक्षमसे आत्माका जा वीर्य प्रकट होता है, उस बीयके द्वारा बीय पहल औदारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और

द्वाद्रिद्रयका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । २५-उससे पर्याप्त त्रीन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । २६-उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । २७-उससे पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । २८-उससे पर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है ।

इस प्रकार चौदह जात समानोंमें जगन्मय और उत्कृष्टक भेदने योगोंके २८ स्थान होते हैं । तथा, पर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियोंमें कुछ स्थान और भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

२९-पर्याप्त सञ्ज्ञीके उत्कृष्टयोगसे अनुचरगासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । ३०-उससे प्रैनेयनगासी देवोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । ३१-उससे भाग भूमिज तिरश्च और मनुष्याका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । ३२-उससे आहारक गरीरियोंका उत्कृष्टयोग असङ्ख्यातगुणा है । ३३-रोप देव, नारक तिरश्च और मनुष्योंका उत्कृष्टयोग उत्तरोत्तर असङ्ख्यातगुणा है । यहाँ सत्रा गुणानरका प्रमाण पत्यापनके असङ्ख्यातमें भाग जानना चाहिये । अर्थात् पहले पहले योग स्थानमें पत्यके असङ्ख्यातमें भागना गुण करनेपर आगे आगेके यागस्थानका प्रमाण आता है । इस कथनसे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर जीवनी शक्ति का विकास होता जाता है त्या त्या यागस्थानाम भी वृद्धि होती जाती है, क्योंकि जीवनी शक्ति ही तो योग है । जगन्मय योगसे जीव जगन्मय प्रदेशान्ध करता है और उत्कृष्ट यागसे उत्कृष्ट प्रदेशान्ध करता है ।

१ कर्मप्रवृत्ति (बन्धनकरण) में असंज्ञा पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके उत्कृष्ट योग ॥ अनुचरगासी देवोंका उत्कृष्ट योग असङ्ख्यातगुणा बतलाया है । यथा—

“अमणानुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयसङ्ख्यतनुगमु ।

कमसो अमसगुणिभो सेसेमु य जोग उद्धोसो ॥ १६ ॥”

डेढगायामे योगस्थानानां अन्यत्रुत्थं बतलाकर ग्रन्थकार स्थिति-
ग्यानानां कथन करते हैं । किसी प्रकृतिही जगन्म स्थितिसे लेकर एक एक
समय बढ़ते उदते उत्कृष्ट स्थितिपर्यन्तस्थितिके आ भेद होते हैं उन्हें स्थिति
स्थान कहते हैं । चैव, यदि किसी कर्मही जगन्म स्थिति १० समय है और
उत्कृष्ट स्थिति १० समय है । तो दससे अद्वारहवक स्थितिके ना भेद होते हैं,
इन्हें ही स्थितिस्थान कहते हैं । य स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर सङ्ख्यातगुण

१ कर्मशास्त्रमें गाय २१८ मे ४२ गायामोंमें योगस्थानोंका विस्तृत
वर्णन किया है । उसमें योगस्थानके तीन भेद किये हैं—उपपादयोगस्थान,
एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और परिणामयोगस्थान । विप्रहृगतिमें जो योग
स्थान होता है उसे उपपादयोगस्थान कहते हैं । उसके बाद शरीरपर्याप्ति
पूर्ण होनेतक जो योगस्थान होता है उसे एक तानुवृद्धियोगस्थान कहते हैं ।
शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद परिणामयोगस्थान होता है । ये तीनों ही योग
स्थान जगन्म भी होते हैं और उत्कृष्ट भी और वे चौदह ही जीवसमासोंमें
पाय जाते हैं अतः योगस्थानोंक समस्त भेद ८४ होते हैं । कर्मग्रन्थमें एक
तीन भेद नहीं किये हैं इसलिये वहाँ २८ ही भेद बतलाये हैं । दोनों ग्रन्थोंके
भेदक्रममें भी अन्तर है ।

कर्मशास्त्रमें स्थितिस्थान बतलानेके लिये भी वही क्रम अपनाया गया
है जो ऐच्छिद्व्याप्तिक जीवोंकी स्थिति बतलानेके लिये अपनाया गया है और
चित्ते पहल कह आये हैं ।

कर्मप्रकृति और पञ्चसङ्ग्रहमें य घनकरणके प्रारम्भमें योगस्थानोंका
वर्णन है ।

२ 'तत्र जगन्मस्थितेश्चराम्य णैकसमयवृत्त्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थिति
पर्यवसाना य स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते ।'

पञ्च० कर्म० टी० पृ० ५५, प० ३ ।

सख्यातगुणे होते हैं । केवल अपयाप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे होते हैं । उनका क्रम दस प्रकार है—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्धपयाप्तके स्थितिस्थान सत्रसे कम हैं । २-उससे बादर एकेन्द्रिय अपयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । ३-उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । ४-उससे बादर एकेन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । इन स्थितिस्थानोंका प्रमाण पत्यने असङ्ख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंकी जघन और उत्कृष्ट स्थितिका अन्तराल इतना ही होता है ।

५-बादर एकेन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थानसे अपयाप्त द्वीन्द्रियके स्थितिस्थान असङ्ख्यातगुणे हैं । ६-उससे द्वीन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । ७-उससे त्रीन्द्रिय अपयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । ८-उससे त्रीन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं । ९-उससे चतुरिन्द्रिय अपयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । १०-उससे चतुरिन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । ११-उससे अपयाप्त अष्टा पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । १२-उससे पयाप्त अष्टा पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । १३-उससे अपयाप्त सङ्गी पञ्चेन्द्रियके स्थितिस्थान सख्यातगुणे हैं । १४-उससे सङ्गी पञ्चेन्द्रिय पयाप्तके स्थितिस्थान सङ्ख्यातगुणे हैं । इस प्रकार ज्यों ज्यों स्थितिका प्रमाण बढ़ता जाता है त्या त्या स्थितिस्थानोंकी सङ्ख्या भी बढ़ती जाती है । इस प्रकार योगोंका अन्वयतुल्य और स्थितिस्थानाका प्रमाण जानना चाहिये ।

योगके प्रसङ्गसे स्थितिस्थानोंका निरूपण करके, जत्र अपयाप्त जीवों के प्रति समय जितने योगनी वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं—

पइखणमसखगुणविरिय अपज पइठिठमसरलोगसमा ।

अङ्गवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥

गुणी असङ्ख्यातगुणी जाननी चाहिये ।

स्थितिरपेक्षा अपेक्षासे सब कर्मोंके अध्ययसायस्थानाओं बतलाकर, अपेक्षा निम्न इकतालोस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रियाके अधिकसे अधिक जितने कालतक बंध नहीं होता, उस कालका तथा उन प्रकृतियोंका दो गाथाओं से कहते हैं—

* तिरिनरयतिजोयाण नरमज्जुय सचउपल्ल तेसठं ।

थावरचउडगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५३ ॥

अपढमसघयणागिडस्वर्गई अणभिच्छुदुमगधीणतिग ।

निय नपु इतिथि दुतीस पणिदिमु अन्नन्धठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीवोंके तिर्यग्गति (तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी और तिर्यगायु), नरकगति (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) तथा उग्रोत्, इन सात प्रकृतियोंका बंध अधिकसे अधिक मनुष्यमन सहित चार पन्थ अधिक एक सौ तेसठ सागरोपम कालतक नहीं हो सकता । थावरचउण्ड (स्थानर, सूक्ष्म, अस्यास और साधारण), एकेन्द्रिय जाति, त्रिकल्प और आत्मर, इन नौ प्रकृतियोंका बंध अधिकसे अधिक मनुष्यमन सहित चार पन्थ अधिक एक सौ गिचासा सागरतक नहीं हो सकता ।

अप्रथम २ इनन अथात् पहले सहननके सिवाय नौ पौंच सहनन, अप्रथम आरुति अथात् पहले सस्थानक सिवाय दो पौंच सस्थान, अप्रथम रोगति अथात् अप्रसन्न विहायागति, अनन्तानुपूर्वी मोघ, मान, माया, लाभ, मिथ्यात्व, दुभगनिक (दुभग, दुस्वर और अनादेय), स्थाननिर्दिनिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और स्थाननिर्दि), नाचगान, नपुसकवेद और स्त्रीवेद, इन पचीस प्रकृतियोंका बंध अधिकसे अधिक मनुष्यमन सहित एक सौ पचीस सागरतक नहीं हो सकता ।

भावार्थ—इन गाथाओंमें जिन इकतालोस प्रकृतियोंका पञ्चेन्द्रिय

जायके उत्कृष्ट अन्नधमाल प्रतन्नाया है, उनमेंसे सोलह प्रकृतियोंका ग्रन्थ तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है और शेष पच्चीस प्रकृतियां द्वितीय गुणस्थान तक ही गती हैं। सारांश यह है कि इन द्वालीस प्रकृतियोंका ग्रन्थ उहीं जीवाके हाता है, जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानोंसे छोड़कर आगे बढ़जाते हैं उनके उक्त द्वालीस प्रकृतियोंका ग्रन्थ तत्तक नहीं हो सकता जतन वे जीव पुनः उन गुणस्थानोंमें लौटकर नहीं आते। यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि दूसरे गुणस्थानसे आगे पञ्चेन्द्रिय जीव ही बढ़ते हैं, एनेन्द्रिय और मिश्रेन्द्रियों के आगेके गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीसे उक्त द्वालीस प्रकृतियोंके अन्नधमाल पञ्चेन्द्रिय जीवोंसे अपेक्षासे ही प्रतन्नाया है। अतः जो पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यग्दर्श होजाते हैं, उनके उक्त द्वालीस प्रकृतियोंका ग्रन्थ तत्तक नहीं हो सकता, जतन वे सम्यक्त्वसे व्युत्त होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें नहीं आते। किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थानमें आनेपर भी कभी कभी उक्त प्रकृतियां नहीं ग्रन्थती, जैसा कि जागे शत हो सकेगा। इन्हीं सब बातोंसे दृष्टिमें रखकर उक्त प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अन्नधमालका उक्त दा गायार्थोंके द्वारा प्रतन्नाया है, जिसका खुगसा निम्नप्रकार है—तिर्यङ्गति, नरकगति और उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट अन्नधमाल मनुष्यमनुसहित चारपत्य अधिक एतसी त्रैलोक्य सागर बतगया है, जो इसप्रकार है—कोई जीव तान पत्यनी जायु बाधकर देवदुर्ग भोगभूमिमें उत्तरत हुआ। जहापर उसके उक्त सात प्रकृतियोंका ग्रन्थ नहीं होता है, क्योंकि इन प्रकृतियोंका ग्रन्थ वही कर सकता है, जो तिर्यङ्गति या नरकगति में जन्म ले सके। किन्तु भागभूमिज जीव मरकर नियमसे देव ही होने हैं, अतः वे तिर्यङ्गति और नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ग्रन्थ नही करते हैं। अस्तु, भोगभूमिज सम्यक्त्वसे प्राप्त करके वह जीव एक पत्यनी स्थितिवाले देवोंमें उत्तरत हुआ। सम्यक्त्वके होनेके कारण वही भी उसके उक्त सात

जोड़कर मनुष्य मन सहित, चार पत्न्य अधिक एक सौ त्रेष्ठ सागर प्रमाण उक्त प्रकृतियोंका अवचाल होता है ।

इस अवधमार्गसे बतलाते हुए त्रैवेण्यम जो सम्यक्त्वसे पतन उत्पन्न होता है वह सम्यक्त्वका उत्कृष्टकाल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण बतलाया है । इसी प्रकार त्रिजयादिन्म ६६ सागर पूर्ण करलेनेके बाद मनुष्यमनम जो अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणधानमें गमन उत्पन्न होता है, वह भी सम्यक्त्वके काल ६६ सागर पूरा होजानेके कारण ही उत्पन्न होता है, क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्कृष्टस्थिति ६६ सागर है ।

स्वावर चतुष्क आदि नौ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अवचाल मनुष्यमन सहित, चार पत्न्य अधिक १८५ सागर बतलाया है, चा इस प्रकार है—
कोई जीव याइस सागरकी स्थिति ऐकर छठे नरकम उत्पन्न हुआ । वहा इन प्रकृतियोंका रूपा नहीं होता, क्योंकि नरकसे निर्मल करके जीव सही पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही होता है, एकेन्द्रिय अथवा विरक्तम नहीं होता । वहा मरते समय सम्यक्त्वको प्राप्तकरके मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुआ, और अगुनती होकर मरणकरके चार पत्न्यकी स्थितिवाले देवामें उत्पन्न हुआ । वहासे च्युत होकर, मनुष्यपर्यायम जन्म लेकर, महाप्रत धारणकरके, नौ त्रैवेण्यमें द्वादशा सागरकी स्थितिवाला देव हुआ । वहा अन्तर्मुहूर्तके बाद मिथ्यादृष्टि होगया । अन्त समय सम्यग्दृष्टि होकर, मनुष्यपर्यायमें जन्म लेकर, महाप्रतका पालन करके, दो बार त्रिजयादिन्ममें उत्पन्न हुआ, और इस प्रकार ६६ सागर पूरा निय । पहलेकी ही तरह मनुष्यपर्यायमें अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर, पुन सम्यक्त्वको प्राप्तकरके, तीन बार अच्युतस्वगमें उत्पन्न हुआ, और इसप्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूरा निये । इन सब कालोंको जोड़नेसे मनुष्यमन सहित, चार पत्न्य अधिक $25+25+25+25=100$ सागर उत्कृष्ट अवचाल होता है ।

अप्रयम सहनन आदि २५ प्रकृतियोंका अवचाल मनुष्यमन सहित

बच कर सकता है। तथा स्थावरकायमें जन्म लेनेवाला जीव अस्थिरात पुद्गलरावत कालतक स्थावरकायमें ही पड़ा रह सकता है और वहां औदारिक शरीरके सिवाय वैत्रियशरीर बगैरहका जन्म नहीं होता।

इसीप्रकार सातवेदनायका भा जन्म बचकाल एक समय है और उत्पद्य बचकाल कुछ कम एक पूरमोटी है। एक समयतक सातवेदनीयका बचकरके जन्म कोई जोर दूसरे समयमें असातवेदनीयका बच करता है तो जन्म बचकाल एक समय टहरता है। तथा, जन्म कोई कमभूमिया मनुष्य आठवर्षकी उम्रके बाद जिनदीक्षा धारणकरके करलशान प्राप्त करता है तो उसके कुछ अधिक आठवर्ष कम एक पूरकाटि कालतर निरन्तर सातवेदनीयका ही बच होता रहता है, क्योंकि छठे गुणग्यानक बाद उसकी निराधी असातवेदनाय प्रकृतिका बच नहीं होता, तथा कमभूमिया मनुष्यकी उत्पद्य आयु एक पूरमोटी जन्म आये है। अतः सातवेदनीय का उत्पद्य बचकाल कुछ अधिक आठवर्षकम एक पूरकाटी जानना चाहिये ॥ जलहिसय पणसीय परघुस्तासे पणिदितमचउगे।

१ “देशोनपूर्वकोटिमायनावेपा-इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान् साविरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टमादधो यतमानस्य सब स्वादि तथास्त्राभाव्यात् देशतः सवर्तो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।”

पञ्चम०, पृ० ७७, मलय० टी०।

अर्थ-कुलकम पूर्वकोटिकी भावना इस प्रकार है-एक पूर्वकोटिकी आयु वाला कोई मनुष्य गर्भमें कुछ अधिक नौ मास व्यतीत करता है। उत्पद्य होनेपर भी आठवर्ष तक देशविरति अथवा सर्वविरतिको धारण नहीं कर-सकता, क्योंकि आठवर्षके नीचेके सभी व्यक्ति एकदेश या सर्वदेश विरति को धारण नहीं कर सकत, ऐसा उनका स्वभाव ही है।

उरलि असखपरद्धा सायठिई पुचकोहुणा ॥ ५९ ॥

अर्थ—तियझगति, तियझानुपूर्नी और नीच गोनना निरन्तर बधनाल एक समयसे लेकर असख्यात कार्तक जानना चाहिये । आयुक्रमका निरन्तर बधनाल अन्तमुहूर्त है । औदारिक शरीरका निरन्तर बधनाल असख्यात पुचगठ परावत है, और सातवेदनीयना निरन्तर बधनाल कुछ कम एक पुचकागी है ।

भावार्थ—तियझदिक और नाचगोन जपयसे एक समयतक बधते हैं, क्याकि दूसरे समयमें उनकी तिपन्नी प्रवृत्तियाँना बध हो सकता है । किन्तु जब फोद जीव तेजस्काय या वायुकायमें जमलेता है, ता उसके तिपन्धिक जोर नीच गोनना बध तत्रतक बरानर होता रहता है, जन्तक वह जब उस कायमें ही बना रहता है, क्याकि तेजस्काय और वायुकायमें तियझगति और तियझानुपूर्नीके सिवाय किसी दूसरी गति और आयुपूर्नी का बध नहीं होता और न उच्चगोनना ही बध होता है । तेजस्काय और वायुकायमें जमलेने वाला जाय असख्यात लामानाशोंके जितने प्रदेश होते हैं, अधिकसे अधिक उतने समयतक बरानर तेजस्काय या वायुकायमें ही जमलेता रहता है, अतः उस तीन प्रवृत्तियाँका उत्कृष्ट निरन्तर बधनाल असख्यात समय अथात् असख्यात उत्तरिणिणी-अवसरिणिणी बतगया है ।

आयुक्रमकी चारों प्रवृत्तियाँका जन्म और उत्कृष्ट बधनाल अन्तमुहूर्त है, अन्तमुहूर्तके बाद उसका बध रुक जाता है । क्योंकि आयुक्रमका बध एक भयमें एक ही बार होता है और वह अधिकसे अधिक अन्तमुहूर्त तक होता रहता है ।

औदारिक शरीर नामकमना जपय बधनाल एक समय और उत्कृष्ट बधनाल असख्यात पुद्गलपरावत ३ जीव एक समयतक औदारिक शरीरका बधनाल ३ समय ५ ३ वैश्वशरीर बरौरहका

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अग्रधमालमें इनका बन्ध होता है। एकसौ पिचासी सागरका बंधमालमी स्थावर चतुष्क आदि प्रकृतियोंके अग्रधमालकी ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितिग्रह करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपत्ती प्रकृतियोंका जन्म न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बंध लिया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अणुव्रताका पालन करके मरकर चारपैल्यकी स्थितिगले देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके, मरकर, नवम प्रवेयकमें एक-तीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूण क्रिये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूण किया। इस प्रकार छठे नरक वगैरहमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मसे और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबन्ध होना रहता है।

इस प्रकार प्रणस्तविहायोगति वगैरहका जपन्य बंधमाल एक समय

१ पञ्चपद्महमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एक दम प्रवेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चसङ्गदकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों का निरन्तर बंधकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यक्ष अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए क्रमसे १३२ सागर तक ससारमें भ्रमण करता है।

बत्तीस सुहृदिहगइपुमसुभगतिगुच्चचउग्मे ॥ ६० ॥

अर्थ—परापात, उद्धास, पञ्चेन्द्रियजाति और त्रयचतुष्कका उत्कृष्ट निरन्तर बधकाल एक सौ पिचासी सागर है । तथा, प्रशस्त विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगति, उद्योग और समचतुरस्रसस्यानका उत्कृष्ट निरन्तर बधकाल एकसौ बत्तीस सागर है ।

भावार्थ—परापात आदि सात प्रकृतियोंका निरन्तर बधकाल कमसे कम एक समय है, क्योंकि ये प्रकृतियाँ अधुवबधिनी हैं, अतः एक समयके बाद इनकी विपक्षी प्रकृतियाँ इनका स्थान ले लेती हैं, तथा, इनका उत्कृष्ट बधकाल चार पक्ष अधिक एकसौ पिचासी सागर है । यद्यपि गायामें केवल एकसौ पिचासी सागर ही लिखा है, तथापि चार पक्ष और भी समझना चाहिये, क्योंकि इनका विपक्षी प्रकृतियोंका जितना अवधकाल होता है, उतना ही इनका बधकाल होता है । पहले गायी ५६म इनकी विपक्षी स्थानर चतुष्क वगैरह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अवधकाल चार पक्ष अधिक एकसौ पिचासी सागर बतला आया है, अतः इनका बधकाल भी

१ इह च 'सचतु पक्षम्' इति अनिर्देशोऽपि 'सचतु पक्षम्' इति व्याख्यानं कायम् । यतो पाषाणसेद्विपक्षस्यावधकालस्तावानेवासा बन्धकाल इति । पञ्चसङ्गहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यल्लोक्तं तदभिप्रायं न विधुः इति । पञ्चमकर्मप्रश्नकी स्त्रो० टी० पृ० ६० ।

अर्थ—यहाँ चार पक्ष सहित नहीं कहा है, फिर भी 'चारपक्ष सहित' ऐसा अर्थ करना चाहिये । क्योंकि जितना इनके विपक्षी प्रकृतियोंका बधकाल है उतना ही इनका बधकाल है । पञ्चसङ्गह वगैरहमें उपलक्षण वगैरह किसी कारणसे जो चारपक्ष अधिक नहीं कहा है उसका आशय हम नहीं जानते हैं ।

उतना ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके अवधकालमें इनका बन्ध होता है। एकसी निचासी सागरका बधकाल भी स्थानरचतुष्प आदि प्रकृतियोंके जन्मस्थान ही तरह समझना चाहिये। अर्थात् कोई जीव बाइस सागर प्रमाण स्थितियन्त्र करके छठे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ पराघात आदि उक्त सात प्रकृतियोंकी प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध न होनेके कारण उसने इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बध किया। अन्तिम समय सम्यक्त्वको प्राप्त करके, मनुष्यगतिमें जन्म लिया। वहाँ अशुभतोंका पालन करके मरकर चारपैल्यकी स्थितिगटे देवोंमें जन्म लिया। सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महान्त धारण करके, मरकर, नरम प्रियेयकमें इक-तीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ। वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्वको प्राप्त किया, और मरकर मनुष्य हुआ। वहाँसे तीन बार मर मरकर अच्युत स्वर्गमें जन्म लिया और इस प्रकार ६६ सागर पूरा किये। अन्तर्मुहूर्तके लिये तीसरे गुणस्थानमें आया, और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिकमें जन्म लेकर दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण किया। इस प्रकार छठे नरक धरौहरमें भ्रमण करते हुए जीवके कहीं जन्मते और कहीं सम्यक्त्वके माहात्म्यसे पराघात आदि प्रकृतियोंका निरन्तरबध होता रहता है।

इस प्रकार प्रशस्तनिहायोगति धरौहरका जन्म बन्धकाल एक समय

१ पञ्चमद्वहमें ये चार पल्य नहीं लिये गये हैं। वहाँ मनुष्यगतिमें एक दम प्रियेयकमें जन्म माना है। प्रथ० भा० पृ० २५८।

२ पञ्चमद्वहकी स्वोपज्ञ टीकामें (प्रथ० भा० पृ० २५९) इन प्रकृतियों का निरन्तर बधकाल तीन पल्य अधिक एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है। उसमें लिखा है कि तीन पल्यकी आयुवाला तिर्यग अथवा मनुष्य भवके अन्तमें सम्यक्त्वको प्राप्त करके पहले बतलाये हुए कमसे १३२ सागर तक ससारमें भ्रमण करता है।

हे और उत्कृष्ट बन्धनल एकता यत्नास सागर है । क्योंकि गाथा ५७में इनका निरन्तर प्रवृत्तियाँ उत्कृष्ट अन्धकार प्रकाश बर्त्तास सागर बन्धना है, अतः इनका बन्धना भी उसी क्रमसे उतगा हा समझना चाहिये ॥

अमु-रगद-जाइ-आगिइ-मघयणा-हार-नरय-जोयदुग ।

थिर-सुभ-जस-वावरदस-नपु-इत्थी-दुजुयल-भमाय ॥ ६१ ॥

समयादतमुहुत्त मणुदुग जिण-चइर-उरलयगेसु ।

तित्तीसपरा परमा अतमुहु लहु चि आउजिणे ॥ ६२ ॥

अर्थ—अप्रशस्त विहायागति, अगुमजानि अथात् एकेन्द्रिय, द्वान्द्रिय त्रान्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, अगुम सहनन अथात् प्रभुभनाराच आदि अन्तक पाँच सहनन, अगुम आह्मि अथात् यमोक्षरिमण्डल सस्थान यंगरह अन्तक पाँच सस्थान, आन्तरकद्विर, नररद्विष, उन्नातद्विष, स्थिर, शुभ, यश काति, रथावर जादि दस, नपुसस्वेद, स्त्रावद, दा युगल अथात् हास्य रति और शान् अरति, तथा असातवेदनीय, इन इन्तानास प्रवृत्तियोंका निरन्तर बन्धना एक समयसे तेर अन्तमुहुत पयन्त है । मनुष्यद्विष, तीथङ्कर नाम, यमश्रमभनाराच सहनन और आदारिक अज्ञानाङ्कका उत्कृष्ट बन्धना ३३ सागर है । तथा, जायुधम और तीथङ्कर नामका जपन बन्धना भी अन्तमुहुत है ।

भावार्थ—अप्रशस्त विहायागति आदि इन्तानास प्रवृत्तियाँ निरन्तर बन्धनाल क्रमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तमुहुत यत्नाया है । ये प्रवृत्तियाँ अभुवर्नाधिनी हैं अतः अपनी अपनी विराधो प्रवृत्तिसे बन्धनी सागरीक हानार अन्तमुहुतके बाद इनका बन्ध रुक जाता है । इनमेंसे सात वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, गुम और यश कीर्तिका विरोधिनी असात वेदनीय, अरति, शान्, अस्थिर, अगुम और यश कीर्तिका बन्ध छडे गुणग्यान तक हाता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तरबन्ध अन्त-

संज्ञित तक होता ही है। किन्तु उसके बादके गुणस्थानोंमें भी उनका बंधकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है, क्योंकि उन गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त ही है।

मनुष्यगति, मनुष्याणुपूर्व, तायङ्गरनाम, वज्ररूपभनाराचसहनन और औदारिक अक्षानाक्षना विरन्तर बंधकाल अधिभसे अधिक तेतीस सागर बतलाया है, क्योंकि अनुचरवासी देवके मनुष्यगतिके योग्य प्रवृत्तियोंका ही बंध होता है, अतः वह अपने जन्म समयसे लेकर तेतीस सागरकी आयु तक उक्त प्रवृत्तियोंके विरोधी नरकद्विज, तिरश्चद्विज, देवद्विज, वैत्रियद्विज और पाँच अणुमसहननाका बंधनही करता। तथा तीर्थङ्कर प्रवृत्तिसे कोई विरोधिनी प्रवृत्ति नहीं है, इसलिये वह भी तेतीस सागर तक बराबर बंधती रहती है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इन पाँच प्रवृत्तियोंमेंसे तीर्थङ्कर प्रवृत्तिके सिवाय शेष चार प्रवृत्तियोंका जन्य बंधकाल एक समय है क्योंकि उन प्रवृत्तियोंकी विरोधिनी प्रवृत्तियाँ भी हैं।

ऊपर बताया गया है कि अणुवज्रिणी प्रवृत्तियोंका जन्य बंधकाल एक समय है। इस परसे यह आशङ्का हो सकती है कि क्या सभी अणुवज्रिणी प्रवृत्तियोंका जन्य बंधकाल एक समय है? उसका समाधान करनेके लिये ग्रन्थकारने लिखा है कि चारों आयुर्मर्म और तीर्थङ्कर नामरमका जन्य बंधकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। अर्थात् अप्रशस्त विद्यायोगति वगैरह इक्ष्वाकुस प्रवृत्तियोंका उत्कृष्ट बंधकाल ही अन्तर्मुहूर्त नहीं है किन्तु आयु वगैरहका जन्य बंधकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार अणुवज्रिणी होने पर भी इनके जन्य बंधकालमें अन्तर है। आयुर्मर्मके बंधकालके प्रारम्भ ता पहले ही लिग आय है कि एक मयम केवल एक बार ही आयुका बन्ध होता है और यह भी अन्तर्मुहूर्तके लिये ही होता है। तीर्थङ्कर प्रवृत्ति का जन्य बंधकाल इस प्रकार घणित होता है—कोई जाँच तायङ्कर प्रवृत्ति का बंध करके उग्रशमश्रेणि चढ़ा। वहाँ ननों, दसनों और श्वाहर्षे गुणस्थानमें उसने तीर्थङ्करका बंध नहीं किया, क्योंकि तीर्थङ्कर प्रवृत्तिके बंधना निराध

हीनाधिकना देखी जाती है । अर्थात् उही सूखे तृणोंको खाकर ऊटनी सूज गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिक्नाइ बहुत अधिक रहती है । भैंसके दूधमें उससे कम गाढ़ापन और चिक्नाइ रहती है । गायके दूधम उससे भी कम गाढ़ापन और चिक्नाइ रहती है और बरूरीके दूधम सन्धसे कम गाढ़ापन और चिक्नाइ रहती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकारके तृण घास वगैरह भिन्न भिन्न पशुओंके पेटम जाकर भिन्न भिन्न स्वरूप परिणत होते हैं, उसी प्रकार एक ही प्रकारके कर्मपरमाणु भिन्न भिन्न जीवोंके भिन्न भिन्न कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रखगले हो जाते हैं । इसे ही अनुभागबन्ध कहते हैं । जैसे भैंसके दूधमें अधिक शक्ति होती है और बरूरीके दूधमें कम, उसी तरह गुम और अगुम दोनों ही प्रकारकी प्रकृतियाका अनुभाग तीव्र भी होता है और मन्द भी होता है । अर्थात् अनुभागबन्धके दो प्रकार हैं—एक तीव्र अनुभागबन्ध और दूसरा मन्द अनुभागबन्ध, और ये दोनों ही तरहके अनुभागबन्ध गुम प्रकृतियामें भी होते हैं और अगुम प्रकृतियोंम भी होते हैं । अतः अनुभागबन्ध द्वाराका उद्घाटन करते हुए प्रत्येक गुम और अगुम प्रकृतियोंके ताव और मन्द अनुभागबन्धका कारण बतलाते हैं—

तिव्यो असुहसुहाण संकेसविसोहिउ विवज्जयउ ।

मदरसो

अर्थ—सकलेशपरिणामोंसे अगुमप्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध होता है और विपुद्गभावोंसे गुम प्रकृतियोंम तीव्र अनुभागबन्ध होता है । तथा, विपरीत भावासे उनम मन्द अनुभागबन्ध होता है । अर्थात् विशुद्धभावोंसे अगुम प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है और सकलेश भावोंसे गुम प्रकृतियोंमें मन्द अनुभाग बन्ध होता है ।

भावार्थ—रस या अनुभाग दो नव

और ये दोनों ही प्रसारका अगुम अगुम प्रकृतियाम भी होता है और गुमप्रकृतियाम भी होता है। अगुम प्रकृतियोंके अनुभागको नीम वगैरह चन्द्रप्रकृतियाने कटुवे रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीमका रस कटुक होता है, उसी तरह अगुम प्रकृतियोंका रस भी बुरा समझा जाता है, क्योंकि अगुम प्रकृतिया अगुम ही फलदेती हैं। तथा गुम प्रकृतियाने रस को श्वेत रसकी उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे इल्लिका रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार गुम प्रकृतियोंका रस सुगन्धायक होता है। दूध दानावा प्रसारकी प्रकृतियोंके तीन और मदरसकी चार चार अगुमपाएँ होती हैं। जैसे, नामसे तुरन्त निमाला हुआ रस स्वभावसे ही कटुक होता है। उस रसको अग्निर परानेसे जब वह सेरका आधसे रहजाता है तो कटुस्वर होजाता है, सेरका तिहाइ रहनेपर कटुस्वर होजाता है और सेरका पायसे रहनेपर अत्यन्त कटुक होजाता है। तथा, श्वेतका पराने का रस निरुन्त है वह स्वभावसे ही मधुर होता है। उस रसका आगपर परानेसे जब वह सेरका आधसे रहजाता है तो मधुरतर होजाता है, सेरका तिहाइ रहनेपर मधुरतम होजाता है और सेरका पायसे रहनेपर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इसीप्रकार अगुम और गुम प्रकृतियोंका तीस रस भी चार प्रकारका होता है—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। तथा जैसे उस कटुक या मधुर रसमें एक चुट्ट पानी डालदेनेसे वह मद्ध होजाता है, एक गिलास पानी डालदेनेसे वह मद्धतर होजाता है, एक गैरा पानी डालदेनेसे वह मद्धतम होजाता है और एक बड़ा पानी डालदेनेसे वह अत्यन्त मद्ध होजाता है। उसीप्रकार अगुम और गुम प्रकृतियोंका मद्ध रस भी मद्ध, मद्धतर, मद्धतम और अत्यन्त मद्ध, इस तरह चार प्रकार का होता है। इस तीव्रता और मद्धताका कारण कषायकी तीव्रता और मद्धता है। तीव्र कषायसे अगुम प्रकृतियोंमें ताम्र ^अ म प्रकृतियाम मद्ध अनुभागग्रन्थ होता है, तथा, ^अ और गुम

प्रकृतियोंमें तीन अनुभाग बंध होता है । इसी बातको दूसरी रीतिसे यदि और भी स्पष्टकरके कहा जाय तो कहना होगा कि सकल परिणामोंका वृद्धि और निगुद परिणामोंकी हानि होनेसे बचायी अनुभ प्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बंध होता है, और बचालेख गुभ प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभाग बंध होता है । तथा, सकल परिणामोंकी मन्दता और निगुद परिणामोंकी वृद्धि होनेसे बचालेख पुण्यप्रकृतियोंका तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्ततीव्र अनुभाग बंध होता है, और बचायी पाप प्रकृतियोंका मन्द, मन्दतर मन्दतम और अत्यन्तमन्द अनुभाग बंध होता है । इन चार प्रकारोंको प्रमथ एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक कहा जाता है । अर्थात् एकस्थानिकमें तीव्र द्विस्थानिकमें तीव्रतर त्रिस्थानिकमें तीव्रतम और चतुस्थानिकमें अत्यन्ततीव्रता ग्रहण किया जाता है । कारण यह है कि रसके असख्य प्रकार हैं और उन सबका समावेश उस चार प्रकारोंमें होजाता है । अर्थात् एक एकमें असख्य असख्य प्रकार जानने चाहिये ।

अब तीव्र और मन्द अनुभाग बंधके उक्त चार चार भेद जिन कारणों से होते हैं, उन कारणोंका निदर्श करते हैं—

गिरिमहिरयजलरेहासंरिसकसाएहि ॥ ६३ ॥

चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्धदेसग्राहआवरणा ।

पुमर्मजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

१-सरिक-म० पु० । २-देसभाव-स० पु० ।

३ 'आवरणमस' बंध पुस नलणतरायपयदीओ ।

चउठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥ १४८ ॥ पद्यस०

अर्थ-शानावरण और दशनावरणकी देशघाती प्रकृतियों, पुरुषवेद,

है। इस कषायका उदय होनेपर पुण्यप्रवृत्तियोंमें चतु स्थानिक रसबन्ध हाता है और पापप्रवृत्तियोंमें केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुकरूप ही रस बन्ध होता है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्या नावरण और सञ्चलन कषायसे अशुभ प्रवृत्तियोंमें क्रमशः चतु स्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबन्ध हाता है, तथा गुण प्रवृत्तियोंमें द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध हाता है। इस प्रकार अनुवागमनचक्रे चारों प्रकारोंका कारण चारों कषायोंको बतला कर, किस प्रवृत्तिमें कितने प्रकारका रसबन्ध हाता है यह बतलाते हैं।

पाच जन्तराय जादि सतरह प्रवृत्तियोंमें एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक, इसप्रकार चारों ही प्रकारका रसबन्ध होता है। इनमेंसे इनका एकस्थानिक रस तो नवें गुणस्थानके सख्यात भाग जीतज्ञानपर बधना है। और उससे नीचेके गुणस्थानोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है। इन सतरहके सिवाय दश प्रवृत्तियोंमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबन्ध होता है, किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि शेष प्रवृत्तियोंमें ६५ पाप प्रवृत्तियाँ हैं, और नवें गुणस्थानके सख्यातभाग जीतज्ञान पर उनका बन्ध नहीं हाता है। अतः उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं हाता है क्योंकि अशुभ प्रवृत्तियोंमें एकस्थानिक रसबन्ध नवें गुणस्थानके सख्यात भाग जीतज्ञानपर ही हाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि उक्त ६५ अशुभप्रवृत्तियोंमें से यद्यपि केवल शानावरण और केवल दर्श नावरणका बन्ध दसवें गुणस्थानतक हाता है किन्तु ये दोनों प्रवृत्तियाँ सन्धातिनी हैं, अतः उनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं हाता है।

शेष ४२ पुण्यप्रवृत्तियोंमें भी एकस्थानिक रसबन्ध है, जिसका सुगन्ध इस प्रकार है—
चढ़ना पड़ती है, उसपरसे उतर

है, जिसका सीढ़ी

निनुचुरमो सहजो दुतिचउमाग कडिडम्कमागतो ।

इगठाणाई असुहो अमुहाण सुहो सुहाण नु ॥ ८५ ॥

अर्थ—जैसे नीमका रस कडुआ और इसका रस मीठा होता है, वैसा ही अगुम प्रकृतियोंका रस अगुम और गुम प्रकृतियोंका रस गुम होता है। तथा, जैसे नीम और इन्के रसमें स्वाभाविक रीतिसे एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात् उनमें तबबर एक की ही कडुआ और मधुरता रहती है किन्तु जाग पर रस कर उसका स्वाध करन पर उनमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक रस हो जाता है, अर्थात् पहलेसे दुगुना, त्रिगुना और चागुना कडुआयन जाग मिठास जा जाता है। उसी प्रकार अगुम प्रकृतियोंमें सकलेश के बढ़नेसे अगुम, अगुमपर, अगुमभर और अत्यन्त अगुम, तथा गुम प्रकृतियोंमें निगुदिक बढ़नेसे गुम, गुमतर, गुमतर और अत्यन्तगुम रस पाया जाता है।

भावार्थ—पहले जा अनुभागग्रन्थके एरस्थानिक द्विस्थानिक और चार भद्र प्रकृतियों में, इस गाथा में उद्देश्य साक्षात्करण किया है, और उद्देश्य समझानेके लिये अगुम प्रकृतियोंके रसकी उपमा नामके रससे और गुम प्रकृतियोंके रसकी उपमा इसका रससे दी है। जैसे नीमका रस कडुआ होता है और पीनगलेके मुलकी एरदम कडुआ कर देता है, उसी प्रकार अगुम प्रकृतियोंका रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है। तथा, जैसे इसका रस मीठा और आनन्ददायक होता है उसी तरह गुम प्रकृति

१ मोसाहनिचुरमो असुहाण सुहाण रीरखडुवमो ।

एगठाणो उ रसो अणतगुणिया कमेणियरे ॥१५०॥ पञ्चस० ।

अर्थ—अगुम प्रकृतियोंके एरस्थानिक रसको घोषातकी नीम वगैरहकी उपमा दी जाती है और गुम प्रकृतियोंके रसको और खाद^१ उपमा दी जाती है। खादके द्विस्थानिक त्रिस्थानिक वगैरे^२ गुण रस वाले होते हैं।

तियास रस भी जीनसो जातददायक होता है ।

नीम और इन्गुका परने पर उनमेंसे जो स्वाभाविक रस निकलता है वह स्वभावसे ही कटुभा और मीठा होता है । उस कटुभाइट और माठपनस एकस्थानिक रस समझना चाहिये । नाम और इन्गुका एक एक सेर रस लेकर उह यदि आग पर पकाया जाय और जलकर वह जाध जाध सेर रह जाय ता उस द्विस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलेके स्वाभाविक रससे उस परने हुए रसमें दूना कटुभाइट और दूनी मधुरता हा जातो है । वही रस पक कर अब एक सरसा तिहाइ गेय रह जाता है ता उस त्रिस्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पहलेके स्वाभाविक रससे तिगुनी कटुभाइट और तिगुना माठपन पाया जाता है । तथा वही रस पकने पकते पन पन गेरसा एक पात्र पाय रह जाता है, ता उसे चतु स्थानिक रस समझना चाहिये, क्योंकि पहलके स्वाभाविक रससे उसमें चौगुना कटुभाइट और चौगुना माठपन पाया जाता है । उसी प्रकार कपायसी तीनताके नदने-म गुम प्रवृत्तियाम एकस्थानिकसे लेकर चतु स्थानिक पयन्त रस पाया जाता है । और कपायसी मदताक नदनेमे गुम प्रवृत्तियाम द्विस्थानिकसे लेकर चतु स्थानिक पयन्त रस पाया जाता है । क्योंकि शुभ प्रवृत्तियामे एकस्थानिक रसबन्धना नियंत्रण कर जाय है ।

जैसे नामके एकस्थानिक रससे द्विस्थानिक रसमें दूनी कटुभाइट हाता है, और त्रिस्थानिकमें तिगुनी कटुभाइट होता है । उमा प्रकार अगुम-प्रवृत्तियाके वा स्रद्धक सत्रमे चरन रसपाय हाते हैं, व एकस्थानिक रस घाले रह जाते हैं । उमे द्विस्थानिक स्रद्धकाम अनन्तगुणा रस हाता है, उमे त्रिस्थानिक स्रद्धकाम अनन्तगुणा रस हाता है और उनमें चतु-स्थानिक स्रद्धकाम अनन्तगुणा रस हाता है । इसी प्रकार गुम प्रवृत्तियाम भी समझ लेना चाहिये ।

धातिकर्मा का वा प्रवृत्तिया सत्रधातिनो हैं उनक सभा स्रद्धक सव-

बन्ध जन्ममे हा नहा हाता । अत नारक, मनुष्य और त्रियज्ञ उक्त तीनों प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहा करते, किन्तु दृष्टान स्वगतकके मिथ्यादृष्टि देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं ।

निरुन्मन आदि ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और त्रियज्ञके ही हाता है, क्योंकि त्रियज्ञायु और मनुष्यायुके सिवाय दोष ता प्रकृतियोंका नारक और देव ता जन्मसंहा, नहा बाधते हैं । तथा त्रियज्ञायु और मनुष्यायुका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध से ही जीव करते हैं जा मरकर भागभूमिम जन्म लते हैं, अत देव और नारक इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहा कर सकते । किन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्य और त्रियज्ञ ही उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं । इसप्रकार दोष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध भी अपने अपने योग्य संकल्प परिणामके धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और त्रियज्ञ ही करते हैं, अत उक्त ग्यारह प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उद्दीन हाता है ।

तथा, त्रियज्ञद्विक और सेवातसदननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देवा और नारकोंके हाता है, क्योंकि यदि त्रियज्ञ और मनुष्यके उत्तमे सकृत् परिणाम हा ता उनके नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध हाता है । किन्तु देव और नारक अतिमसकृत् परिणाम होनपर भा त्रिर्यज्ञगति के योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं । अत उक्त तान प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धमा स्वामा देवा और नारकका हा प्रतलाया है । यहा इतना विशेष वक्तव्य है कि देवगतिसे सेवातसदननका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध दृष्टान स्वगतके ऊपर मानन्कुमार आदि देव हा करते हैं, दृष्टान स्वगतकके देव उमका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहा करते, क्योंकि दृष्टान स्वगतकके देव अति सकृत् परिणामक हानकर षष्ठीद्विक योग्य प्रकृतियोंका ही बन्ध करते हैं । किन्तु सेवातसदनन एकत्रियके योग्य नहा है, क्योंकि एनेन्द्रियाके सदनन नहा हाता है ॥

विउन्वि सुरा-हारदुग सुखगइ-चन्नचउ-तेय-जिण-साय ।
समचउ-परघा-त्तसदस-पणिदि-सासु-च्च खवगाउ ॥६७॥

अर्थ—वेनियद्विक, सुरद्विक, आहारकद्विक, प्रशस्त विहायोगति, वर्ण-चतुर्ग तैजसचतुष्प (तेजस, कामण, जगुरुल्लु आर्ग निमाण), तीर्थङ्कर, सातवेदनीय, समचतुरस्रमस्थान, पराघात, वसन्त आदि दस, पञ्चद्विय जाति, उच्छ्वास, आर्ग उच्चगोत्रता उत्कृष्ट अनुभागस्थ क्षरक्रेणि चढनेगले मनुष्याके होता है ।

भावार्थ—इस गाथाम वेनियद्विक आदि प्रतीस प्रकृतियाके उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ स्वामी शरक्रेणि चढनेगले मनुष्याका बत गया है । उनमें से सातवेदनीय, उच्छ्वास और तसदसक्रमसे यह कीर्तिका उत्कृष्ट अनुभाग-ग्रन्थ सूक्ष्मसामग्रान नामक दसमें गुणस्थानके अन्तर्गत होता है, क्योंकि इन तीनों प्रकृतियाके ग्रन्थकामें वही मन्त्र विगुद्ध है आर्ग पुण्य प्रकृतियाका उत्कृष्टरसग्रन्थ जति विगुद्धपरिणामोंमें ही होता है । इन तीनों सिपाय शेष जन्तुओं प्रकृतियाका उत्कृष्टरसग्रन्थ अपूर्वकरण गुणस्थानके छठे भागमें देव-गतिके यात्र प्रकृतियाकी ग्रन्थयुञ्जित्तिने समयमें होता है । क्योंकि इन प्रकृति-योंके बाधनेगलाम अपूर्वकरण क्षरक हा जति विगुद्ध होता है । इसप्रकार इन प्रतीस प्रकृतियाके उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ स्वामी शरक्रे मनुष्य ही होता है ।

तमतमगा उज्जोय सम्मसुरा मणुय-उरलदुगवइर ।

अपमत्तो अमगाउ चउगइमिन्हा उ सेसाण ॥ ६८ ॥

अर्थ—मातृ नरकने नारक उत्रात प्रकृति उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ करते हैं । मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्ररूपमनाराच सहननका उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ सम्यग्दृष्टि देव करते हैं । देवायुता उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ अप्र-मत्तमयन मुनि करते हैं । और शेष प्रकृतियाका तीनों अनुभागग्रन्थ चारा ही गतिके मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ।

भावार्थ—गण्यम उग्रत प्रकृतिके उत्कृष्ट अनुभागनधका स्वामी सातवें नरकके नारकोंको बालाया है। न्यूनता विशेष खुलासा इसप्रकार है—सातवें नरकका कोई नारक सम्पत्त्वकी प्राप्तिके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणाको करते समय अनिवृत्तिकरणम मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। उसके करनेपर मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग हो जाते हैं, एक अन्तर-करणसे नीचेकी स्थिति, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और जिसका काल अतमुद्भूतमान है, और दूसरा उससे ऊपरकी स्थिति, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्वको अतमुद्भूतप्रमाण नीचेकी स्थितिके अन्तिम समयमें, अर्थात् जिससे आगेके समयम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उस समयमें, उस जीनके उग्रत प्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागनध होता है। क्योंकि यह प्रकृति गुप्त है अब त्रिशुद्ध परिणामसे ही उसका उत्कृष्ट अनुभागनध होता है। तथा, उसके ग्राहनेवालोंमें सातवें नरकका उत्त नारक ही अति-त्रिशुद्ध परिणामवाला है, क्योंकि अ-यगरिम इतनी त्रिशुद्धिके होनेपर मनुष्य गति अथवा देवगतिके योग्य प्रकृतियाँ ही उत्कृष्ट रमनध होता है। किन्तु उग्रत प्रकृति त्रियज्ञगतिके योग्य प्रकृतियामेस है, और सातवें नरकका नारक भरकर त्रियज्ञगतिम जमलता है, अतः सातवें नरकका नारक मिथ्यात्व में प्रतिसमय त्रियज्ञगतिके योग्य कर्मोंका ग्रहण करता है, अतः उसका ही ग्रहण किया है।

मनुष्यद्वित्र आदि पाँच प्रकृतियाँ उत्कृष्ट अनुभागनधका स्वामी सम्यग्दृष्टी देवाका बतलाया है। यद्यपि त्रिशुद्ध नारक भी इन प्रकृतिवोंका उत्कृष्ट अनुभागनध कर सकते हैं, किन्तु वे सबदा नरकक कष्टोंसे पादित रहते हैं, तथा उन्हें देवोंकी तरह तीयज्ञवोंका विभूतिके दर्शन, उनके दिव्य उपदेशका श्रवण, न दाशरद्वीरके चैल्याग्याना चन्दन आदि परिणामोंको त्रिशुद्ध करनेवाला सामग्री नहीं मिलती है, अतः उनका ग्रहण नहीं किया है। तथा, त्रियज्ञ और मनुष्य अति त्रिशुद्ध परिणामाके होनेपर देवगतिके

वाग्य प्रवृत्तियाँ ही ग्रह करते हैं। किन्तु प्रवृत्त प्रवृत्तियाँ देवगतिके योग्य नहीं हैं जत सनको छोड़कर देवोंके ही उनका उत्कृष्ट अनुभागग्रह बतलाया है। देवायुक् उत्कृष्ट अनुभागग्रहका स्वामी अप्रमत्तमुनिसे बतलाया है क्योंकि देवायुक्का बचकरनेवाले मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देवाविरत वगैरहसे वही अतिविशुद्ध होते हैं।

इसप्रकार ४२ पुण्य प्रवृत्तियोंके और चौदह पाप प्रवृत्तियोंके उत्कृष्ट अनुभागग्रहके स्वामियोंका बतलाकर शेष ६८ प्रवृत्तियोंके उत्कृष्ट अनुभागग्रहका स्वामी चारों गतिके सन्निधिरिणामी मिथ्यादृष्टि जानासे बतलाया है।

समस्त प्रवृत्तियोंके उत्कृष्ट अनुभागग्रहके स्वामियोंको बतलाकर अब उनके जघन अनुभागग्रहके स्वामियोंका विचार करते हैं—

धीणतिग अण मिच्छं मदरस सजमुम्भुहो मिच्छो ।

वियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए॥ ७० ॥

अर्थ—स्थाननिर्दिष्टिक, अनन्तानुन्धी काय, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, इन आठ प्रवृत्तियोंका जघन अनुभागग्रह समयके अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीन करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका जघन अनुभागग्रह समयके अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीन करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका जघन अनुभागग्रह समयके अभिमुख देवाविरत गुणस्थानवाला जीन करता है। अरुति और शत्रुता जघन अनुभागग्रह समयके अभिमुख प्रमत्तमुनि करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट अनुभागग्रहके स्वामियोंको बतलाकर इस गायत्रे जघन अनुभागग्रहके स्वामियोंका बतलाया है। पहले बतलाया था कि

१ कर्मकाण्ड गा० १६१-१६९ में उत्कृष्ट अनुभागग्रहके स्वामियोंका निरूपण किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है।

करते हैं। किन्तु जादारिक अङ्गलाङ्गका जघन अनुभागग्रन्थ ज्ञान स्वगत ऊपरक सान्तुमार आदि देन ही करते हैं। क्योंकि ज्ञान स्वगतक के देव उरुष्ट गकङ्कक होनेपर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियाँ ही ग्रन्थ करते हैं, और एकेन्द्रियोंके अङ्गलाङ्ग नहीं होता है। अतः दशा स्वगतक के देवों के अङ्गलाङ्ग नामकर्मका जघन अनुभागग्रन्थ नहीं होता है।

शङ्का—इहान स्वगतक देव अङ्गलाङ्गका जघन अनुभागग्रन्थ न करे, ता न करे, किन्तु मनुष्य और तियञ्च इन तीनों प्रकृतियोंका जघनग्रन्थ क्या नही करते ?

उत्तर—तियञ्चगतिके योग्य प्रकृतियाँ के ग्रन्थके साथ ही इन तीनों प्रकृतियोंका जघन अनुभागग्रन्थ होता है। अर्थात् जा जान तियञ्चगतिके योग्य प्रकृतियाँ का ग्रन्थ करता है वही इनका जघन अनुभागग्रन्थ भी करता है। यदि तियञ्च और मनुष्याक उतने सकल्य परिणाम हा, जितने इन प्रकृतियोंके जघन अनुभागग्रन्थके जिये जायश्यक हैं, ता व नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका हा ग्रन्थ करते हैं। अतः उनके इन प्रकृतियोंका जघन अनुभागग्रन्थ नहीं बनाना है ॥

तिरिदुगनिज तमतमा जिणमविरय निरय विणिग-वावरय ।

आमहुमायन समो व साय-विर-सुभ-जसा सिअरा ॥७२॥

अर्थ—तियञ्चगति, तिरिदुग-शानुपूर्वा आर नीचगोरस जघन अनुभागग्रन्थ सातों नरक नारक करते हैं। नीचनरनाम कमरा जघन अनुभागग्रन्थ अविरत सम्पद्यति जाव करता है। एकन्द्रियताति और स्थावर नामकर्मका जघन अनुभागग्रन्थ गरुगतिके मित्राय दोष तीनों गतिके अव करते हैं। आत्म प्रकृतिका जघन अनुभागग्रन्थ साधम स्वर्ग तरक देन करते हैं। सातनदनाय, स्थिर, गुम, यग कर्ति, और उनके प्रतिग ती—असातनदनाय, अस्थिर, अगुम और अयग कर्तिका जघन अनुभागग्रन्थ सम्पद्यति अथवा सम्पद्यति जीव करते हैं।

भावार्थ—तिर्यङ्गगति आदि तान प्रवृत्तियाका जपन्य अनुभागराज सामान्यतः सातव नगकम प्रकटया है। विशेषतः, सातवें नगका काह नागक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये जत्र बयाप्रवृत्त जादि तीन कारणका करता हुआ अन्तके अनिवृत्तिप्रकरणसे करता है, ना वहाँ अनिवृत्तिप्रकरण अन्तिम समयमें उक्त ताना प्रवृत्तियाका जपन्य अनुभागराज करता है। य तीना प्रवृत्तिया अनुभूत हैं अतः सर्वत्रिगुण जीव ही उनका जपन्य अनुभागराज करता है। और उनके बधसम सातव नगका उक्त नागक ही विशेष त्रिगुण है। इन प्रकारकी त्रिगुणिके दानेपर हमारे जान मनुष्यद्विक योगीश और उद्योगावका हा बध करते हैं, अतः यहाँ सत्तम प्रथिनीक नागका ही ग्रहण किया है।

साधक तामकमका जपन्य अनुभागराज साधकसे अविरतसम्यग्दृष्टि जीवक प्रकटया है। विशेष से उद्योगकायु अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य तरक म उत्तरन दानक लिये जत्र सिध्यात्तरक तामकम हाता है तत्र यह साधक प्रवृत्तिया जपन्य अनुभागराज करता है क्योंकि यह प्रवृत्ति गुण है। गाराग यह है कि साधक प्रवृत्तिया जत्र चाये गुणभानस लक्ष जाडवें गुणभान तक हाता है। त्रिगु गुण प्रवृत्तिनाका जपन्य अनुभागराज स्वकम होता है और यह मकम साधक प्रवृत्ति जत्रसम सिध्यावने अनिमग अविरतसम्यग्दृष्टि ही हाता है, अतः उभाका ग्रहण किया है। त्रिगुणगति साधक प्रवृत्ति जत्र नग हाता, अतः वहाँ मनुष्यका ग्रहण किया है। त्रिगुणगति साधक प्रवृत्ति बध करनेसे पहले नागकी जायु नदी यात्रा है, तत्र नाग नगरसे नहीं जाता, अतः उद्योगकायुका ग्रहण किया है। धार्मिक सम्यग्दृष्टि जीव भेदिक सागरी तगद तामकमसहित मकर नगर उत्तम हा मकमे हैं, त्रिगु ये त्रिगुण हाते हैं अतः त्रिगुण-प्रवृत्ति जत्र अनुभागराज ३ ताने कर सकते हैं। हमलिय उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर प्रकृति का जगत् अनुभागबध नरकगति के सिवाय दोष तीव्र गतियोंके परावर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव करते हैं। य दारा प्रकृतिया अगुम हैं, अत अतिस्फूर्ति जाव उनका उत्कृष्ट अनुभागबध करता है, और अतिमिगुद जीव इनको छोड़कर पञ्चेन्द्रिय जाति और वसनामरमना बध करता है। इसलिय मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। प्रथम अन्तमुहूर्तम एकेन्द्रियजाति और स्थावर नामका बध करके पत्र दूसरे अन्तमुहूर्तम भी उन्हीं प्रकृतियोंका बध करता है, तब भी यह मध्यम परिणाम रहता है। किन्तु उम समय उस अवस्थित परिणामम उत्तनी विगुदि नहां रहती है, अत परावर्तमान मध्यम परिणामका ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बध करके पञ्चेन्द्रिय जाति और वसनामका बध करता है और उनका बध करके पुन एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामका बध करता है, तब इसप्रकारका परिवर्तन करके बध करनेवाला परावर्तमान मध्यमपरिणामवाला जो अपने योग्य विगुदिके हानेपर उच्च दो प्रकृतियोंका जगत् अनुभाग बध करता है।

आतप प्रकृतिका जगत् अनुभागबध इगान स्वर्गतत्त्वे देवोके जगत् छाया है। गाथामें यद्यपि 'आस्तुष्टुम' पाठ है और उसका अर्थ 'सौधम स्वर्गत' होता है, तथापि सौधर्म और इगान स्वर्ग एक ही भेदोंमें वर्तमान हैं अत सौधर्मके ग्रहणसे इगानका भी ग्रहण किया गया है। क्योंकि मयनपतिसे लेकर इगान स्वर्गतत्त्वे देव आतपप्रकृतिके बधमेंमें विशेष संक्षिप्त होते हैं, अत एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बध करते समय वे आतप प्रकृतिका जगत् अनुभागबध करते हैं। क्योंकि यह प्रकृति गुम है अत स्फूर्ति जीवोंके हा उसका जगत् अनुभागबध होता है। तथा, इतने स्फूर्ति परिणाम यदि मनुष्य और त्रिधाके होते हैं तो वे नरकगतिने योग्य प्रकृतियोंका ही बध करते हैं। और नारक तथा खान्दुमार आदि

स्वर्गोंके देव जन्मसे ही इस प्रकृतिमा बंध नहीं करते हैं । अतः सन्तो छोड़कर इशान स्वर्गतकके देवानों ही उसमा बंधक बतलाया है ।

सातवेदनीय आदि आठ प्रकृतियोंके जन्य अनुभागबन्धके स्वामों परावतमान मध्यमपरिणामगले सम्यग्दृष्टि जयवा मिथ्यादृष्टि होते हैं । जिसमा खुलासा इसप्रकार है—प्रमत्तमुनि एक अन्तर्मुहूर्ततक असातवेदनीयकी अन्त कोटीभोगी सागर प्रमाण जन्य स्थिति बाधता है । अन्तर्मुहूर्तके बाद वह सातवेदनीयमा बाध करता है, पुनः असातवेदनीयका बाध करता है । इसीप्रकार देशविरत, अविरतसम्यग्दृष्टि सम्मिथ्यादृष्टि, सात्वादनसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जो साताके बाद असाताका और असाताके बाद साताका बन्ध करते हैं । उनमेंसे मिथ्यादृष्टि और साताके बाद असाताका और असाताके बाद साताका बाध सततक करता है, जन्यक सातवेदनीयकी उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटीभोगी सागर होती है । उसने बाद और भी सक्रिय परिणाम होनेपर केवल असाताका ही तब तक बन्ध करता है जन्यक उसकी तीस कोटीभोगी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है । प्रमत्तसे ऊपर अप्रमत्त आदि गुणस्थानगले और केवल सातवेदनीयमा ही बाध करते हैं । इस निरूपणसे यह स्पष्ट है कि सातवेदनीयके जन्य अनुभागबन्धके योग्य परावतमान मध्यमपरिणाम सातवेदनीयकी पन्द्रह कोटीभोगी सागर स्थितिवधसे लेकर छट्ठे गुणस्थानम असातवेदनीयके अन्तकोटीभोगी सागर प्रमाण जन्य स्थितिवध तक पाये जाते हैं । कारण यह है कि परावतमान परिणाम तभी तक हो सन्ते हैं जन्यक प्रतिपक्षी प्रकृतिमा बाध होता है । अतः जन्यक साताने साथ असाताका भी बाध सम्य है तभीतक परावतमान परिणाम होते हैं । किन्तु सातवेदनीयके उत्कृष्ट स्थितिवधसे लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने सक्रिय होते हैं कि उनसे असातवेदनीयमा ही बन्ध हो सकता है । तथा छट्ठे गुणस्थानके अन्तमें असातवेदनीयमा बाधसुच्छिन्ति हो जानेसे

कारण उसके आगे विशुद्धिसे बगल सातवेदनीयका ही बंध होता है। अतः दानाके बीचमें ही इसप्रकारके परिणाम होते हैं जिनसे उनका जघन अनुभागबन्ध होता है। इसीलिये सातवेदनीय और असातवेदनीयके जघन अनुभागबन्धका स्वाभाव परावर्तमान मध्यमपरिणामवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवाको बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ और अयत्न कीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति घीस कागीरोटी सागर बतलाइ है और स्थिर, शुभ और यत्न कीर्तिकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोगीकोटी सागर बतलाइ है। प्रमत्तमुनि अस्थिर, अशुभ और अयत्न कीर्तिकी अन्त कागीरोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिको बाधता है। फिर निशुद्धिकी बजहसे उनकी प्रतिपक्षी स्थिरादिक प्रवृत्तियाँ बंध करती हैं। उनके बाद पुनः अस्थिरादिकका बंध करता है। इसीप्रकार देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सात्यादन और मिथ्यादृष्टि जीव स्थिरादिकके बाद अस्थिरादिकका और अस्थिरादिकके बाद स्थिरादिकका बंध करते हैं। उनमेंसे मिथ्यादृष्टि इन प्रवृत्तियोंका उक्त प्रकारसे तत्काल बंध करता है जबतक स्थिरादिकका उत्कृष्ट स्थितिवर्धन नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके योग्य इन स्थितिवर्धन ही उक्त प्रवृत्तियोंका जघन अनुभागबन्ध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणम्यानम स्थिरादिकके उत्कृष्ट स्थितिवर्धनके पश्चात् तो अस्थिरादिकका ही बंध होता है और अप्रमत्तादिक गुणस्थानाम स्थिरादिकका ही बंध होता है और सकलेश परिणामोंकी अधिष्ठाता है और दूसरेम विशुद्धपरिणामाकी अधिष्ठाता है। अतः दोनों हीमें रसजघन अधिक मानामें होता है। इसलिये इन दोनोंका सिवाय ऊपर बतलाये गये दोष स्थानांमें ही उक्त प्रवृत्तियोंका जघन रसजघन होता है। इसप्रकार गायाम बतलाइ गई प्रवृत्तियोंके जघन अनुभागबन्धक स्वामियोंका विवरण जानना चाहिये।

तस-चन्न-त्तेयचउ-मणु-स्वगइदुग-पणिंदि-सास-परघु-च्च ।

सधयणा-भिड-नपु-त्थी-सुमगियरति मिच्छ चउगइया॥७३॥

अर्थ—यम आदिक चार, यण आदिक चार, तैजस आदि चार, मनुष्यद्विज, दाना विहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, उल्लास, पराघात, उचगात्र, छह सहनन, छह सस्थान, नपुसकवेद, ओवेद, मुमग आदि तीन और उनके प्रतिपत्ती दुभग आदि तान प्रवृत्तियोंका जगन्म अनुभागनध चारागतिके मिथ्यादृष्टि जीन करते हैं ।

भावार्थ—इस गायाम तसचतुष्क आदि तशालीम प्रवृत्तियोंके जगन्म अनुभागनधका स्वामी चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीनको जतलाया है । जिनमेंसे तस, जादर, पयात, प्रत्येन, शुभयग, गुभरस, शुभगन्ध, गुभ-स्यश, तैजस, कामग, अगुरुन्तु, निमाण, पञ्चेन्द्रियजाति, उल्लास और पराघात, इन पन्द्रह प्रवृत्तियोंका जगन्म अनुभागनध चारों गतिके उत्कृष्ट सकलेशमाले मिथ्यादृष्टि जीन करते हैं । ये प्रवृत्तिया गुम हैं जत उत्कृष्ट सकलेशसे उनका जगन्म अनुभागनध होता है । चारा गतिके मिथ्या-दृष्टिनामेंसे तियञ्च और मनुष्य उत्कृष्ट सकलेशके होनेपर नरकगतिके साथ उक्त प्रवृत्तियाका जगन्म अनुभागनध करते हैं । अथात् जिस समय उनके इतने सक्लिष्ट परिणाम होते हैं कि उनकी बजहसे वे नरकगतिके योग्य प्रवृत्तियाका नय करते हैं उसी समय उनके उक्त प्रवृत्तियोंका जगन्म अनुभागनध होता है । नारक और इशान स्वगसे ऊपरके देव सकलेशके होनेपर पञ्चेन्द्रिय तियञ्च पयायके योग्य उक्त प्रवृत्तियाको नाधते हुए उनका जगन्म अनुभागनध करते हैं, और इशान स्वगतकके देव पञ्चेन्द्रियजाति और तसको छोड़कर शेष तेरह प्रवृत्तियोंको एकेन्द्रिय जायके योग्य नाधते हुए उनका जगन्म अनुभागनध करते हैं । अथात् नारक और इशान स्वगसे ऊपरके देव पञ्चेन्द्रिय तियञ्चनायम जम लेनेके योग्य प्रवृत्तियोंका वध करते हुए उसके ही योग्य उक्त प्रवृत्तियाका जगन्म अनुभागनध करते हैं, और इशान स्वगतकके देव एकेन्द्रिय पयायम

जन्म करनेके योग्य प्रकृतियोंका प्रत्येक करते हुए उसके ही योग्य उस प्रकृतियों-
का जन्म अनुभागबध करते हैं। पञ्चेन्द्रिय जाति और वस्त्रनाम कर्मका बध
इतना स्थगित करने देना कि विमुक्त दशम ही होता है, अतः उनके इन दोनों
प्रकृतियोंका जन्म रसबध नहीं होता। इसीसे इन दोनोंका छड़ दिया है।

स्वर्ग और नृपुत्रसंवेदका जन्म अनुभागबध विमुक्त परिणामवाले
मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि ये प्रकृतियाँ अनुभूत हैं। मनुष्यद्विष,
छद्म सहनन, छद्म संस्थान, विहायागतिना युगल, सुभग, सुखर, आदेय,
दुभा, दुःखर, अनादेय और उद्योगाना जन्म अनुभागबध चारों गतिके
मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं। सम्पद्दृष्टिके इनका जन्म
अनुभागबध नहीं होता है, क्योंकि सम्पद्दृष्टि त्रिषद्विष और सम्पद्दृष्टि-
मनुष्य देवद्विषका ही बध करते हैं—मनुष्यादिद्विषका बध नहीं करते,
संस्थानामसे समचतुरस्र संस्थानका ही बध करते हैं। सहननका बध ही
नहीं करते हैं। तथा गुम विहायागति, सुभग, सुखर, आदेय और उद्योगाना
का ही बध करते हैं, उनके प्रतिगती दुर्भग आदिका बध नहीं करते। और
सम्पद्दृष्टि देव और सम्पद्दृष्टि नारक भी मनुष्यद्विषका ही बध करते हैं—
त्रिषद्विष वगैरहका बध नहीं करते। संस्थानामसे समचतुरस्र संस्थान
का और सहननामसे वस्त्ररूपमन्त्राचसहननका बध करते हैं। विहाया-
गति वगैरह भी गुम ही बाधते हैं। अतः उनके प्रतिगती प्रकृतियोंका
बध नहीं होता। और उनका बध न होनेसे परिणामोंमें परिवर्तन नहीं
होता। परिवर्तन न होनेसे परिणाम विमुक्त रहे रहते हैं अतः प्रगत
प्रकृतियोंका जन्म अनुभागबध नहीं होता है। इसीसे सम्पद्दृष्टिना ग्रहण
न करके मिथ्यादृष्टिना ग्रहण किया है। इसप्रकार मायामें बतलाह गद्
बदलीस प्रकृतियोंका प्रत्येक अनुभागबधने स्वामियाकी जानना चाहिये।

१ कर्मकाण्डमें भा० १७० से १७३ तक जन्म अनुभागबधके स्वामियों
को गिनाया है। जिसमें कर्मप्रश्नसे कोई अन्तर नहीं है।

अन्य अनुभागों के स्वामियों को उत्तर और उत्तर प्रकृतियों में अनुभागों के भेदों का विचार करते हैं—

चउतेयचन्नयेयणियनामणुस्कोसु सेसधुमंधी ।
घाईणं जजहन्नो गोए दुणिहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसमि दुहा

अर्थ—तैजस जादि चार, वण आदि चार, वेदनाय और नामस्मरणा अनुत्कृष्ट अनुभागों की सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का होता है । ये ध्रुवों की प्रकृतियों की और घातिस्मरणों की अनन्य अनुभागों की सादि जादि चार प्रकार का होता है । गौतमस्मरणा अनुत्कृष्ट और अनन्य चार प्रकार का होता है । तथा, उत्तर प्रकृतियों के शेषों की और शेषप्रकृतियों के सभी चारों ही प्रकार के होते हैं ।

मार्थ—कर्मों की सत्ता के कम अनुभाग शक्ति को सज्जन्य कहते हैं, जो सज्जन्य अनुभागशक्ति के ऊपर के एक अविभागी अंग का जादि है सत्ता के उत्कृष्ट अनुभाग तत्ता के भेदों को अनन्य कहते हैं । इस प्रकार अनन्य और अनन्य भेदों अनुभागों के अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं । तथा, सत्ता के अधिक अनुभाग शक्ति को उत्कृष्ट कहते हैं । और उसमें से एक अविभागी अंग कम शक्ति के ऊपर सज्जन्य अनुभाग तत्ता के भेदों को अनुत्कृष्ट कहते हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों में अनुभाग शक्ति के समस्त भेद गर्भित हो जाते हैं । उदाहरण के लिये, यदि सज्जन्य अनुभागों का प्रमाण ८ और सत्ता के उत्कृष्ट अनुभागों का प्रमाण १६ कल्पना लिया जाय, तो ८ का सज्जन्य कहेंगे और आठों के ऊपर नौ से तेर १६ तत्ता के भेदों को अनन्य कहेंगे । इसी तरह १६ को उत्कृष्ट कहेंगे और १६

१ पञ्चमस्कन्ध गा० २७२-२७३ में भी मूत्र और उत्तर प्रकृतियों के चारों के विचार इसी प्रकार बताए हैं ।

से एक कम १५ से लेकर ८ तकके भेदोंकी अनुवृष्ट कहेंगे ।

इस गायाम मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें इन भेदोंका विचार उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भेदोंके साथ किया है । एवही गायामें मूल और उत्तर प्रकृतियोंमें विचार किया है, जो अनमन्यदशा जान पड़ता है । किंतु संक्षेपमें वृणन करनेके विचारसे ही ऐसा किया गया है । गायामें बतलाय गये भेदोंका सुलसा निम्नप्रकार है—तैषस, पामण, अगुरुलघु, निमाण, गुभयग, गुमगध, शुभरस और गुमस्पर्श, इन आठ प्रकृतियोंका उत्वृष्ट अनुभागनध क्षरक अपूर्वस्वरण गुणस्थानमें देवगतिके योग्य तीस प्रकृतियोंके अधिच्छेदक समय होता है । इसके सिवाय अथ स्थानामें, यदातदा कि उपशमभेदोंमें भा, उक्त प्रकृतियोंका अनुवृष्ट अनुभागनध ही होता है । किंतु ग्यारहव गुणस्थानमें उनका बाध विस्तृत नहीं होता है । अतः ग्यारहव गुणस्थानसे गिरकर जब कोई जीव उक्त प्रकृतियोंका पुनः अनुवृष्ट अनुभागनध करता है, तब यह बाध सादि कहा जाता है । इस अनस्थानो प्राप्त होनेसे पहले उनका बाध आदि कहा जाता है, क्योंकि उस जीवनक वह बाध अनादिपालसे होता चला आता है । अन्य जीवनका बाध अध्रुव और अमन्य जीवका बाध ध्रुव होता है । इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियोंका अनुवृष्ट अनुभागनध चार प्रकारका होता है । किंतु शेष उत्वृष्ट, लघन्य और अलघन्य अनुभागनधके सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं । क्योंकि तैजमचतुष्क और वणचतुष्कका उत्वृष्ट अनुभागनध क्षरक अपूर्वस्वरण गुणस्थानमें चलता आता है । वह बाध इससे पहले नहीं होता है, अतः सादि है, और एक समयतक होकर आगे नहीं होता है, अतः अध्रुव है । ये प्रकृतियां शुभ हैं अतः इनका लघन्य अनुभागनध उत्वृष्ट सकलावाला पयाप्त सहा पञ्चेन्द्रिय मिथ्या-दृष्टि जापही करता है । और कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक दो समयों बाद वही जीव उनका अलघन्य अनुभागनध करता

है। कालान्तरमें उत्कृष्ट सबलेशके होनेपर वह उनका पुन जग्रन्थ अनु-
भागग्रन्थ करता है। इस प्रकार जग्रन्थ और अजग्रन्थ अनुभागग्रन्थ भी
सादि और अभुव ही होते हैं।

वेदनाय और नामरुमका अनुकृष्ट अनुभागग्रन्थ भी चार प्रकारका
होता है, जो इस प्रकार है—वेदनीय कमका साता और नामरुमकी
यद्यपीति प्रवृत्ति अपक्षासे इन दोनों कमोंका उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ क्षपक
सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें हाता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें उत्त
दोनों कमोंकी उत्त दो ही प्रवृत्तियाँ प्रवृत्ती हैं। इसके सिवाय अन्य समी
स्थानामें वेदनीय और नामरुमका अनुकृष्ट अनुभागग्रन्थ होता है। किन्तु
ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका वध नहा हाता है। अत ग्यारहवें गुण-
स्थानसे च्युत होकर जो अनुकृष्ट अनुभागग्रन्थ होता है, वह सादि है।
उससे पहले वह अनादि है। मय जीवका वध अभुव और अमय जीव-
का वध भुव है। इस प्रकार वेदनाय और नामरुमका अनुकृष्ट अनु-
भागग्रन्थके चार भेद होते हैं। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जग्रन्थ और अजग्रन्थ वध
के दो ही भेद होते हैं, क्योंकि वेदनाय और नामरुमका उत्कृष्ट अनु-
भागग्रन्थ क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें प्रवृत्त आये हैं। इससे
पहले किसी भी गुणस्थानमें वह वध नहा होता है, अत सादि है। और
बारहवें आदि गुणस्थानाम तो नियमसे नहीं होता है जत अभुव है। तथा,
इन कमोंका जग्रन्थ अनुभागग्रन्थ मध्यम परिणामनाला सम्यग्दृष्टि अथवा
मिथ्यादृष्टि जान करता है। यह जग्रन्थ अनुभागग्रन्थ अजग्रन्थग्रन्थके बाद
होता है, जत सादि है। तथा कमसे कम एक समय तक और अधिकसे
अधिक चार समय तक जग्रन्थग्रन्थ होनेके पश्चात् पुन अजग्रन्थ वध होता
है, अत जग्रन्थ वध अभुव है और अजग्रन्थग्रन्थ सादि है। उसके बाद
उसी भवमें या किसी दूसरे भवमें पुन जग्रन्थग्रन्थ होनेपर अजग्रन्थग्रन्थ
अभुव होता है इस प्रकार शेष तीनों वध सादि और अभुव होते हैं।

तैजस चतुष्पदे सिगाय शेषध्रुवग्रधि प्रकृतियोऽना अजपन्य अनुभागवध चार प्रकारका हाता है । जो इस प्रकार है—पाँच शानावरण, चार दशनावरण और पाँच अन्तर्गतता जगत् अनुभागवध सूत्रसाधारण गुणस्थानके अन्तर्गत होता है । अन्य स्थानोंमें उनका अजपन्य अनुभागवध हाता है क्योंकि ये प्रकृतियाँ अशुभ हैं । तथा, ग्यारहवें गुणस्थानमें उनका वध ही नहीं होता है । अतः ग्यारहवें गुणस्थानमें च्युत हातर जो अनुभागवध होता है वह सादि है, उससे पहले वह वध अनादि है, भयका वध अधुव है और अमन्यका वध भुव है । सज्जलन चतुष्पदेका जगत् अनुभागवध धरन अनिवृत्तिवरण गुणस्थानमें अपनी अपनी वधधुच्छित्तिके समय होता है, क्योंकि वह अगुम प्रकृति है । इसके सिवा अन्य सब जगद् अजपन्यवध होता है । ग्यारहवें गुणस्थानमें वध नहीं हाता है, अतः वहाँ से च्युत हातर जो अजपन्यवध होता है वह सादि है, इससे पहले अनादि है, मन्वका वध अधुव है और अमन्यका वध भुव है ।

विद्रा, प्रचला अगुमवर्ग, अगुम रस, अगुम रास, उपघात, भय और उगुप्ताका क्षपक अपूर्णकरणमें अपने अपने वधधुच्छेदक समयमें एक एक समय तक जगत् अनुभागवध होता है । अय सब स्थानोंमें उनका अजपन्य अनुभागवध हाता है । उपगुम धेणिम वधधुच्छित्ति करके वहाँ से गिरतर जो पुन उहीना अजपन्य वध होता है या वह वध सादि है । वधधुच्छित्तिसे पहले उनका वह वध अनादि है । अमन्यका वध भुव है और मन्वका वध अधुव है ।

प्रत्याख्यानावरणकषायका जगत् अनुभागवध समयमें प्राप्तिसे अमिमुग वेगविरत अपने गुणस्थानके अन्त समयमें करता है । उससे पहले उसका जो वध होता है वह अजपन्यवध है । अप्रत्याख्यानावरण कषायका जगत् अनुभागवध सायिक सम्यक्त्व और समयको एकसाथ प्राप्त करनेका इन्दुक अत्यन्त विशुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव जपन गुणस्थानके

अन्त समयमें करता है । इसके सिवाय शेष सर्गों उसका अजघन्य अनुभागग्रन्थ होता है । स्थानर्द्धि, निग्ननिग्न, प्रचलाप्रचला, मिथ्यात्व और अनंतानुग्रही कथायका जघन्य अनुभागग्रन्थ सम्पत्त्व और सयमका एकाग्रता प्राप्त करनेका इच्छुक अत्यन्तविगुह्य मिथ्यादृष्टि जाव अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें करता है । इसमें सिवाय शेष सर्व उनका अजघन्य अनुभागग्रन्थ होता है । य देगिरित्त बगैरह अपनी अपनी उत्त प्रकृतियाके ग्रन्थनाम अत्यन्तविगुह्य होते हैं, इसलिये उन उन प्रकृतियाका जघन्य अनुभागग्रन्थ करते हैं । उसके बाद सयम बगैरहका प्राप्त करके, वहाँसे गिरकर जब पुन उनका अजघन्यानुभागग्रन्थ करते हैं तब यह ग्रन्थ सादि होता है । उससे पहलेका अजघन्यग्रन्थ अनादि होता है । अभव्यका ग्रन्थ ध्रुव होता है और भव्यका ग्रन्थ अध्रुव होता है । इस प्रकार तैत्तलीस ध्रुव प्रकृतियोंका अजघन्य अनुभागग्रन्थ चार प्रकारका होता है । तथा, उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागग्रन्थके दो ही प्रकार होते हैं । जो इस प्रकार हैं—४३ प्रकृतियोंके अजघन्य अनुभागग्रन्थका विचार करते समय सूत्रसाम्प्रदाय आदि गुणस्थानामें उनका जघन्य अनुभागग्रन्थ बतला जाय है । वह जघन्य अनुभागग्रन्थ उन उन गुणस्थानामें पहला बार होता है जत सादि है । गारह्यें जादि ऊपरके गुणस्थानामें नहीं होता है जत अग्रुव है । तथा, इन तैत्तलीस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ उत्कृष्ट सकलेशगाला पयाप्त सही पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जाव एक अग्रुव दो समग्रतक करता है । उसके बाद पुन अनुत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ करता है । कालान्तरमें उत्कृष्ट सकलेशके हानेपर पुन उनका उत्कृष्ट अनुभागग्रन्थ करता है । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागग्रन्थम सादि और अध्रुव दो ही विन्य होते हैं । इस प्रकार ध्रुवग्रन्थप्रकृतियोंके अजघन्य जादि चारों भेदोंमें सादि बगैरह भङ्गों का विचार जानना चाहिये ।

इसकारणने सप्तम नरकके नारकका ही ग्रहण किया है, क्योंकि सातवें नरकम मिथ्यात्वदशाम नीचगोनका ही बन्ध बनलाया है । तथा, जा नारक मिथ्यादृष्टि सम्पत्त्वके अभिमुख नहीं हैं उसके नीचगोनका अज्ञपन्य अनुभागबन्ध होता है और सम्पत्त्वकी प्राप्ति होनेपर उच्चगोनका अज्ञपन्य अनुभागबन्ध होता है । अतः सम्पत्त्वक अभिमुख मिथ्या-दृष्टिका ग्रहण किया है । नाचगोनका यह ज्ञपन्य अनुभागबन्ध अन्यत्र समान नहीं है और उसी अवस्थामें पहले पहल होता है, अतः सादि है । सम्पत्त्वकी प्राप्ति होनेपर वही जोर उच्चगोनकी अपक्षासे गान्धर्वमना अज्ञ-पन्य अनुभागबन्ध करता है, अतः ज्ञपन्य अनुभागबन्ध अभ्रुव है और अज्ञान्य अनुभागबन्ध सादि है । इससे पहले जा अज्ञान्य अनुभागबन्ध होता है वह अनादि है । अभयना अज्ञपन्यबन्ध भ्रुव है और भयका अज्ञपन्यबन्ध जभ्रुव है । इसप्रकार गोनरूपने ज्ञपन्य अनुभागबन्धके दो और अज्ञपन्य अनुभागबन्धके चार विकल्प हाते हैं ।

तथा, जबशिष्ट जायुक्रमके ज्ञपन्य, उत्कृष्ट और अनुकृष्ट अनु-भागबन्धके सादि और अभ्रुव दा ही निरुद्ध होत हैं, क्योंकि भु-रमान जायुके त्रिभाग वगैरह नियतशालमें ही जायुक्रमका बन्ध होता है अतः उसका ज्ञपन्यादि रूप अनुभागबन्ध भी सादि है । तथा, अन्तमुद्धूतके बाद वह बन्ध अवश्य रुक जाता है, अतः बन्धके अभ्रुव होनेके कारण उसका

१ गान्धर्वसार कर्मकाण्डमें अनुभागबन्धके ज्ञपन्य अज्ञपन्य आदि प्रकारोंमें सादि वगैरहका विचार दो गाथाओंमें किया है—एकमें मूलप्रवृत्तियों की अपेक्षा और दूसरीमें उत्तर प्रवृत्तियोंकी अपेक्षासे । किन्तु कर्मग्रन्थसे उसमें कोई गन्तर नहीं है । देखो—गा० १७८ १७९ ।

कर्मप्रवृत्तिक बन्धप्ररूपणा नामक अधिहारकी ६७ वीं गाथाकी उपाध्याय मणोविजयकृत टीकामें भी अनुभागबन्धमें सादि अनादि भगोहा विवेचन किया है जो कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है ।

बधन्यादिरूप अनुभागबध भी अधुव ही होता है । साराश यह है कि जन आयुर्म्मना बध ही सादि और अधुव होता है, तन उसोके भेद बधन्यादि अनुभागनध ता सादि और अधुव होने ही चाहिये । इसप्रकार अनुभागबधनी अपधासे मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतियोंमें भङ्गाका विचार जानना चाहिये ।



२० प्रदेशबन्धद्वार

अब प्रदेशबधना बणन करते हैं । पुद्गलके एक परमाणुको एक प्रदेश कहते हैं । अत जो पुद्गलस्वध कर्मरूप परिणत होते हैं, परमाणुके द्वारा उन पुद्गलस्वधोंका परिमाण ओंका जाता है कि अमुक समयमें इतने परमाणुगले पुद्गलस्वध अमुक जीवके कर्मरूप परिणत हुए हैं, उसे प्रदेशबध कहते हैं । आ पुद्गलस्वध कर्मरूप परिणत होते हैं, उह कर्मवर्गणास्वध कहते हैं । बात यह है कि यह लोक पुद्गलकायसे रस ठसा-ठस भरा हुआ है, और यह पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओंमें विभाजित है । उही अनेक वर्गणाओंमेंसे एक कर्मवर्गणा भी है । ये कर्मवर्गणाएँ ही जीर के योग और कषायरूप भावाका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती हैं । अत प्रदेशबधना स्वरूप समझानेके लिये कर्मवर्गणाका स्वरूप बतलाना आवश्यक है । किन्तु कर्मवर्गणाका स्वरूप तभी जाना जासकता है जब उसके पूवकी औदारिक आदि वर्गणाका भी स्वरूप बतलाया जाये, अत बानीरी वर्गणाओंका स्वरूप भी कहना ही चाहिये । ये दोष औदारिक आदि वर्गणाएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक ग्रहणयोग्य और एक अग्रहणयोग्य । अत अग्रहण वर्गणाकी आदि ऐकर कर्मवर्गणा पयत वर्गणाओंका निरूपण करते हैं—

इगदुगणुगाइ जा अभवणतगुणियाणू ।

खधा उरलोचियग्गणा उ तह अगहणतरिया ॥ ७५ ॥

अर्थ—एकणुरु, द्वयणुरु आदिको लेकर एक एक परमाणुकी वृद्धि होते होते अभ्यराशिसे अनन्तगुणे परमाणुजासे जा स्वयं तैमार हाते हैं, य औदारिक शरीरक ग्रहण योग्य वगणाएँ होती हैं । उन ग्रहणयोग्य वगणाआवे ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वगणाएँ निष्पन्न होती हैं । ग्रहणवगणा अग्रहणवगणासे अन्तरित हैं । अर्थात् ग्रहणवगणाके बाद अग्रहणवगणा और अग्रहण वगणाके बाद ग्रहणवगणा आती है ।

भाषार्थ—(समानजातीय पुद्गलको समूहको वगणा कहते हैं ।) जैसे समस्त लोकाकाशमें जा कुछ एकानी परमाणु पाये जाते हैं उन्हें पहली वगणा कहते हैं । दो परमाणुओंके मेलसे जो स्वयं बनते हैं, उन्हें दूसरी वगणा कहते हैं । तीन परमाणुओंके मेलसे जा स्वयं बनते हैं, उन्हें तीसरी वगणा कहते हैं । इसप्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते सख्यातप्रदेशी स्वयंको सख्याताणु वगणा, असख्यातप्रदेशी स्वयंको असख्याताणु-वगणा, अनन्तप्रदेशी स्वयंको अनन्ताणुवगणा, अनन्तानन्तप्रदेशी स्वयंको अनन्तानन्ताणुवगणा जानना चाहिये । ये सभी वगणाएँ अल्प परमाणु-धारण होनेके कारण जीवके द्वारा ग्रहण नहीं कीजातीं, इसलिये इन्हें अग्रहण

१ एगा परमाणूण एगुत्तरवह्दिवा ततो कमसो ।

सखत्रपणसाण सखेज्जा वग्गणा होवि ॥ ६३६ ॥

ततो सखाइआ सखाइयपणसमाणाण ।

सत्तो पुणो अणताणतपणमाण गत्तूण ॥ ६३७ ॥

ओराळिमस्स गहणप्पाओग्ग्या वग्गणा अणताओ ।

अगहणप्पाओग्ग्या तस्सेव ततो अणताओ ॥ ६३८ ॥

एवमओग्ग्या ओग्ग्या पुणो अओग्ग्या य वग्गणाणता ।"विश० भा० ।

वगणा कहते हैं । किन्तु अमृत्युवायेंसी राशिसे अनन्तगुणे और सिद्ध जीवाकी राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओंसे जो स्वध बनते हैं, अर्थात् जिन स्वधामें इतने इतने परमाणु होते हैं, वे स्वध जीवके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर-रूप परिणामाता है । इसलिये उन स्वधामें औदारिक वगणा कहते हैं । किन्तु औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वगणाआम यह वगणा सत्रसे जघन्य होती है, इसके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्वधोंकी पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवीं आदि अनन्त वगणाएँ औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं । अतः औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणासे अनन्तवें भाग अधिक परमाणुवाली औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वगणा होती है । इस अनन्तवें भागमें अनन्त परमाणु होते हैं, अतः जघन्य वगणासे लेकर उत्कृष्ट वगणापर्यन्त अनन्त वगणाएँ औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जाननी चाहियें ।

औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वगणासे ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्वधोंकी जो वगणाएँ होती हैं, वे वगणाएँ एक तो औदारिक शरीरकी अपेक्षासे अधिक प्रदेशवाली होती है, दूसरे स्रम भी होती हैं, अतः औदारिकके ग्रहण योग्य नहीं होती । तथा जिन स्वधोंसे वैत्रिय शरीर बनता है उन स्वधोंकी अपेक्षासे अल्प प्रदेशवाले और स्थूल होती हैं, अतः वैत्रिय-शरीरके भी ग्रहणयोग्य नहीं होता । इसप्रकार औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट वगणाके ऊपर एक एक परमाणु बढ़ते स्वधोंकी अनन्त वगणाएँ अग्रहण योग्य होती हैं । जैसे, औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य जघन्य वगणासे उसीकी उत्कृष्टवगणा अनन्तवें भाग अधिक है । उसीप्रकार अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणासे अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वगणा अनन्तगुणी (अनन्तगुणे अधिक परमाणुवाली) जाननी चाहिये । इस गुणाकारका प्रमाण अमृत्युराशिसे अनन्तगुणा और सिद्धराशिका अनन्तवामाग है । इस उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य

वगणाने उपर पुन ग्रहणयोग्य वगणा होती है जिसका वगन आगेकी गाथामें लिया जायेगा । इसप्रकार ग्रहणयोग्य वगणाएँ अग्रहणयोग्य वगणाओंसे अन्तर्गति हैं । अर्थात् ग्रहणयोग्य वगणाके बाद अग्रहणयोग्य वगणा और अग्रहणयोग्य वगणाके बाद ग्रहणयोग्य वगणा आती है ।

एमेव विउच्चा हार तेय भासा णुपाण-मण कम्मे ।

सुहुमा कमावगाहो ऊणुणमुलअसखसो ॥ ७६ ॥

अर्थ—औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वगणा और अग्रहणयोग्य वगणा की ही तरह वैय्य शरीरके ग्रहणयोग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, तैजसशरीरके ग्रहण योग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, माया प्रायोग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, इन्द्राक्षीय ग्रहणयोग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, मनोग्रहणयोग्य वगणा, अग्रहणयोग्य वगणा, और कामणग्रहणयोग्य वगणा होती हैं । ये वगणाएँ क्रमसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और इनकी जगगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून न्यून अगुलक असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है ।

भावार्थ—इससे पहली गाथामें औदारिक शरीरके ग्रहणयोग्य वगणा का और उसके अग्रहणयोग्य वगणाका स्वरूप बतला आये हैं । यहाँ उसके बादकी कुछ वगणाओंका निदर्श करके उनका स्वरूप भी पूरा वगणाओंकी ही तरह बतलाया है, जिसका खुगसा निम्नप्रकार है—

औदारिक शरीरके अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वगणाक एकधम जितने परमाणु होते हैं, उनसे एक अधिक परमाणु जिन स्पर्धोंम पाये जाते हैं उन

१ पञ्चसमर की निम्नगाथासे तुलना कीजिये—

ओरालविउच्चाहारतेयभासानुपाणमणकम्मे ।

अह द-उवगणाण कसो विव-आसओ रोसे ॥१५॥ (पञ्चन परण)

आवश्यकनियुक्तियों भी यह गाथा मौजूद है, गा० न० ३९ है ।

स्वन्धाका समूहरूप वर्गणा वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जन्म्य वर्गणा होती है। इस जन्म्य वर्गणाके स्वन्धाके प्रदेशसे एक अधिक प्रदेश जिस जिस स्वन्धमें पाया जाता है उनका समूहरूप दूसरी वर्गणा वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इसीप्रकार एक एक प्रदेश अधिक स्वन्धाकी अनन्त वर्गणाएँ वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य होती हैं। अतः वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य जन्म्य वर्गणासे उसके अनन्तवभाग अधिक वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है। वैत्रियशरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्वन्धाकी जो वर्गणा होती है, वह वैत्रियशरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म होती है, और आहारकशरीरकी अपेक्षासे कम प्रदेशवाली और स्थूल होती है। अतः वह न तो वैत्रियशरीरके कामकी होती है और न आहारक शरीरके कामकी होती है, इसलिये उसे अग्रहणयोग्य वर्गणा कहते हैं। यह जन्म्य वर्गणा है। इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते स्वन्धाकी अतः वर्गणाएँ अग्रहणयोग्य हैं। अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्वन्धाकी जो वर्गणा होती है, वह आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य जन्म्य वर्गणा होती है। इस जन्म्य वर्गणामे अनन्तरे भाग अधिक प्रदेशवाले स्वन्धाकी आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

आहारक शरीरके ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणामे एक प्रदेश अधिक स्वन्धाकी अग्रहणयोग्य जन्म्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जन्म्य वर्गणासे अनन्तगुणें प्रदेशवाली वृद्धि होनेपर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार वे अनन्तवर्गणाएँ आहारक शरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशवाली और सूक्ष्म हैं, तथा तैजस शरीरकी अपेक्षासे जल्प प्रदेशवाली और स्थूल हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं। उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणामे एक प्रदेश अधिक स्वन्धाकी वर्गणा तैजस शरीरके प्रायोग्य जन्म्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते तैजसशरीरप्रायोग्य

जपन्य वर्गणाके अनन्तभाग अधिक प्रदेशगले स्वर्धोकी उत्तृष्ट वर्गणा होती है ।

तैजस शरीरक ग्रहण योग्य उत्तृष्टगणनाके स्वर्धसे एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी जपन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जपन्य अग्रहणयोग्य वर्गणासे आन्तगुण अधिक प्रदेशगले स्वर्धोकी उत्तृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है । इस प्रकार ये आन्त अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तैजस शरीरकी अपेक्षासे बहुत प्रदेशगली और सूक्ष्म होती हैं और भाषाही अपेक्षासे अल्प प्रदेशगली और स्थूल होती हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं । उत्तृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी जा वर्गणा होती है वह भाषाप्रयोग्य जपन्यगणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जपन्यगणनाके अनन्तभाग अधिक प्रदेशगले स्वर्धोकी भाषाप्रयोग्य उत्तृष्टगणा होती है । इस प्रकार अनन्त वर्गणाएँ भाषाके ग्रहणयोग्य होती हैं ।

भाषाके ग्रहणयोग्य उत्तृष्टगणनाके स्वर्धसे एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी अग्रहणयोग्य जपन्य वर्गणा होता है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जपन्य वर्गणासे अनन्तगुणे प्रदेशगले स्वर्धोकी अग्रहणयोग्य उत्तृष्ट वर्गणा होती है । इस वर्गणाके स्वर्धसे एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी वर्गणा स्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य जपन्यगणा होती है । इसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जपन्य वर्गणाके स्वर्धके प्रदेशोंके अनन्तमें भाग अधिक प्रदेश वाले स्वर्धोकी स्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्तृष्ट वर्गणा होती है ।

स्वासोच्छ्वासके ग्रहणयोग्य उत्तृष्टगणनाके स्वर्धसे एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी अग्रहणयोग्य जपन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जपन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके स्वर्धके प्रदेशोंसे आन्तगुणे प्रदेशगले स्वर्धोकी उत्तृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है । उस वर्गणाके स्वर्धोकी से एक प्रदेश अधिक स्वर्धोकी मनास्व्यके ग्रहणयोग्य जपन्य वर्गणा होती

है । जघन्य वर्गणाके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणाके स्क्वके प्रदेशोंके अनन्तर्वे भाग अधिक प्रदेशवाले स्क्वधाकी मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है ।

मनोद्रव्यके ग्रहणयोग्य उत्कृष्टवर्गणासे एक प्रदेश अधिक स्क्वधाकी अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके स्क्वके प्रदेशासे अनन्तगुणे प्रदेशवाले स्क्वधाकी अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है । इस उत्कृष्ट वर्गणाके स्क्वके प्रदेशों-से एक प्रदेश अधिक स्क्वधारी वर्गणा कमग्रहणके योग्य जघन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्यवर्गणाके अनन्तर्वे भाग अधिक प्रदेशवाले स्क्वधोंकी कमग्रहणके योग्य उत्कृष्टवर्गणा होती है । साराश यह है, कि सजातीय पुद्गल स्क्वधोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । अतः जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणाके एक स्क्वधम जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण योग्य वर्गणाके एक स्क्वधमें होते हैं । और जघन्य ग्रहणयोग्य एक वर्गणाके स्क्वधम जितने परमाणु होते हैं, उनके अनन्तर्वे भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाके स्क्वधोंमें होते हैं ।

इस प्रकार आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहण योग्य होती हैं । इन सोलह वर्गणाओंमेंसे प्रत्येकके जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विरुद्ध होते हैं, और जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त अनन्त मध्यम विरुद्ध होते हैं । ग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तर्वे भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणाके जघन्यसे उसका उत्कृष्ट अनन्तगुणा होता है । ग्रहण योग्य वर्गणाएँ आठ बतलाइ हैं—औदारिकके ग्रहणयोग्य, वैनिकके ग्रहणयोग्य, आहारकके ग्रहणयोग्य, तैजसके ग्रहणयोग्य, मायाके ग्रहणयोग्य, स्वासाध्वासके ग्रहणयोग्य, मनके ग्रहणयोग्य और कर्मके ग्रहणयोग्य । मनुष्य और तियज्ञाके स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं । जिन पुद्गलवर्गणाओं से यह शरीर बनता है वे वर्गणाएँ औदारिकके ग्रहणयोग्य कही जानी हैं ।

देव और नारकादि शरीरका वैभिय कहते हैं । जिन घगणाओंमें यह शरीर बनता है य घगणाएँ वैभियके ग्रहणयोग्य कही जाती हैं । इसी प्रकार आग भी समझ लेना चाहिये । जो शरीर चौदह पूर्वक पाठी भुजिक द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते हैं । जो शरीर भोजनार्थ परानम हेतु और नास्तिका विभिन्न हा उछे तेजस शरीर कहते हैं । वातचीतषा भाग कहते हैं । बाहरका वायुका शरीरक अन्दर छि जाता और अन्दरकी वायु का बाहर निशान्ना शलाघुस कहा जाता है । विचार करनेके साधनका मन करते हैं । वसाक रिच्छका कमकार कहते हैं । तत्तायगूयक द्वितीय अध्यायमें शरीरोंका घगन करने हुए उन्हें उत्तरात्तर सूत्रमें बताया है । जयान् जादारिकम वैभिय सूत्र हाता है, वैभियके आहारक, आहारकमें तेजस और तेजसके कामग सूत्र हाता है । ये शरीर यशरि उत्तरात्तर सूत्र हाते हैं तथापि उनके निमाणमें अधिक अधिः परमाणुआका उपयोग हाता है । कारण यह है कि जेगे रुह, लरही, मिट्टी, पत्थर और लावा अमुक परिमाणमें होनेपर भी रुहके लरहीना आकार छोटा हाता, लरहीम मिट्टी का आकार छोटा हाता, मिट्टीके पत्थरका और पत्थरम लोहेका । किन्तु जाकारम छोटे होनेपर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठास और घनी हाती हैं, इसी तरह औदारिक यमैरह शरीरोंके योग्य भी समझना चाहिये । इसका कारण यह है कि औदारिक शरीर जिन पुद्गलवगणाओंसे हाता है, ये रुह की तरह अल्प परमाणुगाली किन्तु जाकारम स्थूल हैं, और वैभियशरीर जिन पुद्गलवगणाओंसे बनता है वे लरहीकी तरह औदारिक योग्य घगणाओंसे अधिक परमाणुगाली किन्तु अल्प परिमाणगाली हैं । इसी तरह जागे भी समझना चाहिये । कारण यह है कि आगे आगेकी घगणाओंमें परमाणुआ की संख्या बढ़ती जाती है, किन्तु उनका आकार सूत्र सूत्रतर हाता जाता है । इसीम ग्रन्थमग्ने उक्त गाथाके उत्तरार्धम लिखा है कि य घग-

णाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म हाता है और इनकी अवगाहना अर्थात् लग्नाइ चौ-
डाइ वगैरह सामान्यसे अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण है, किन्तु वह
अगुलका असख्यातवों भाग उत्तरोत्तर होन होन है । आशय यह है कि
ज्यों ज्यों अधिक परिमाणुआका सघात हाता है त्या त्या उनका सूक्ष्म
सूक्ष्मतर रूप परिणाम होता है । जत औदारिकवर्गणाआकी अवगा-
हना अगुलके असख्यातवें भाग है, तथा उसकी अग्रहण वर्गणाआकी
भी अवगाहना अगुलके असख्यातवें भाग है, किन्तु वह अगुलका
असख्यातवा भाग पहलेसे न्यून है । इसी प्रकार वैक्लिप्रहणवर्गणाआकी
भी अवगाहना अगुलके असख्यातव भाग है, किन्तु वह असख्यातवों भाग
औदारिककी अग्रहण योग्यवर्गणाआकी अवगाहनावाले अगुलके असख्या-
तवें भागसे भी न्यून है, इसी प्रकार आगे भी अगुलका असख्यातवों भाग
न्यून न्यून समझना चाहिये । इस न्यूनताकी वजहसे ही अल्प परमाणुवाले
औदारिक शरीरके दिग्माइ देनेपर भी उसके ही साथ बसनेवाले तैजस और
कामण शरीर उससे कुछ गुने परमाणुवाले होने पर भी दिग्माइ नहीं देते ।

तैजस और कामण शरीरके मध्यमें भाषा, स्वासाश्वास और मन पड़े
हुए हैं । अर्थात् तैजस शरीरके ग्रहण योग्य वर्गणासे वे वर्गणा अधिक सूक्ष्म
हैं जो हमारे घातचात करते समय शब्दरूप परिणत होती हैं । और उनसे
भा वे वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं, जो जीरने द्वासरूप परिणत हाती हैं ।
इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कमवर्गणाएँ क्तिनी अधिक सूक्ष्म
होता है, किन्तु उनमें परमाणुआकी संख्या कितनी अधिक रहती है । यद्वा
इन वर्गणाआके कथन करनेका यही उद्देश है कि जो चीज कमरूप परि-

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें औदारिकवर्गणा, वैक्लिप्रवर्गणा और आदा-
रवर्गणाके स्थानमें केवल एक आदारवर्गणा ही बतलाई है । तथा स्वासो
श्वास वर्गणाका भी ग्रहण नहीं किया है । कर्मप्रकृतिमें भी ऐसा ही मिलना
है । किन्तु वही 'आहारवर्गणातिवर्णु' लिखकर तीनों शरीरोंका स्पष्ट

णत हाती है उसके स्वरूपसी रूपरेखा दृष्टिमें आजाय । इससे यहा केवल १६ वर्गणोंआँका ही स्वरूप बतलाया है ।

उत्पन्न करदिया है । तथा मूलमें आसोकुसवर्गणाका ग्रहण नहीं किया है किन्तु पूर्णिकार ने उसका ग्रहण किया है । तुलनाके लिये दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

“अणुमस्तासस्तेजनापता य भसोऽजगहि भतरिया ।

आहारतेजमासामणकम्माहया ध्रुवस्त्वधा ॥ ५९१ ॥

सांतरगिरतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहध्रुवसुण्णा ।

बादरनिगोदसुण्णा सुहुमनिगोदा णमो महस्त्वधा ॥ ५९४ ॥’

जीवकाण्ड

“परमाणुसस्त्वऽस्तस्वाऽणतवप्ता अभव्यणतगुणा ।

सिद्धाणणतभागो आहारगवगणा तितणू ॥ १८ ॥

अगहणतरियाभो तेषमभासामणे य कम्मे य ।

ध्रुवमध्रुवमधित्त सुत्ताचउभतरेसुर्पि ॥ १९ ॥

पत्तेयगतणुसु बायरसुहुमनिगोण तहा महस्त्वधे ।

गुणनिष्पन्नसनामा असस्वमागगुलवगाहो ॥ २० ॥”

कर्मप्रकृति (४ धनकरण)

१ पञ्चसङ्ग्रहमें वगणाओंका निरूपण कर्मग्रन्थके ही अनुरूप है । वहाँ १६ वगणाओंसे आगेकी वगणाओंको इसप्रकार बतलाया है—

कम्मोवर्हि ध्रुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णयावरिया ।

सुण्णा सुहुमा सुण्णा महस्त्वो सगुणनामाओ ॥ १६ ॥ बन्धनरक्षण

अर्थात्—‘कर्मवगणासे ऊपर ध्रुववर्गणा अध्रुववगणा शून्यवगणा, प्रत्येक शरीरवगणा, शून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा सुहुमनिगो-
वर्गणा शून्यवगणा और महास्त्व-वर्गणा होती हैं । कर्मप्रकृति और जीव
काण्डमें भी मामूलीसे नाम भेदके साथ यही वगणाएँ कही हैं ।

वर्गणाओंका स्वरूप तथा उनकी अवगाहनाका प्रमाण बतलाकर, अब अग्रहण वर्गणाओंके परिमाणका कथन करते हैं—

इच्छिकहिया सिद्धान्तसा अतरेसु अग्रहणा ।

सव्यत्य जहन्नुचिया नियततसाहिया जिहा ॥७७॥

अर्थ—उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके ऊपर एक एक परमाणुकी वृद्धि होनेसे अग्रहण वर्गणाएँ होती हैं । उनका परिमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है । और ये औदारिक घनिय आदि वर्गणाओंके मध्यमें पाई जाती हैं । औदारिक आदि समे वर्गणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने योग्य जगन्मसे अनन्तवें भाग अधिक होता है ।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इससे पूर्वकी भाषामें ग्रहणयोग्य वर्गणाओंके नाम और उनका अवगाहनाका प्रमाण उतलाया था । तथा, यह भी लिखा था कि ग्रहण योग्य वर्गणाएँ अग्रहण वर्गणाभासे अन्तरित होती हैं । यद्वा अग्रहण वर्गणाओंका प्रमाण तथा ग्रहण वर्गणाओंके जगन्म और उत्कृष्ट भेदोंका अन्तर उतलाया है । वर्गणाओंका स्वरूप बतलाते हुए यद्यपि इन सभी बातोंका खुगसा कर दिया गया है, तथापि प्रसङ्गवश यहाँ संक्षेपसे उद्देश्य पुनः कहते हैं—

पहले लिख आये हैं कि सञ्जातीय पुद्गलस्कन्धोंके समूहको वर्गणा कहते हैं । उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणाके प्रत्येक स्कन्धमें नितने परमाणु होते हैं उनसे एक अधिक परमाणुगले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य जगन्म-वर्गणा जानना चाहिये, दो अधिक परमाणुगले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहण योग्य दूसरी वर्गणा जानना चाहिये, तीन अधिक परमाणुगले स्कन्धोंके समूहकी अग्रहणयोग्य तीसरी वर्गणा जानना चाहिये । इस प्रकार एक एक परमाणु बढ़ते बढ़ते स्कन्धोंकी चौथी पाँचवी आदि अग्रहण योग्य वर्गणाएँ जाननी चाहिये । अग्रहण योग्य जगन्मवर्गणाके एक स्कन्धम नितने परमाणु

हा, उनका सिद्धराशिके अनन्तवें भागसं गुणा करनेपर जा प्रमाण आता है, उतने परमाणुगुण स्वधामे समूचा अप्रहण वाग्य उत्कृष्ट वगणा हाती है। अतः प्रत्येक अप्रहण योग्य वगणासी तथा सिद्धराशिक अनन्तवें भाग बतलाइ है, क्योंकि अप्रहण वगणाक एक स्वधम जितने परमाणु हात हैं उन्ही सिद्धराशिके अनन्तवें भागसं गुणा करनेपर जितने परमाणु जाते हैं, जपन्यस लेपर उत्कृष्ट पयन्त वगणाके उतन ही विवक्ष्य हाते हैं।

य अप्रहण वगणाएँ ग्रहण वगणाआक मध्यम हाता हैं, अर्थात् अप्रहण वगणा, औदारिकवगणा, अप्रहणवगणा, वैत्रियवगणा इत्यादि। ऊपर जा अप्रहणवगणाके अनन्त मद बतलाय हैं, ये प्रत्येक अप्रहणवगणाके जानने चाहिये। अर्थात् यह न समझ लेना चाहिये कि कुछ अप्रहणवगणाएँ सिद्धराशिके अनन्तवें भाग प्रमाण हैं और उनमें कुछ वगणाएँ औदारिक वगणा-क पहले हाती हैं, कुछ उसके बाद हाता हैं, कुछ वैत्रियवगणाके बाद होती हैं। किन्तु ग्रहणवगणाओंके अन्तरालम जा सात अप्रहणवगणाएँ बत लाइ हैं उनमेंसे प्रत्येकक भेदाका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है।

जैसे, अप्रहण वगणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने जपन्यसे सिद्धराशिके अनन्तवें भाग गुणित है, उसी तरह ग्रहणवगणाओंका उत्कृष्ट अपने अपने जपन्यसे अनन्तवें भाग अधिक है। अर्थात् जपन्य ग्रहण वाग्य स्वधम जितन परमाणु हात हैं, उतसे अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहण वाग्य स्वधम हाते हैं।

माराश यह है कि पहले पहलेशी उत्कृष्ट वगणाके स्वधम एक एक प्रदेश बढ़नेपर आग जागेवी जपन्यवगणाका प्रमाण आता है। अर्थात् वगणासी उत्कृष्टवगणा अपनी जपन्यवगणासे सिद्धराशिक अनन्तवें भाग गुणित है। तथा ग्रहणवगणाओंका उत्कृष्टवगणा अपनी जपन्यवगणासे अनन्तवें

१ टिप्पणी लिखा है कि बृहत्सतक की श्रुतिमें अप्रहणवगणाओंको नहीं बताया है।

भाग अधिक है ।

अत्र जीव जिस प्रकारके कर्मस्वन्धको ग्रहण करता है उसे ज्ञाते हैं—

अतिमचउफासदुगधपचरधरसकम्मस्वधदल ।

सच्चजियणतगुणरसमणुजुत्तमणतयपएस ॥ ७८ ॥

एगपएसोगाढ नियसव्वपएसउ गहेड जिउ ।

अर्थ—अन्तके चारण्णा, दो गध, पाँच वग और पाँच रस धारो, सत्र जीवराशिस अनन्तगुणे जनिभागी प्रतिच्छेदाके धारक, अनन्त प्रदेशी उन कमस्वधोंसे जीव अपन सय प्रदण्णे ग्रहण करता है, जो (कमस्वध) उही जाकाशके प्रदेशाम बतमान हैं, जिनम जीव स्वय बतमान है ।

भावार्थ—(कमस्वधान समूहको कमवगणा कहते हैं)। अत कमवगणा-का स्वरूप बतला कर प्रथमज्ञाने कर्मस्वधका स्वरूप बतलाया है । उक्त डेढ गायामेंस पूरी गाथा ता कमस्वधका स्वरूप बतलाता है और जादका आधो गाथा दो प्रश्नोंका उत्तर देती है १—जिस क्षत्रम रहनेवाले कमस्वधका जीव ग्रहण करता है और २—जिसके द्वारा ग्रहण करता है ?

वगणाओंका निरूपण करते हुए यह बतला आया है, कि ये वगणाएँ पीद्गलिकी हैं । अर्थात् पुद्गल परमाणुआका ही समुदाय विशेष हैं । अत कर्म वगणाएँ भी पीद्गलिका ही जाननी चाहियं । हम अपनी आँखोंसे जो वस्तुएँ देखते हैं, जिह्वासे जिन वस्तुओंका चखते हैं, नाससे जिन वस्तुआका सूंघते हैं, शरीरसे जिह छूते हैं और कानासे जो कुछ सुनते हैं वे सत्र और उनके उपादान कारण पीद्गलिक कह जाते हैं । इसीसे पुद्गल द्रव्यका लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श ज्ञातगया है । अर्थात् जिसम ये चारो गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल कहते हैं । कमवगणा कमस्वधोंके समूहका नाम है और कमस्वन्ध पुद्गलपरमाणुओंके ही बन्धन विशेषको कहते हैं ।

१ "स्पर्श रस गंध वर्ण वन्त पुद्गला ।" ५ २३ तत्त्वार्थसूत्र ।

(जिस तरह पुद्गलद्रव्य से सस से छोट अणु परमाणु कहते हैं, उसी तरह शक्ति से सस से छोट अणु का रसाणु कहते हैं) यहा रसम मतलब सस से मोठे आदि पाच प्रकारक रस से नहा है किन्तु अनुभाग बंध अथवा रसप्रपञ्च बणन करते हुए गुमागुम कर्मों से बलम जो मधुर और कटुक ऐसा प्रहार मिया था, उस रस से है। यह रस प्रत्येक पुद्गल म पाया जाता है। जैसे पुद्गलद्रव्य के स्वरूपक दुन्दे किये जा सस है, जैसे उसके जन्दर रहा वाले गुणाक दुन्दे गही किये जा सकत। फिर भी हम अपने सामने आने वाला वस्तुआमें गुणा की दीनाधिष्ठाता सहज-म ही जानलेते हैं। जैसे, यदि हमारे सामने भ्रम, गाय और घकरीका दूध रखा जाय ता हम उससी परीक्षा करक नुरत कह देते हैं कि इस दूधमें चिन्ताइ अधिक है और इसम कम है। चिन्ताइ क दुन्दे नही किये जा सकते, क्योंकि यह एक गुण है। किन्तु, मिमिन वस्तु-नाक द्वारा हम उससी सरतमता का जान सकते हैं। यह सरतमता ही इस बातसा मतलाती है कि गुणके भी जग हाते हैं। आजकल के वैज्ञानिक यह खाना करते हैं कि जिस भाज्य वस्तुम अधिक जीवनदायक शक्ति है और जिसमें कम। उससी व रगनें कभी कभी समाचारपना में भी पढ़न की मिलजाती हैं। उनकी शालिकामें लिखा रहता है कि बादामम प्रतिगत इतनी जीवनी शक्ति बतलाते हुए ठिया है—

‘बादरमष्टस्वश द्रव्य रूप्यव भवति गुरलघुकम् ।

अगुरलघु चतु स्पश सूक्ष्म वियदाद्यभूर्तमपि ॥ २४ ॥’

अर्थात्—‘आठ स्पर्शवाण बादररूपी द्रव्य गुरलघु होता है, और चार स्पर्शवाला सूक्ष्मरूपी द्रव्य तथा अभूर्त आकाशादिक भी अगुरलघु होते हैं।’ इसके अनुसार तैजस वर्णणामें आठों स्पर्श सिद्ध होते हैं, क्योंकि उसे गुरलघु बतलाया है। किन्तु कमवर्णणामें चार स्पर्श होते हैं इसमें समोका ऐकमत्य है। दिग्गन्धर प्र योमें भी कमयोग्य द्रव्यसे चार स्पर्शवाला ही बतलाया है।

है, दूधमें इतनी है इत्यादि । विभिन्न रागा म यह जो जीवनी शक्ति अमुक अमुक जगमें मौजूद है, यह सिद्ध करती है कि शक्तिके भी जग हो सकते हैं । इन्हें ही रसके जग भी कहते हैं, क्योंकि रस शब्दसे भी भी पन्द्रायक गति हा दृष्ट है । (य रस के अर्थ ही रसोणु कहे जाते हैं ।) सबसे अधन्य रसवाले पुद्गलद्रव्यमें भी जीवराशिसे अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते हैं । अत कमस्कष भी स- जागराशिसे अनन्तगुणे रसाणुओंसे युक्त होता है । ये रसाणु ही जीवन् भावा का निमित्त पानर कट्टर रूप अथवा मनुष्य रूप पन्देते हैं । तथा, एन एक कमस्कष अनन्त प्रदेशों होता है अथात् एक एक कर्मस्कष अनन्त परमाणुजाता समूह होता है, जैसा कि घणणाजाके निरूपणसे स्पष्ट है । इस प्रकार जायके द्वारा ग्रहण करने योग्य कमस्कषों का स्वरूप जानना चाहिये ।

१ रसाणुको गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं, जैसा कि पञ्चमङ्गलमें लिखा है—

“पञ्चण्ड सरीराण परमाणूण मर्हण अविभागो ।

कप्पियमालेगसो गुणाणु भावाणु वा होति ॥ ४१७ ॥”

अर्थात्—पाच शरीरोंके योग्य परमाणुओंकी रस शक्तिका बुद्धिके द्वारा खण्ड करनेपर जो अविभागी एक जग होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं । और भी—

‘जीवस्सज्जवसाया सुभासुभासरलोगपरिमाणा ।

सवचित्राणतगुणा एक्केके होति भावाणू ॥ ४१६ ॥”

अर्थात्—अनुभागके कारण जावके कयायोदय रूप परिणाम दो तरहके होते हैं—एक शुभ और दुसरे अशुभ । शुभ परिणाम असरयात लोका कायके प्रदेशोंके बराबर होत हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं । एक एक परिणामके द्वारा गृहीत कमपुटलोमें सर्वजीवोंसे अनन्तगुणे भावाणु होते हैं ।

प्रदेशनेपद्वारेके प्रारम्भमें ही लिख आय है कि समस्त लोक पुद्गल द्रव्यसे ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य अनेक वगणाओंमें विभाजित है । जत्र पुद्गलद्रव्य वगणाओंमें विभाजित है और सब जगह पाया जाता है, तो इसका यही मतलब हुआ कि पुद्गलद्रव्य की उक्त वगणाएँ समस्तलोकमें पाई जाती हैं । उक्त वगणाओंमें हा कमवगणा भी है अतः कमवगणा भी सब जगह पाई जाती है । किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कमवगणाओंको ग्रहण करता है, जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं । जैसे जागृत तबय हुए स्त्रोके गाल का पानामें डाल देन पर वह उसी जलको

१ कमकाण्डमें प्रदेश-पद्वारे वनन करते हुए लिखा है—

एवमसोपागच्छ सव्यपदेसहिं कम्मणो जोगे ।

अथहि सगहेदुहि य अणादिय मादिय उभय ॥ १८५ ॥'

अर्थात्—एक अभिन्न क्षेत्रमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य अनादि, सादि और उभयरूप अर्थात् अनादि सादिरूप द्रव्यको यह जीव अपने सब प्रदेशों ■ कारण कलापके मिलनेपर वापता है । और भी—

‘सपक्करमरूपगच्छहिं परिणद चरमचदुहि कासेहिं ।

सिद्धादोऽम-आदोऽणतिमभाग गुण दव्व ॥ १९१ ॥’

अर्थात्—जीव जिस कर्मरूप सुक्ष्मद्रव्यको ग्रहण करता है उसमें पाँचो रस, पाँचो रूप दोनों गन्ध और अन्तर्के चार स्पर्श होने हैं । तथा, समस्त परिमाण सिद्धासिद्धि अन तबों भाग अथवा अभ्यन्तराक्षिप्त अनन्तगुणा होता है ।

पञ्चमग्रन्थमें भी लिखा है—

‘एवमसोपागच्छ स वपणमेहिं कम्मणो जोगे ।

‘जीवो पोमालद-वे गिण्हइ साहिं अणाइ वा ॥ २८४ ॥’

अर्थात्—एक क्षेत्रमें स्थित, कर्मरूप होने के योग्य सादि अथवा अन गदि पुद्गलद्रव्यको जीव अपने समस्त प्रदेशोंमें ग्रहण करता है ।

ग्रहण करता है, जो उसके गिरनेके स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर का जल ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह जीव भी जिन आकाश प्रदेशोंमें स्थित होता है, उन्हा आकाश प्रदेशोंमें रहने वाली कमवगणको ग्रहण करता है। तथा जैसे तमारा हुआ छोटेका गोला बलम गिरने पर चारा ओरसे पानीको खींचना है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्म प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि आत्माके अमुक हिस्सेसे ही कर्मोंका ग्रहण करता हो, किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंसे कर्मोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार वे कर्मस्वरूप कैसे हैं और जीव उन्हें कैसे ग्रहण करता है इन पर निवार किया गया।

इस प्रकार ग्रहणकिये हुए कर्मस्वरूपोंका आठो कर्मोंमें जिस क्रमसे विभाग होता है, उसे बतलाते हैं—

येवो आउ तदसो, नामे गोए समो अहिउ ॥ ७९ ॥

विग्धावरणे मोहे सच्चोत्ररि वेयणीय जेणप्ये ।

तस्स फुडत्त न हवई ठिड्ढिसेसेण सेसाण ॥ ८० ॥

अर्थ—आयुर्म्म का हिस्सा थाड़ा है, नाम और गात्रर्म्म का हिस्सा आरसमें समान है, किन्तु आयुर्म्मके हिस्से से अधिक है। इसी तरह अंतराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आरसमें समान है, किन्तु नाम और गोत्रर्म्मक हिस्सेसे अधिक है। उससे अधिक माहनीयता

१ पञ्चमग्रहमें लिखा है—

“कममो बुद्धन्दिण भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।

तइयस्स सच्चन्नेट्ठो तस्स फुडत्त जणोणप्य ॥ २८५ ॥”

अर्थात्—वाचिक स्थितिवाले कर्मोंका भाग कमसे अधिक होता है। किन्तु वेदगीयका भाग समसे ज्येष्ठ होता है, क्योंकि अल्पदल होनेपर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता।

भाग है । और सबसे अधिक वेदनीयत्वका भाग है, क्योंकि थोड़े द्रव्यके हाने पर वेदनीयत्वका अनुमान सप्रतीतिसे नहीं हो सकता है । वेदनीयके सिवाय शेष सातत्वका जो अपनी अपनी स्थितिके अनुसार भाग मिलता है । अर्थात् जिस कमकी अधिक स्थिति है उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कमकी हीन स्थिति है उसे हीन भाग मिलता है ।

भाषार्थ—जिस प्रकार भाजन उदरम आनन बाद कालक्रमेण रस रुचिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह जीव प्रतिसमय तिन कम-गुणणाओंके ग्रहण करता है, वे कमगुणणाएँ उसी समय उतने हिस्सोंमें बँट जाती हैं, जितने कमोंका बंध उस समय उस जीवमें होता है । पहले जिन आये हैं कि आयुत्वका बंध सर्वदा रहा जाता, और जब होता है तो अन्तर्मुक्त तक होना है, उसने बाद नहीं होता । अतः जिस समय जात्र आयुत्वका बंध करता है उस समय जो कमदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं । तिन समय आयुत्वका बंध नहीं करता, उस समय जो कमदल ग्रहण करता है, उनका उद्वारा आयुत्वके सिवाय शेष सातत्वकमें हो जाता है । जब दसगुणस्थानम आयु और मोहनीय कमके सिवाय शेष छह कमोंका बंध करता है, उस समय गृहीत कम-दलके ६ भाग हो जाते हैं । और तिन समय एक कमका ही बंध करता है उस समय ग्रहण किये हुए कमदल उस एक कमका ही हो जाते हैं । यहाँ ग्रहण किये हुए कमदलका आठवें हिस्सा विभाजित होनेका प्रसंग उत्पन्न होता है । आयुत्वका भाग सबसे थोड़ा है, क्या कि दूसरे कमोंसे उसकी स्थिति थोड़ी है । आयुत्वमें नाम और गान, इन दोनों कमोंका भाग अधिक है, क्योंकि आयुत्वकी स्थिति तृतीय सागर है और नाम तथा गानत्वकी स्थिति द्वितीय कोणी कोणी सागर है । नाम और गानकी स्थिति समान है, अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर बराबर ही मिलता है । ज्ञानाचरण, दशनाचरण और अन्तराचरणकी स्थिति तीसरी कोणी सागर है

अतः नाम और गोत्रकर्मसे इन तीना कर्मोंका भाग अधिक है । तथा इन तीना कर्मों की स्थिति समान है, अतः उनका भाग भी बराबर बराबर हो है । इन तीनों कर्मोंसे मोहनीयकर्मका भाग अधिक है क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटिकोटि सागर है । और वेदनीय कर्मका भाग सत्रसे अधिक है । यद्यपि मोहनीय कर्मकी स्थितिसे वेदनीय कर्मकी स्थिति बहुत कम है, तथापि मोहनीयके भागसे वेदनीय कर्मका भाग अधिक है । क्योंकि बहुत द्रव्यके बिना वेदनीयकर्मके सुग्न दुःखादिकका अनुभव स्पष्ट नहीं होता है । वेदनीयको अधिक पुद्गल मिलनेपर ही धर अपना कार्य करनेमें समय होता है । थोड़े दल होनेपर वेदनीय प्रकट ही नहीं होता । इसीसे याद्वी स्थितिके होनेपर भी उसे सबसे अधिक भाग मिलता है ।

१ वेदनीयकर्मको सबसे अधिक भाग मिलनेके बारेमें कर्मकाण्डमें लिखा है—

‘सुदुःखरूपनिमित्तान्ते बहुनिज्जरणो च वेदनीयस्स ।

सन्नेहिंतो बहुग दस्य होदित्ति निदिट्ठ ॥ १९३ ॥’

अर्थात्—सुख और दुःखके निमित्तमे वेदनीयकर्मकी निजरा बहुत होती है । अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुग्न या दुःखका वेदन करता रहता है, अतः वेदनीय कर्मका उद्भूति प्रतिक्षण होनेसे उसकी निजरा भी अधिक होती है । इसीसे उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है, ऐसा कहा है ।

२ कर्मग्रन्थमें केवल विभागका क्रम ही बतलाया है, और उससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्मको अधिक भाग मिलता है और अमुकको कम भाग मिलता है । किन्तु कर्मकाण्डमें इस क्रमके साथ ही साथ विभागकी रीति भी बतलाई है, जो इस प्रकार है—

‘बहुभागे समभागो जट्टण्ह होदि एवमागग्धि ।

उत्तरुमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देवो दु ॥ १९५ ॥’

अर्थात्—बहुभागके समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक मीगमें पुनः बहुभाग करना चाहिये, और वह बहु-

भाग बहुत हिस्सेवाले कर्मको देना चाहिये ।

इस रीतिके अनुसार एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है, उसमें आवलीके असख्यातवें भागसे भाग देकर एक भागको जुदा रखना चाहिये और बहुभागके आठ समान भाग करके आठों कर्मोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रखकर बहुभाग वेदमीय कर्मको देना चाहिये, क्योंकि सबसे अधिक भागका बड़ी स्वामी है । शेष एक भागमें पुन आवली के असख्यातवें भागसे भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग मोह नीयकर्मको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागने तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतरायकर्मको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके दो समान भाग करके, नाम और गोत्रकर्मको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भाग आयुर्मकी देना चाहिये । इस प्रकार पहले घन्वारेमें और दूसरे बटवारेमें प्राप्त अपने अपने द्रव्यका सकलन करने से अपने अपने भागका परिमाण आता है । अर्थात् ग्रहण किये हुए द्रव्यमें से इतने इतने परमाणु उस उस कर्मरूप हो जाते हैं ।

अङ्गसदृशिस इसे समझनेके लिये कल्पना कीजिये—कि एक समयमें जितने पुद्गल द्रव्यका बन्ध होता है उसका परिमाण २५६०० है, और आवलीके असख्यातवें भागका प्रमाण ४ है । अतः २५६०० को ४ से भाग देनेपर लब्ध ६४०० आता है । यह एक भाग है । इस एक भागको २५६०० में से घटानेपर १९२०० बहुभाग आता है । इस बहुभागके आठ समान भाग करनेपर एक एक भागका प्रमाण २४००, २४०० होता है । अतः प्रत्येक कर्मके हिस्सेमें २४००, २४०० द्रव्य आता है । शेष एक भाग ६४०० को

मूल प्रकृतियोंम विभागका क्रम बतलाकर, जब उत्तर प्रकृतियोंमें उसका क्रम बतलाते हैं—

नियजाडलद्धलियाणंतंसो होइ सञ्जवाईणं ।

घज्झंतीण चिमज्जइ सेस सेसाण पइसमय ॥ ८१ ॥

४ से भाग देनेपर लब्ध १६०० आता है। इस सोलह सौ को ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग आता है। यह बहुभाग वेदनीयकर्मका है। शेष १६०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध ४०० आता है। १६०० में से ४०० को घटानेपर बहुभाग १२०० आता है। यह बहुभाग मोहनीयकर्मका है। शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देनेपर लब्ध १०० आता है। ४०० में से १०० को घटानेपर बहुभाग ३०० आता है। बहुभागके तीन समान भाग करके ज्ञानावरण दशनावरण और अन्तरायको १०० १०० दे देना चाहिये। शेष १०० में ४ का भाग देनेसे लब्ध २५ आता है। १०० में से २५ को घटानेपर बहुभाग ७५ आता है। यह बहुभाग नाम और गोत्रकर्मका है। शेष एक भाग २५ आयुर्कर्मको दे देना चाहिये। अतः प्रत्येक कर्मके हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दशनावरण	अन्तराय	नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००	३७½	३७½	२५
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००	२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० में इतना इतना द्रव्य उस उस कर्मरूप परिणत होता है। यह अद्वैतदृष्टि केवल विभागकी रूपरेखा समझानेके लिये है। इसे वास्तविक न समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऐसा न समझ लेना चाहिये कि जैसे इसमें वेदनीयका द्रव्य मोहनीयसे ठीक दुगुना है, वैसेही वास्तवमें भी दुगुना ही द्रव्य होता है। आदि

अर्थ—जपना अपनी मूलप्रकृतिको जो भाग मिलता है, उसका अनन्तवा भाग सर्वातिप्रकृतियोंका होता है । शेष भाग प्रति समय बधनवाली चार देशपातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है ।

भावार्थ—मूल प्रकृतिजो जो भाग मिलता है, वह उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है, क्योंकि उत्तर प्रकृतियोंके सिवाय मूल-प्रकृति नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है । जिस प्रकार गृहीत पुद्गलद्रव्य उही कर्मोंमें विभाजित होता है, तिन कर्मोंका उस समय बध होता है । उसी तरह प्रत्येक मूलप्रकृति का भाग मिलता है वह भाग भी उसकी उही उत्तर प्रकृतियोंमें विभाजित होता है, जिनका उस समय बध होता है । जो प्रकृति उस समय नहीं बधती, उनको उस समय भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि भाग मिलनेका नाम ही तो बध है, और भाग न मिलनेका नाम ही अनध है ।

पहले बतला आया है कि आठकर्मोंमें से चार कर्म पाते हैं और चार कर्म अधाती हैं । पातिकर्मोंकी कुछ उत्तर प्रकृतियाँ सर्वातिनी होती हैं और कुछ देशपातिनी होती हैं । इस भाषामें उहीमें मुख्यकरके लिखा है

१ ज समय जानह्वाह बधण ताण परिस विहीण ।

पत्तेय पत्तेय भागे निव्वत्तण जीवो ॥ २८६ ॥ पञ्चस० ।

२ उत्तर प्रकृतियोंमें पुद्गल द्रव्योंका बटवारा करते हुए कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

‘ज सम्बधातिपत्त सगकम्मवप्पसणतमो भागो ।

आवरणण चट्ठा विहा य अह पचहा विवध ॥ २९॥ बधनकरण ।

अर्थात्—जो कमदलिक सर्वातिप्रकृतियोंको मिलता है वह अपनी अपनी मूल प्रकृतिको जो भाग मिलता है उसका अनन्तवा भाग होता है । शेष द्रव्यका बटवारा देशपातिप्रकृतियोंमें हो जाता है । अतः आवरणका शेष द्रव्य चार भागोंमें विभाजित होकर उसकी चार देशपातिप्रकृतियोंको

किं घातिक्रमका जा भाग मिलता है, उसका अनन्तवा भाग सवधातिप्रकृतियोंका होता है और शेष ऋतुभाग बचनेवाली देशघातिप्रकृतियोंमें बाँट दिया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियों पाँच हैं। उनमेंसे एक केवलज्ञानावरण प्रकृति सवधातिनी है और शेष चार देशघातिनी हैं। जा पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणरूप परिणत होता है, उसका अनन्तवा भाग सवधाती है अतः वह केवलज्ञानावरणको मिलता है। और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाति प्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है। दशनावरणकी उत्तरप्रकृतियाँ नी हैं। उनमें केवल दर्शनावरण और पाँचा निद्राएँ सवधातिनी हैं और शेष तीन प्रकृतियों देशघातिनी हैं। दशनावरणरूप जा द्रव्य परिणत होता है उसका अनन्तवा भाग सवधाती है, अतः वह छह सर्वधातिप्रकृतियोंमें विभाजित होजाता है और शेष द्रव्य तीन देशघातिप्रकृतियोंमें बँट जाता है। वेदनाय क्रमकी उत्तर प्रकृतियाँ दो हैं, किन्तु उनमेंसे प्रतिसमय एक ही

मिल जाता है, और दर्शनावरणका शेष द्रव्य तीन भागोंमें विभाजित होकर उसकी तीन देशघातिप्रकृतियोंको मिल जाता है। किन्तु अन्तराय क्रमको जो भाग मिलता है, वह पूरासा पूरा पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पाँचो देशघातिप्रकृतियोंमें मिल जाता है, क्योंकि अन्तरायकी कोई भी प्रकृति सर्वधातिनी नहीं है।

सवधाती और देशघाती द्रव्यके बटवारेके सम्बन्धमें पञ्चसङ्ग्रहमें भी ऐसा ही लिखा है—

‘सम्बुद्धोत्तरसो जो मूलविभागस्मरणतिमो भागो ।

सप्तधाट्टण दिज्जड सो द्वयो देसघाट्टण ॥ ४३४ ॥’

अर्थात्—मूलप्रकृतिको मिले हुए भागका अनन्तवा भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रसवाला द्रव्य है, वह सर्वधातिप्रकृतियोंमें मिलता है, और शेष अनुकृष्ट रसवाला द्रव्य देशघातिप्रकृतियोंको दिया जाता है।

प्रकृतिका वध होता है । अतः वेदनीयकर्मको जो द्रव्य मिलता है वह उस एक प्रकृतिमें ही मिल जाता है ।

माहूनीयकर्मना जा भाग मिश्रता है, उसमें अन्तर्भाग सवधाती

१ मोहनीयकर्मके द्रव्यका बटवारा बतलाने हुए पञ्चमस्कन्धमें लिखा है—
'उक्थोसरसस्मद् मिच्छ अद् ॥ इयरघार्हण ।

सज्जलन नोकसाया सेस अद्दय एति ॥ ४३५ ॥

अर्थात्—मोहनीयकर्मके सरघाती द्रव्यका आधा भाग मिश्रतात्वको मिलता है और आधा भाग तरह कपायोंको मिलता है । शेष देशघातिद्रव्यना आधा भाग सज्जलन कपायको और आधा भाग नोकपायको मिलता है ।

मोहनीय वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मके द्रव्यका बटवारा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें करते हुए कमप्रकृतिमें लिया है—

'मोहे हुहा चउद्धा य पउहा वावि व-प्रमाणीय ।

वेयणिभाउयगोणसु वउसमाणीण भागो सि ॥ ४३६ ॥' व-घनकरण ।

अर्थात्—स्वितित प्रतिभागके अनुसार मोहनीयको जो मूल भाग मिलता है उसके अनन्तर्वे भाग सर्वघातिद्रव्यके दो भाग किये जाते हैं । आधा भाग दशममोहनीयको मिलता है और आधा भाग चारित्रमोहनीयको मिलता है । नैव मूलभागके भी दो भाग किये जाते हैं आधा भाग कपायमोहनीयको मिलता है, और आधा भाग नोकपायमोहनीयको मिलता है । कपाय मोहनीयको जो भाग मिलता है, उसके पुनः चार भाग किये जाते हैं और वे चारों भाग सज्जलन स्नेह, मान, यागा और लोभको दिये जाते हैं । नोकपाय मोहनीय के भागके पाँच भाग किये जाने हैं और वे पाँचों भाग तीनों वेदोंमें से कितनी एक वेदको, हास्य रति और शोक अरतिके युगलों से एक युगलको भयको और जुगुप्साको दिये जाते हैं, क्योंकि एक समयमें पाँच ही नोकपायोंका वध होता है । तथा, वेदनीय आयु और गोत्रकर्मको जो मूल भाग मिलता

द्रव्य होता है और शेष देशघाती द्रव्य होता है। सबघाती द्रव्यके दो भाग होजाते हैं। एक भाग दर्शनमोहनीयको मिल जाता है और दूसरा भाग चारित्र मोहनीयको मिलजाता है। दर्शनमोहनीयका पूरा भाग उसकी उत्तरप्रकृति मिथ्यात्वमोहनायको मिल जाता है। किन्तु चारित्र मोहनीयके भागके बारह हिस्से होकर अनन्तानुबन्धी आदि बारह कणायोंमें बट जाते हैं। मोहनीयकर्मके देशघातिद्रव्यके दो भाग होते हैं। उनमेंसे एक भाग कणायमोहनीयका होता है और दूसरा नोकणायमोहनीयका। कणायमोहनीयके भागके चार भाग होकर सञ्चलन बोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते हैं। और नोकणाय मोहनीयके पाँच भाग होते हैं, जो क्रमशः तीना वेदामसे किसी एक उच्यमान वेदको, हास्य और रतिके युगल तथा नाक और जरतिके युगलमेंसे किसी एक युगलको (युगलमेंसे प्रत्येक को एक एक भाग) तथा मय और जुगुप्साको मिलते हैं। आयुर्मर्म्मी एक समयमें एफही उत्तर प्रकृति ग्रथती है। अतः आयुर्मर्म्मी जो भाग मिलता है, वह उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है, जो उस समय बघती है।

नामकर्मको जो मूलभाग मिलता है, वह उसकी बघनेवाली उत्तर प्रकृति है, वह उनकी धन्यन वाली एक एक प्रकृतिको ही मिल जाता है क्योंकि इन कर्मोंकी एक समयमें एक ही प्रकृति बघती है।

१ नामकर्मके बटवारेके सम्बन्धमें कर्मप्रकृतिमें लिखा है—

विद्वद्गतीसु यज्जतिगाण यन्तरसगधनासाण ।

सत्त्वामि सधाप् तणुमि यतिग चउद वा ॥२०॥' ध-धनकरण।

अर्थात्—नामकर्म को जो भाग मिलता है वह उसकी बघनेवाली प्रकृतियोंका होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शको जो भाग मिलता है वह उनकी सब अव्यक्तर प्रकृतियोंका होता है। सघात और दरीरको जो भाग मिलता है, वह तीन या चार भागोंमें बटजाता है।

तियामें बट जाता है। अथात् गति, जाति, गरीर, उपाङ्ग, बन्धन, सद्वा-
सन, सहनन, सस्थान, जानुपूर्वी, वर्णचतुष्क, वगुस्तु, पराधात, उद्योत,
उपधात, उद्युत, निमाण, तीथङ्कर, आतन, शुभाशुभ दिहायोगति, और

१ कर्मकाण्डमें गाथा १९९ से २०६ तक उत्तरप्रकृतियोंमें पुद्गलद्रव्यके
बटवारेका वर्णन किया है। कर्मकाण्डके अनुसार घातित्रयोंको जो भाग
मिलता है उसमेंसे अनन्तर्वा भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग
देशघाती द्रव्य होता है, जैसा कि कर्मग्रन्थका भी आशय है। किन्तु कर्म
काण्डके मतसे सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है और
देशघाती प्रकृतियोंको भी मिलता है। जैसा कि उसमें लिखा है—

संसारण द्वा विभज्यनिजं तु उभयपयसीसु ।

देसावरण द्वा देसावरणेषु णेविदरे ॥

अर्थात्—सर्वघाती द्रव्यका विभाग दोनों तरहकी प्रकृतियोंमें करना
चाहिये। किन्तु देशघाती द्रव्यका विभाग देशघातीप्रकृतियोंमें ही करना
चाहिये। कर्मकाण्डके अनुसार प्रत्येक वस्तुके विभागकी रीति निम्नप्रकार है—
ज्ञानावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर,
बहुभागके पांच समान भाग करके पाँचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना
चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर, बहु
भाग मतिज्ञानावरणको शेष एक भागमें पुन आवलीके असख्यातवें भागका
भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरणको, शेष एक भागमें पुन आवली
के असख्यातवें भागका भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरणको,
दूसरी तरह चौथा बहुभाग मन पश्यज्ञानावरणको और शेष एक भाग केवल
ज्ञानावरणको देना चाहिये। पहिलेके समान भागमें अपने अपने बहुभागको
मिलानेसे मतिज्ञानावरण बगैरहम सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भागके सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह
देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरणके सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियोंको

त्रसदशक अथवा स्यावरदशकमे से जितनी प्रकृतिया एक समयमें बध्नो प्राप्त होती हैं, उतने भागोंमें वह भाग बट जाता है। विरोधना यह है कि वर्ण, रास, रस और स्पर्शको जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अन्तर भेदोंमें बट जाता है। जैसे, वर्णनामों जो भाग मिलता है वह पांच भागोंमें विभाजित होकर उसके गुणलक्षिक भेदोंमें बट जाता है।

मिलता है। विभाजकी रीति ऊपरके अनुसार ही है। अर्थात् देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यतवें भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यतवें भागका भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिये और वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिको नश्यत्वावर देना चाहिये। अपने अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्योंको मिलानेसे अपने अपने सर्वद्रव्यका परिमाण होता है।

दर्शनावरणके—सर्वघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यतवें भागका भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके नौ भाग करके दशनावरणकी नौ प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें आवलीके असंख्यतवें भागका भाग देकर बहुभाग निकालना चाहिये और पहला बहुभाग स्थानानुद्धिको, दूसरा निशानिद्राको, तीसरा प्रचला प्रचलाको, चौथा निद्राको, पाँचवा प्रचलाको, छठा चक्षुदर्शनावरणको, सातवा अचक्षुदर्शनावरणको, आठवा अवधिदर्शनावरणको, और शेष एक भाग केवलदर्शनावरणको देना चाहिये। इसी प्रकार देशघाती द्रव्यमें आवलीके असंख्यतवें भाग का भाग देकर एक भागको जुदा रख, बहुभागके तीन समान भाग करने देशघाती चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणको एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भागमें भा भाग देकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरणको दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरणको और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरणको देना चाहिये। अपने अपने भागोंका सकल करनेसे

इसीप्रकार गन्ध, रस और स्पर्श नामकी जा भाग मिलता है, वह उनके भेदमें विभाजित हुआ जाता है । तथा, सघात और शरीर नामरूपको जा भाग मिलता है वह तान या चार भागमें विभाजित होकर सघात और शरीरनामकी तीन या चार प्रकृतियोंमें मिल जाता है । यदि औदारिक, तैजस और कामज या ऐन्द्रिय, तैजस और कामज, इन तान शरीरों और अपने अपने द्रव्यका प्रमाण होता है । चक्षु अवक्षु और अवधि दधानाव रणका द्रव्य सर्वधाती भी है और देशघाती भी । शेष छह प्रकृतियोंका द्रव्य सर्वधाता ही होता है क्योंकि वे सर्वधातिप्रकृतियाँ हैं ।

अन्तरायक्रमके—द्रव्यमें एक प्रतिभागका भाग देकर एक भागके बिना, शेष बहुभागके पाँच समान भाग करके पाँचों प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये । अवशेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग शीर्षा न्तरायको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुनः प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग उपमोगान्तरायको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभागका भाग देदेकर बहुभाग भोगान्तराय और लामान्तरायको देना चाहिये । शेष एक भाग दानान्तरायको देना चाहिये । अपने अपने समान भागमें अपना अपना बहुभाग मिश्रितसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

मोहनीयक्रमके—सर्वधाती द्रव्यको प्रतिभाग आवलीके असङ्ख्यातमें भाग का भाग देकर एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके सत्रह समान भाग करके सत्रह प्रकृतियोंको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्वको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभको देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी मायाको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहता था उसको प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी श्लेषकी अनन्तानुबन्धी मानको सज्जलन

संघातका एक साथ बंध होता है तो उसके तीन भाग होजाते हैं । और यदि वैम्रिय, आहारक, तैजस और कामण शरीर तथा संघातका बंध होता है तो चार विभाग होजाते हैं । तथा, जन्म नामको जो भाग मिलता है, उसके यदि तीन शरीरोंका बंध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार

लोभको, सज्जलन मायाको, सज्जलन क्रोधको, सज्जलन मानको, प्रत्याख्या नावरण लोभको, प्रत्याख्यानावरण मायाको, प्रत्याख्यानावरण क्रोधको, प्रत्याख्यानावरण मानको, अप्रत्याख्यानावरण लोभको अप्रत्याख्यानावरण मायाको, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मानको देना चाहिये । अपने अपने एक एक भागमें पीछेके अपने अपने बहुभागको मिलानेसे अपना अपना सर्वघाती द्रव्य होता है ।

देशघाती द्रव्यको आकलीके असख्यातवें भागका भाग देकर, एक भाग को जुदा रख, बहुभागका आधा तो नोकपायको देना चाहिये, और बहु भागका आधा और शेष एक भाग सज्जलन कपायको देना चाहिये । सज्जलनकपायके देशघाती द्रव्यम प्रतिभागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, शेष बहुभागके चार समान भाग करके चारों कपायोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्जलन लोभको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्जलन मायाको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग सज्जलनक्रोधको देना चाहिये । शेष एक भाग सज्जलनमान को देना चाहिये । पहलेके अपने अपने एक भागमें पीछेका बहुभाग मिलाने से अपना अपना देशघाती द्रव्य होता है । चारों सज्जलन कपायोंका अपना अपना सर्वघाती और देशघाता द्रव्य मिलानेसे अपना अपना सर्वद्रव्य होता है । मिथ्यात्व और बारह कपायका सप्त द्रव्य सर्वघाती ही है, और नोकपायका सप्त द्रव्य देशघाती ही है । नोकपायका विभाग इस प्रकार होता

नारायण ब्रह्म का ता म्यारह भाग होते हैं । अर्थात् औदारिक औदारिक, औदारिक तैजस, औदारिक कामज, औदारिक तैजसकामज, तैजस तैजस, तैजस कामज और कामज कामज, इन मान ब्रह्मका ब्रह्म हीनर सात भाग होते हैं, अथवा वैत्रिय वैत्रिय, वैत्रिय तैजस, वैत्रिय कामज, वैत्रिय

है—नोब्रह्मके द्वासी प्रतिभाग्य भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभागके पांच समान भाग करके पांचो प्रकृतियोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभाग्य भाग देकर, बहुभाग, तीनों बेरीमें से जिस बेरीका ब्रह्म दो उस दत्त चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभाग्य भाग देकर, बहुभाग रति और अरतिमेंसे जिसका ब्रह्म दो, उस दत्त चाहिये । शेष एक भागको प्रतिभाग्य भाग देकर बहुभाग हास्य और शोकमेंसे जिसका ब्रह्म दो, उसे देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभाग्यका भाग देकर, बहुभाग मयको दत्त चाहिये । शेष एक भाग पुण्यका देना चाहिये । अपन अपन एक एक भागमें पीछछ बहुभाग मिलानेसे अपना अपना द्रव्य होता है ।

नामकर्मही—तियसगति ऐहिकद्विजाति, औदारिक तैजस कामज ये तीन गरीर, बुद्धि सङ्गान, मन ब्रह्म, रस स्पर्श तियसानुपूर्वी अगुरुचक्षु उपधात स्थावर, सूक्ष्म, अपमान, साधारण, अस्थिर, अगुम, दुर्भग जना देम अथवा गीति और निर्माण इन तेइस प्रकृतियोंका एक साथ ब्रह्म मनुष्य अथवा तियस मिथ्याष्ट करता है । नामकर्मको जो द्रव्य मिला हो, उसमें आवलीक असङ्गताते भागका भाग देकर, एक भागको जुदा रख, बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक एक प्रकृतिको एक एक भाग देना चाहिये । ऊपर लिखी तेइस प्रकृतियोंमें औदारिक, तजस और कामज ये तीनों प्रकृतिया एक शरीरनाम पिङ्गप्रकृतिक ही अथा तर भेद हैं । अत उनको पृथक् पृथक् द्रव्य न मिल कर एक शरीर नामको ही हिस्सा मिलता है । इससे इक्षणीय ही भाग मिले ह । अस्तु,

तैजस कामण, तैजस तैजस, तैजसकामण, और कामण कामण, इन सात बन्धनोंका बन्ध होनेपर सात भाग होते हैं । और वैत्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क तथा तैजस और कामणके तीन, इस प्रकार ग्यारह बन्धनाका बन्ध

शेष एक भागमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अन्तकी निर्माण प्रकृतिको देना चाहिये । शेष एक भागमें आवलीके असख्यातवें भागका भाग देकर बहुभाग अयश नीतिको देना चाहिये । शेष एक भागमें पुन प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग अनादेयको देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो एक भाग शेष रहे, उसमें प्रतिभागका भाग दे देकर बहुभाग दुर्भग, अगुम वगैरहको देना चाहिये । अन्तमें जो एक भाग रहे, वह तिर्यगगतिको देना चाहिये ।

पहलेक अपने अपने समान भागमें पीछेका भाग मिलनेसे अपना अपना द्रव्य होता है । जहां पच्चीस, छब्बीस, अठ्ठाईस, उनत्तीस, तीस या इकतीस प्रकृतिका एक साथ बन्ध होता है, वहां भी इसी प्रकार बटवारेका क्रम जानना चाहिये । किन्तु जहां केवल एक अश कीर्तिका ही बन्ध होता है वहां नाम-धर्मका सब द्रव्य इस एक प्रकृतिको ही मिलता है । नामधर्मके उक्त बन्ध स्थानोंमें जो पिण्ड प्रकृतियां हैं, उनके द्रव्यका बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है । जैसे, ऊपरके बन्धस्थानमें शरीरनाम पिण्ड प्रकृतिके तीन भेद हैं, अतः बटवारेमें शरीरनामको जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रति भागका भाग देकर, बहुभागके तीन समान भाग करके, तीनोंको एक एक भाग देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग कार्भण शरीरको देना चाहिये । शेष एक भागमें प्रतिभागका भाग देकर बहुभाग तैजसको देना चाहिये । शेष एक भाग औंगारिकको देना चाहिये । ऐसे ही अन्य पिण्ड प्रकृतियोंमें भी समपना चाहिये । जहां पिण्ड प्रकृतिकी अवान्तर प्रकृतियोंमेंसे एवही प्रकृतिका बन्ध होता हो, वहां पिण्डप्रकृतिना सब द्रव्य उस एकही प्रकृतिको देना चाहिये ।

करनेपर ग्यारह भाग होते हैं । इनके सिवाय नामकर्मकी अन्य प्रकृतियोंमें कोई अवान्तर विभाग नहीं होता, जो भाग मिलता है वह पूरा करनेवाले उस एक प्रकृतिमें ही मिलजाता है । क्योंकि अथप्रकृतिया आसम विरोधिता है, एकका बंध होनेपर दूसरा बंध नहीं होता । जैसे, एक गति-का बंध होनेपर दूसरी गति का बंध नहीं होता । इसी तरह जाति, सन्धान

पाठक देखेंगे कि नामकर्मके बन्धारेमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक द्रव्य प्रकृतियोंका दिया गया है । इसका कारण यह है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और माहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्रमसे हीन हीन द्रव्य बाँटा जाता है, किन्तु आत्तराय और नामकर्मका प्रकृतियोंमें क्रमसे अधिक अधिक द्रव्य पाया जाता है । वेदनीय आयु और मोक्षधर्मकी एक समयमें एकही उत्तर प्रकृति बधती है । अतः मूलप्रकृतिसे जो द्रव्य मिलता है, वह उस एकही प्रकृतिमें मिलजाता है । इस प्रकार कर्मकाण्डके अनुसार पुद्गलद्रव्यका बंधवारा जानना चाहिये ।

कर्मप्रकृति (प्रदेशबन्ध भा० २८) में दलितोंके विभागका पूरा पूरा विवरण तो नहीं दिया किन्तु उत्तर प्रकृतियोंमें कर्मदलितके विभागकी हीनाधिक्य बतलाई है । अर्थात् यह बतलाया है कि किस प्रकृतिमें अधिक भाग मिलता है और किसको कम भाग मिलता है । समझ यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है । अतः कर्मकाण्डके मतव्यक्तके साथ कर्मप्रकृतिके मतव्यक्त की तुलना कर सकनेके लिये उसे हम यहाँ देते हैं—

ज्ञानावरण—१-वेदज्ञानावरणका भाग सबसे कम २-मन पर्ययज्ञानावरणका उससे अनन्तगुणा ३-अवधिज्ञानावरणका मन पर्ययसे अधिक, ४-श्रुतज्ञानावरणका उससे अधिक, और ५-मनिज्ञानावरणका उससे अधिक भाग है ।

दर्शनावरण—१-प्रचलाका सबसे कम, २-निशका उससे अधिक, ३-प्रचलाप्रचलाका उससे अधिक, ४-निशानिशाका उससे अधिक ५-स्थान

और सहनन भी एक समयम एक ही पधता है । तथा नसादिक दसका बधदानेपर स्थानरादिक दसका बध नहीं होता ।

गोत्रकर्मको जो भाग मिलता है वह सग्रा सग उससी बधनेवाली एक प्रवृत्ति ही होता है, क्योंकि गोत्रकर्मकी एक समयम एकही प्रवृत्ति बधती है । उससे अधिक, ६-केवलदर्शनावरणका उससे अधिक ७-अवधिदर्शनावरणका उससे अनन्तगुणा, ८-अचक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक और ९-अक्षुदर्शनावरणका उससे अधिक भाग होता है ।

वेदनीय—असातवेदनीयका सबसे कम और सातवेदनीयका उससे अधिक द्रव्य होना है ।

मोहनीय—१-अप्रत्यारय्यानावरण मानका सबसे कम, २-अप्रत्याख्यानावरण श्लेषका उससे अधिक, ३-अप्रत्याख्यानावरण मायाका उससे अधिक, और ४-अप्रत्याख्यानावरण लोमका उससे अधिक भाग है । उससे इसी तरह ८-प्रत्यारय्यानावरण चतुष्कका उत्तरोत्तर भाग अधिक है । उससे इसी तरह १२-अनन्तानुयन्धी चतुष्कका भाग उत्तरोत्तर अधिक है । उससे १३-मिथ्यात्वका भाग अधिक है । मिथ्यात्वसे १४-जुगुप्साका भाग अनन्तगुणा है । उससे १५-भयका भाग अधिक है । १७-हास्य और शोकका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर १९-रति और अरतिका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २१-श्री और नपुंसक वेदका उससे अधिक किन्तु आपसमें बराबर, २२-सज्जलन श्लेषका उससे अधिक, २३-सज्जलन मानका उससे अधिक, २४-पुरुषवेदका उरामे अधिक, २५-सज्जलन मायाका उससे अधिक और २६-सज्जलन लोमका उससे असख्यात गुणा भाग है ।

आयुर्धर्म—चारों प्रवृत्तियोंका समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बधती है ।

नाम—गतिनामकर्ममें—२-देव गति और नरक गतिका सबसे कम,

है। अन्तराय कमरी जो भाग मिलता है वह पाँच भागोंमें विभाजित होकर उसकी पांचो उत्तरप्रवृत्तियोंमें मिलता है, क्योंकि ध्रुवबन्धी होनेके कारण ये पांचों प्रवृत्तियाँ सदा बचती हैं।

किन्तु परस्परमें बराबर ३-मनुष्यगतिकर उसमें अधिक, और ४-तिर्यग्गति का उससे अधिक भाग है।

जातिनामकर्ममें—४-द्वीन्द्रिय आदि चारों जातियोंका सबसे कम, किन्तु आपसमें बराबर और ५-एकेन्द्रिय जातिका उससे अधिक भाग है।

शरीर नामकर्ममें—१-आहारकका सबसे कम, २-वैक्रियशरीरका उससे अधिक ३-औदारिकशरीरका उससे अधिक, ४-तैजसशरीरका उससे अधिक और ५-कामजशरीरका उससे अधिक भाग है।

इसी तरह पाँचो सधानों का भी समझना चाहिये।

अज्ञापाज्ञनामकर्ममें—१-आहारक अज्ञापाज्ञका सबसे कम २-वैक्रियका उससे अधिक, और ३-औदारिकका उससे अधिक भाग है।

बन्धनमें—१-आहारकआहारकबन्धनका सबसे कम, २-आहारक तैजसबन्धन का उससे अधिक, ३-आहारककर्मण बन्धनका उससे अधिक, ४-आहारकतैजसकामजबन्धनका उससे अधिक ५-वैक्रियवैक्रियबन्धन का उससे अधिक, ६-वैक्रियतैजसबन्धनका उससे अधिक, ७-वैक्रियकर्मण बन्धन का उससे अधिक, ८-वैक्रियतैजसकर्मण बन्धन का उससे अधिक, इसी प्रकार ९-औदारिकऔदारिक बन्धन, १०-औदारिकतैजस बन्धन, ११-औदारिककर्मण बन्धन १२-औदारिकतैजसकर्मण बन्धन, १३-तैजसतैजस बन्धन, १४-तैजसकर्मण बन्धन और १५-कामजकर्मण बन्धनका भाग उत्तरोत्तर एवसे दूसरका अधिक अधिक होता है।

सहपानमें—४-मध्यक चार सस्थानोंका सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर बराबर भाग होता है। ५-उससे समचतुरस्रका और उससे का भाग उत्तरोत्तर अधिक है।

शङ्का—यहा पर, बधनेवाली प्रकृतियोंमें ही विभागका प्रम बतलाया है। किन्तु जब अपो अपने गुणस्थानमें निही प्रकृतियोंके बधका विच्छेद होजाता है, तो उन प्रकृतियोंके भागका क्या होता है ?

उत्तर—जिन प्रकृतियोंके बधका विच्छेद होजाता है, उनका भाग उनकी सजातीय प्रकृतियोंमें ही विभाजित होजाता है। यदि सभी सजातीय प्रकृतियोंके बधका विच्छेद हो जाता है तो उनके हिस्सेका द्रव्य उनकी मूलप्रकृतिमें ही अंतर्गत जा विजातीय प्रकृतियोंमें है, उनको मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियोंका भी बध रुक जाता है, तो उस मूल प्रकृति-

सहजामें-५-आदिके पाँच सहजनोंका द्रव्य बराबर बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है, उससे ६-सेवात का अधिक है।

वर्णमें-१-कृष्णवा सबसे कम, और २-नील, ३-लोहित, ४-पीत तथा ५-पुष्प का एकरे दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

गन्धमें-१-गुग्गुलु का कम और २-कुङ्कुम का उसमें अधिक भाग है।

रसमें-१-कटुक रसका सबसे कम और २-तिक्त, ३-कषैण, ४-खट्व और ५-मधुरका उत्तरोत्तर एकरे दूसरे का अधिक अधिक भाग है।

स्पर्शमें-१-कर्कश और शुक्र स्पर्शका सबसे कम ४-मृदु और लघु स्पर्श का उसमें अधिक ६-रूण और शीतका उससे अधिक तथा ८-क्षीण और उष्णका उससे अधिक भाग है। चारों युगलोंमें जो दो दो स्पर्श हैं उनका आपसमें बराबर बराबर भाग है।

आनुपूर्व्यमें-१-देवानुपूर्व्य और २-नरकानुपूर्व्यका भाग सबसे कम किन्तु आपसमें बराबर होता है। उससे ३-मनुष्यानुपूर्व्य और ४-तिर्यगानुपूर्व्यका प्रमस अधिक अधिक भाग है।

प्रसादि धोसमें-प्रसक्ता कम, स्थावरका उससे अधिक। पर्याप्तका कम, अपर्याप्तका उसमें अधिक। इसी तरह प्रत्येक साधारण, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ सुमग दुमग, सूक्ष्म यादर, और आदेय अनादेयका भी समन्वय

को द्रव्य न मिलकर अन्य मूलप्रकृतियोंको मिल जाता है । जैसे, स्थानान्धि निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर, उनके हिस्सेका सब द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचलाको मिलता है । निद्रा और प्रचलाके बन्धका विच्छेद होनेपर उनका द्रव्य अपनी ही मूलप्रकृतिके अन्तर्गत चक्षुदशनावरण वगैरह त्रिजातीय प्रकृतियोंको मिलता है । उनके भी बन्धका विच्छेद होनेपर ग्यारहवें आदि गुणस्थाना-में सब द्रव्य सातवदनीयता हा जाता है । इस प्रकार अन्य प्रकृतियोंमें भी समझना चाहिये ।

चाहिये । तथा अयश कार्तिका सजसे कम और यश कार्तिका उससे अधिक भाग है । आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विद्यायोगति, सुस्वर, दुस्वरका परस्परमें बराबर भाग है ।

निमाण, उद्धास, परापात, उपघात, अगुह्यपु और तीक्ष्णर नामका अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्वका विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियोंमें ही किया जाता है । पैरा कृष्णनाम कमके लिये वणनाम कर्मके रोप भेद सजातीय हैं । तथा शुभग और दुर्भग परस्परमें विरोधी हैं । किन्तु उक्त प्रकृतियां न तो सजातीय ही हैं क्योंकि वे किसी एक ही विण्ड प्रकृति की भिन्नान्तर प्रकृतियां नहीं हैं । तथा विरोधी भी नहीं हैं, क्योंकि उनका बन्ध एक साथ भी हो सकता है ।

गोत्रकर्म—में नीच गोत्रका कम उच्च गोत्रका अधिक है ।

अतराय—में दानातरायका सजसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अतरायका उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

यद अल्पबहुत्व उत्कृष्ट पदकी अपेक्षासे है ।

जपय पदकी अपेक्षासे ज्ञानावरण, और वेदनीयका अल्पबहुत्व पूर्ववत् ही है । दशनावरणमें निद्राका सबसे कम प्रचलाका उससे अधिक, निद्रा उससे अधिक प्रचला प्रचलाका उससे अधिक, स्थानान्धि उससे

वतलाइ गइ रीतिके अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियोंको जो कमदलिक मिलते हैं, गुणत्रेणिरचनाके द्वारा ही जीन उन कमदलिकोंके बहुभागका क्षपण करता है। अतः गुणत्रेणिना स्वरूप बतलाते हुए पहले उसकी सरया और नाम बतगते हैं—

अधिक, शप पूर्ववत् भाग है। मोहनीयमें केवल इतना अन्तर है कि तीनों वेदोंका भाग परस्परमें तुल्य है और रति अरति से विशेषाधिक है। उससे सज्जन मान, मोक्ष, माया और लोभका उत्तरोत्तर अधिक है। आयुमें तिर्यग्मायु और मनुष्यायुका सबसे कम है और देवायु नरकायुका उससे असरयात गुणा है। नामकर्ममें तिर्यग्गतिका सबसे कम, मनुष्य गतिका उससे अधिक, देवगतिका उससे असख्यातगुणा और नरकगतिका उससे असरयातगुणा भाग है। जातिका पूर्ववत् है। क्षरीरोंमें औदारिकका सबसे कम, तैजसका उससे अधिक, कर्मणका उससे अधिक, वैक्रियका उगमे असरयातगुणा, आहारकका उससे असरयातगुणा भाग है। सघात और बन्धनमें भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिये। अज्ञोपाङ्गमें औदारिकका सबसे कम, वैक्रियका उससे असख्यातगुणा, आहारकका उससे असख्यातगुणा भाग है। आनुपूर्विका पूर्ववत् है। शेष प्रकृतियोंका भी पूर्ववत् जानना चाहिये। मोह और अन्त राय कर्मका भी पूर्ववत् है।

१-पञ्चसङ्गहमें इन गुणत्रेणियोंको निम्न प्रकारसे बतलाया है—

“समत्तदससपुत्रविरहउत्पत्तिजणविसञ्जोते ।

दसणगवणे मोहस्स समणे उवसत्त खवणे य ॥ ३१४ ॥

सीगाइविगे अससगुणियगुणसेदिदडिय जहकमसो ।

समत्ताइणेकारसण्ह कालो उ सत्तसे ॥ ३१५ ॥”

अर्थात्—सम्यक्त्व, देशविरति और सपूर्ण विरतिवी उत्पत्तिमें, अनन्तानुबन्धोंके विसयोजनमें, दर्शनमोहनीयके क्षपणमें, मोहनीयके उपशमनमें, उप-

सम्पदरसज्वविरहे अणविसंजोयदसखजगे य ।

मोहसमसतखजगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

अर्थ—सम्पत्त्व, देगविरति, सखविरति, अनन्तानुपधाना विषयानन, दानमाहनीयका जपक, चारित्रमोहनीयका उपगमक, उपशान्तमाह, क्षपक, क्षाणमोह, सयोगवचली और अयोगवेचली, ये ग्यारह गुणत्रेणि हाती हैं ।

भावार्थ—कर्मोंके दलिकोंका वेदन नियमिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती । यद्यपि स्थिति और रक्का घात ता जिना ही वेदन किये गुम परिणाम पगरहने द्वारा किया जा सकता है, किन्तु दलिकोंकी निर्जरा वेदन नियमिना नहीं हो सकती । यों ता जाव प्रतिसमय कमदलिकोंका अनुभवन करता रहता है, अतः कर्मोंकी भोगजन्य निजरा, जिसे औदनमिना अपवा सनिका निजरा भी कहते हैं, उसक प्रतिसमय हाती रहती है । किन्तु इस तरहसे एक ता परिमित कमदलिकोंकी ही निजरा होती है, वृत्तरे भागजय निजरा नवीन कमरधन भी कारण है, अतः उसके द्वारा काह जाव कमरधनसं मुक्त नहीं हो सकता । (अतः उसके नियमिने कम समय म अधिनम अधिक कमपरमाणुजाना क्षण होना आवश्यक है । तथा उत्तरोत्तर उनकी सख्या बढ़ता हो जाना चाहिये । इसे ही गुणत्रेणि निजरा कहते हैं ।) इस प्रकारकी निजरा तभी होती है, जब आत्माके मातौम उत्तरात्तर निगुदिकी वृद्धि होती है । जयार् जीव उत्तरात्तर निगुदिस्थानापर आरा हण करता जाता है । य निगुदिस्थान, जो गुणत्रेणि निजरा अथवा गुणत्रेणि रचनाका कारण हानसे गुणत्रेणि भी बदे जाते हैं, ग्यारह हाते हैं ।

शांतमोहमें, सपक ्रेणिमें, और क्षीणकयाव आदि तीन गुणस्थानोंमें कमस असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंकी गुणधणि रचना होती है । तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणत्रेणियोंका काल क्रमशः सरयातर्वे भाग सरया तर्वे भाग है ॥ १-२६ उ स० प्र० ।

उक्त गाथामें उही ग्यारह स्थानोंके नाम उतलाय हैं। जीव प्रथम सम्यक्त्व-की प्राप्तिके लिये अपवृत्तरण बगैरहमो करते समय प्रतिसमय असख्यात-गुणी असख्यातगुणा निजरा करता है, तथा सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेके बाद भी उसका क्रम जारी रहता है। यह सम्यक्त्व नामकी पहली गुणश्रेणि है। आगे को अन्य श्रेणियोंकी अपेक्षासे इस श्रेणिम जथात् सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मन्द विगुद्धि रहती है, अतः उनका अपेक्षासे इसमें कम कमदलितोंकी गुणश्रेणि रचना हाती है किन्तु उनके वेदन करनेका काल अधिक होता है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके पश्चात् जीव जन विरतिना एकदेग पालन करता है तब देगविरतिनामकी दूसरी गुणश्रेणि हाता है। इसमें प्रथम गुणश्रेणिमी अपेक्षासे असख्यातगुणे अधिक कमदलितोंकी गुणश्रेणि रचना हाती है, किन्तु वेदन करनेका समय उससे असख्यातगुणा कम हाता है। सपूर्ण विरति-का पालन करनेपर तीसरी गुणश्रेणि होती है। देगविरतिसे इसमें अनन्त-गुणी विगुद्धि हाती है, अतः इसमें उससे असख्यातगुणे अधिक कमदलितोंकी गुणश्रेणिरचना हाती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उससे असख्यातगुणा हीन हाता है। इसी तरह आगे आगेकी गुणश्रेणिम असख्यात-गुणे असख्यातगुणे अधिक कमदलितोंकी गुणश्रेणि रचना होती है, किन्तु उसके वेदन करनेका काल उत्तरोत्तर असख्यातगुणा असख्यातगुणा हान होता जाता है।

जब जीव जनन्तानुगधी कपायका विसयोचन करता है, अथात् जन-तानुगधी कपायक समस्त कमदलितोंकी अन्य कपायरूप परिणमाता है, तब चौथी गुणश्रेणि हाता है। दशममाहनायकी तीनों प्रकृतियोंका विनाश करते समय पाचवी गुणश्रेणि होती है। आठवें नौवें और दसवें गुणस्थानम चारित्रमाहनीयका उपगमन करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशा-न्तमाह नामक ग्यारहवें गुणस्थानम सातवा गुणश्रेणि होता है। धपकश्रेणिम चारित्रमाहनीयका क्षण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि हाती है। छागमोह

नामक बारहव गुणस्थानमें नवमी गुणश्रेणि होता है । सयोगकेवली नामक तेरहव गुणस्थानमें दसवीं गुणश्रेणि होती है । और अयोगकेवली नामक चौदहव गुणस्थानमें ग्यारहवां गुणश्रेणि होती है । इन सभी गुणश्रेणियोंमें उत्तरोत्तर असरपातगुणे असरपातगुणे कमदलितनासी गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु काल उत्तरोत्तर सख्यातगुण सख्यातगुणा हीन लगता है । अर्थात् कम समपम अधिक अधिक कमदलित रपाय जाते हैं । इसीसे उक्त ग्यारह स्थान गुणश्रेणि कहलाते हैं ।

१ गोमट्टसार जीवकाण्डमें भी इसी क्रमसे गुणश्रेणियोंकी गणना की है, जो इस प्रकार है—

“सम्पत्पुण्योपपत्तौ सावयविरदे अणतकम्मसे ।

वृत्तमोहकखण्ड कपायवसामा य उवसथ ॥ १६ ॥

खण्ड य स्त्रीमोहे जिणसु वृत्ता अससगुणिकमा ।

तन्निवरीया काला सखजगुणकमा होति ॥ १७ ॥”

अर्थात्—सम्पत्त्वको उत्पत्ति होनेपर, धावकके, मुनिके अन्तर्गतपुण्योपपत्तौ कपायका विमोजन करनेकी अवस्थामें वृत्तमोहका क्षपण करने बाधने, कपायका उपशम करने बाधके, उपशान्त मोहके, क्षपण श्रेणिके तीन गुण स्थानोंमें क्षीणमोह गुणस्थानमें, तथा स्वस्थान केवलीके और समुदात्त करी वाले कपणीके गुणश्रेणि निर्जराया इव्य उत्तरोत्तर असरपातगुणा असख्यात गुणा हैं और काल उत्तरे निपरीत है । अर्थात् समुदात्तगुण केवलीत लेकर सम्पत्त्व स्थान तक उत्तरोत्तर सख्यातगुणा सख्यातगुणा बाल लगता है । अथवा यह कहना चाहिये कि काल उत्तरोत्तर सख्यातगुणा हीन है । इसमें कमग्रन्थसं केवल इतना ही अन्तर है कि अयोग केवलीके स्थानमें समुदात्तगत केवलीको गिनाया है ।

तरपायसूत्र ९-४५ में सयोगी अयोगीके स्थानमें केवल जिनको रखा है । और गीष्वाधारोंने उस एक ही स्थान गिना है । स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा

इन गुणश्रेणियोंका यदि गुणस्थानके क्रमसे विभाग किया जाये, तो उनमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके सभी गुणस्थान सम्मिलित हो जाते हैं। तथा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी उनमें सम्मिलित हो जाता है। विगुणिकी वृद्धि होनेपर हा चौथे पाचवें आदि गुणस्थान होते हैं अतः आगे आगेके गुणस्थानोंमें जो उक्त गुण-श्रेणियाँ होती हैं उनमें ता अधिक अधिक विगुणिका होना स्वाभाविक ही है।

गुणश्रेणिके ग्यारह स्थानोंमें बतला कर, उन उसका स्वरूप, तथा जिस गुणश्रेणिमें जितनी निजरा होती है, उसका कथन करते हैं—

गुणसेही ढलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणगाए ।

एयगुणा पुण कमसो असखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

अर्थ—(उदयपणमें लेकर प्रतिसमय असरयातगुणे असख्यातगुणे कर्म-दलिकोंकी रचनाको गुणश्रेणि कहते हैं)। पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशनिरति, सर्व-निरति वगैरह गुणगाले जाय प्रमश असरयातगुणी असख्यातगुणी निजरा करते हैं।

भावार्थ—इस गायिका पहली पक्षिम गुणश्रेणिका स्वरूप बतलाया है, और दूसरा पक्षिम इससे पहलेकी गायाम बतलाय गय गुणश्रेणिगाले जीवोंके निजराका प्रमाण बतलाया है। हम पहले लिख आये हैं कि सम्मन्त्र्य देशनिरति वगैरह जो गुणश्रेणिके ग्यारह प्रकार बतलाय हैं, ये स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं किन्तु गुणश्रेणिके कारण हैं। कारणमें कायना उपचार करके उन्हें

में सयोगी और अयोगीही गिनाया है। यथा—

“एउगो य खीणमोहो सजोद्वणाहो सहा अजोईया ।

पदे उवरि उवरि असखगुणकम्मणिज्जरया ॥ १०८ ॥”

किन्तु इसकी सस्मृत टीकामें टीकाकारने स्वस्थान केवली और समुदात गत केवलीको ही गिनाया है, ‘अजोईया’को उन्होंने छोड़ ही दिया है।

गुणश्रेणि कहा गया है । जैसे कहावत है कि 'अन्न ही प्राण है' । किन्तु अन्न प्राण नहीं है, किन्तु प्राणात्मा कारण है, इसलिये उसे प्राण कह देते हैं । इसीतरह सम्यक्त्व वगैरह भी गुणश्रेणिके कारण हैं, किन्तु स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं । गुणश्रेणि तो एक नित्याविशेष है, जो इस मायामें उत्पन्न हो गई है । इस नित्यात्मा समझनेके लिये हम सम्यक्त्वमा उत्पत्तिकी प्रक्रियापर दृष्टि डालनी होगी । हम पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें लिंग जीव यथाप्रवृत्तकरण, अप्रवृत्तकरण और अनिवृत्तकरण नामक तीन क्रियाएँ करना है । अप्रवृत्तकरणमें प्रवेश करते ही चार काम होने प्रारम्भ हो जाते हैं—एक स्थितिगत, दूसरा रचघात, तीसरा नश्वर स्थितिगत और चौथा गुणश्रेणि । स्थितिगतके द्वारा पन्धे बांधे हुए कमानी स्थितिमा कम कर दिया जाता है । जिन कमदलिकाकी स्थिति कम हो जाती है, उनमेंसे प्रतिसमय असख्यातगुण अमख्यातगुण दलिक प्रहण करके उदय समयसे लेकर ऊपरकी ओर स्थापित कर दिये जाते हैं । कमप्रकृति- (उपशमनाकरण) की पद्धति गायिका प्राचीन चूर्णिम लिखी है—

उपरिह्वाओ द्विनिउ पोग्गल घेत्तूण उदयसमये थोवा प निखयति, त्रितियसमये असखेज्जगुणा एव जाव भन्तोमुहुत्त ।”

अर्थात्—‘ऊपरकी स्थितिसे दलिकाका प्रहण करके उनमेंसे उदयसमयमें पाँचे दलिकोंका निक्षेपण करता है, दूसरे समयमें उनसे असख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेपण करता है । इस प्रकार अन्तमुहुत्तकालके अन्तिम समय

१ ‘गुणश्रेणी निक्खवो समये समये असखगुणणाप ।

अद्धादुगाहरित्तो सत्ते सेत्ते य निक्खेवो ॥ १५ ॥’

अर्थात्—प्रतिसमय असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंके निक्षेपण करने का गुणश्रेणी कहते हैं । उसका काल अप्रवृत्तकरण और अनिवृत्तकरणक काल से कुछ अधिक है । इस कालमें से ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों ऊपरके शेष समयोंमें ही दलिकोंका निक्षेपण किया जाता है ।

तत् (प्रतिसमय) असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलित्वा निक्षेपण करता है ।'

खुलासा यह है कि स्थितिगतक द्वारा उन्हीं दलित्वा की स्थितिमा घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्तमुद्भूतसे अधिक होती है । अतः स्थितिमा घात कर देनेसे जो कमदलित उद्भूत समय बाद उदयमें जाते, वे तुरत ही उदयमें जाने योग्य हो जाते हैं । इसलिये जिन कमदलितों की स्थितिमा घात किया जाता है, उनमेंसे प्रतिसमय कमदलितों को ले लेकर, उदयसमयसे लेकर अन्तमुद्भूत कालके अन्तिम समयतक असख्यात गुणितक्रमसे उनकी स्थापना की जाती है । (अर्थात् पहले समयमें जो दलित ग्रहण किए जाते हैं उनमेंसे याडे दलित उदय समयमें दारिज करदिय जाते हैं, उससे असख्यातगुणे दलित उदय समयसे ऊपरके द्वितीय समयमें दारिज करदिय हैं, उससे असख्यातगुणे दलित तीसरे समयमें दारिज करदिय जाते हैं । इसी क्रमसे अन्तमुद्भूतकालके अन्तिम समयतक असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलितों की स्थापना की जाती है । यह प्रथम समयमें गृहीत दलितों के स्थापन करने की विधि है । इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयोंमें गृहीत दलितों के निक्षेपण की विधि जाननी चाहिये । अतः उद्भूतकाल तक यह किया होती रहती है । इसीका गुणधेनि कहते हैं) जैसा कि कमप्रकृति की उक्त पद्वही गाथा की टीकामें उपाध्याय यशोविनयजीने लिखा है—

“अधुना गुणधेनिस्वरूपमाह—यत्स्थितिरुण्डक घातयति तन्मध्यादलितं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमय यावत् प्रतिसमयमसरयेयगुणनया निक्षिपति । उक्तं च—‘उद्य रिहृदिद्विहंती धितूण पुगले उ सो खिचइ । उदयसमयमि योवे तत्तो अ असखगुणिण उ ॥ १ ॥ त्रीयमि खिचइ समण तइए तत्तो असखगुणिण उ । एव समण समण अन्नमुहत्त तु जा पुत्त ॥२॥’ एष प्रथमसमयगृहीतदलितनिक्षेपविधि । एव-

मेव द्वितीयादिसमयपृथ्वीतानामपि दलिकानां निक्षेपमिधि
द्रष्टव्य । किञ्च गुणधनिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुण
धनचरमसमय यावद् गृह्यमाण दलिर यथोत्तरमसरयेयगुण
द्रष्टव्यम् । उक्तञ्च-दलिय तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि
थोयय गिण्हे । उचरिह्ठिह्ठिह्ठितो धियम्मि असखगुणिय तु ॥१॥
गिण्हइ समए दलिय तइए समए अमखगुणिय ॥ । एय समए
समए जा चरिमो अतसमओत्ति ॥ २ ॥' इहान्तमुहूतप्रमाणो
निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणधनिरालक्षापूर्वकरणानिवृत्ति
करणादाहिरान् किञ्चिदधिमो द्रष्टव्य, तावत्कालमध्ये बाध
स्तनोदयक्षणे वेदनत क्षीणे शेषक्षणेपु दलिक रचयति, न पुन
ऊपरि गुणधेनिं घटयति । उक्तञ्च-"सेढीइ कालमाण दुण्णय
करणाण समहिय जाण । तिजइ सा उदएण ज सेस तम्मि
णिकप्पेओ ।' इति ।"

अथात् 'अन गुणधेनिरा स्वरूप कहते हैं-जिस स्थितिरण्डकका घात
करता है उससमय दलिकोंको लेकर, उन्त्यकालमें लेकर अन्तमुहूतके अन्तिम

१ छम्भिसारम गाथा ६८ स ७४ तक गुणधनिका विधान कहा है,
जिसका आशय इस प्रकार है-गुणधेनिरचना जो प्रकृतियां उदयमें आरम्भ
है, उनमें भी होती है और जो प्रकृतियां उदय में नहीं आरम्भ होती हैं उनमें भी
होती है । अन्तर केरत इतना है कि उदयागत प्रकृतियोंके द्रव्यका निषेपण
तो उदयावली गुणधन और ऊपरकी स्थिति, इन तीनोंमें ही होता है । किन्तु
जो प्रकृतियां उदयमें नहीं होती उनके द्रव्यका स्थापन केवल गुणधेनि
और ऊपरकी स्थितिमें ही होता है उदयावलीमें उनका स्थापन नहीं होता ।
आशय यह है कि वर्तमान समयमें लेकर एक आवर्ग तकके समयमें जो
वेदेक उदय आनेके योग्य है, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदया
लीमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये । उदयावलीके ऊपर गुणधनिके

समय तबके प्रत्येक समयमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—‘ऊपरकी स्थितिसे पुद्गलाका ऐकर उदयकालमें थोड़े स्थापन करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तकालकी समाप्ति तबके समयमें असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।’ यह प्रथम समयमें ग्रहण किय हुए दलिकोंके निक्षेपणकी विधि है। इसी ही तरह दूसरे आदि समयोंमें ग्रहण किय गये दलिकोंके निक्षेपणकी विधि जाननी चाहिये। तथा, गुणश्रेणिरचनाके लिये प्रथम समयसे ऐकर गुणश्रेणिने अन्तिम समय तक उत्तरात्तर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिक ग्रहण किय जाते हैं। कहा भी है—“ऊपरकी स्थितिसे दलिकोंका ग्रहण करते हुए, प्रथम समयमें थोड़े दलिकोंका ग्रहण करता है, दूसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। तीसरे समयमें उससे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकालके अन्तिम समय तक असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण करता है।” यह निक्षेपण करनेका काल अन्तर्मुहूर्त है और

समयोंक परावर जो नियेक हैं उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि में दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणिसे ऊपरके, अन्तके कुछ नियेकों को छोड़कर, शेष सर्व नियेकोंमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपरकी स्थितिमें दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इस क्रियाको मिथ्यात्वके उदाहरणके द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्वके द्रव्यमें अपकर्षण भागद्वाराका भाग देकर, एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है। शेष एक भागको पत्यके असख्यातवै भागका भाग देकर बहुभागका स्थापन ऊपरकी स्थितिमें करता है। शेष एक भागमें असख्यातलोकका भाग देकर बहुभाग गुणश्रेणि आयाम में देता है। शेष एक भाग उदयावलीमें देता है। इस प्रकार गुणश्रेणि

दलितानी रचनारूप गुणधेनिमा काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिये। इसकालमें नीचे नाचेके उदयक्षण का अनुभव करनेसे बाद ध्य होजानेपर, घासीके क्षणमें दलितानी रचना करता है। किन्तु गुणधेनिसे ऊपरकी ओर नहीं उड़ता है। कहा है— 'गुणधेनिमा काल दानों करणोंके कालसे कुछ अधिक जानना चाहिये। उदयक द्वारा उसका काल क्षण होता जाता है, अतः जो शेषकाठ रहता है उसीमें दलितोंका निक्षण किया जाता है।”

सारांश यह है कि(गुणधेनिमा काल अन्तमुद्धत है,) अतः अन्तमुद्धत तब ऊपरकी स्थितिमेंसे कमदलितका प्रतिसमय ग्रहण किया जाता है। और प्रति समय जो कमदलित ग्रहण किए जाते हैं, उनका स्थापन उस रचातगुणिन प्रसक्त उदयक्षणसे ऐसा अन्तमुद्धत कालके अन्तिम समय तबमें कर दिया जाता है। जैसे यदि अन्तमुद्धतका प्रमाण १६ समय रहना लिया जाय तो गुणधेनिके प्रथम समयमें जो कमदलित ग्रहण किया गया उनका स्थापन पूर्वोक्तप्रकारसे १६ समयमें किया जायगा। दूसरे समयमें जो कमदलित ग्रहण किए गए उनका स्थापन घासीके पन्द्रह समयों में हो होगा क्योंकि पहले उदयक्षणका घेदन होचुरा। तीसरे समयमें

रचनाके लिये गुणधेनि का एक अन्तिम समयपर्यन्त असंशतगुण असंख्या तगुणे द्रव्यका अपवर्णन करता है और पूर्वोक्त विधानके अनुसार उदयकाली, गुणधेनि आयाम और ऊपरकी स्थितिमें उस द्रव्यका स्थापन करता है। इस प्रकार आयुके सिवाय शेष सातकर्मोंका गुणधेनिविधान जानना चाहिये।

जीवकाण्ड गाथा ६६ ६७ की टीकामें भी गुणधेनिका विस्तारसे वर्णन किया है।

पञ्चसग्रहमें भी गुणधेनिका स्वरूप उपयुक्त प्रकार ही बतलाया है—

धाइयठिहो दलित घत्तु घत्तु असखगुणगाण ।

माहियदुकरणकाल उदयाह रयह गुणसेठि ॥ ७४६ ॥ '

जो कर्मदलित ब्रह्मण किये गये उनका स्थापन दोष चौदह समयोंमें ही होगा । ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि प्रत्येक समयमें गृहीत दलितोंका स्थापन सोलह ही समयोंमें होता है और इस तरह गुणश्रेणि का काल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है । इस प्रकार (अन्तर्मुहूर्त कालतक असख्यात गुणित क्रमसे जो दलितोंकी स्थापनाकी जाती है उसे गुणश्रेणि कहते हैं) सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय जीव इस प्रकारकी गुणश्रेणि रचना करता है । गुणश्रेणि उदयसमयसे होती है और ऊपर ऊपर असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलित स्थापित किये जाते हैं । अतः गुणश्रेणि करनेवाला जीव ज्यों ज्यों ऊपर की ओर चढ़ता जाता है त्यों त्यों प्रतिममय असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा करता जाता है । क्योंकि जिस क्रमसे दलित स्थापित होते हैं उसी क्रमसे वे प्रतिममय उदयमें आते हैं । अतः वे असख्यात गुणितक्रमसे स्थापित किये जाते हैं और उसी क्रमसे उदयमें आते हैं, अतः सम्यक्त्वम असख्यातगुणी निर्जरा होती है ।

देशविरति और सर्वविरति की प्राप्तिके लिये जीव यथाप्रवृत्त और अप्रवृत्त ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिरूप नही करता । तथा अप्रवृत्त-करणमें यहा गुणश्रेणिरचना भी नहीं होती, और अप्रवृत्तिरूप का काल समाप्त होऊपर नियमसे देशविरति या सर्वविरति की प्राप्ति होजाता है । इसीसे तीसरे अनिवृत्तिरूपकी आवश्यकता नहीं होती । उक्त दोनों करण यदि अविरत-दशामें नियमित होते हैं तब तो देशविरति या सर्वविरतिकी प्राप्ति होती है, और यदि देशविरत दशामें नियमित होते हैं तो नियमसे सर्वविरति प्राप्त होती है । देशविरति अथवा सर्वविरतिकी प्राप्ति होनेपर जीव उदयावलिके ऊपर गुणश्रेणी की रचना करता है । इसका कारण यह है कि जो प्रवृत्तियों उदयवती होती हैं, उनमें तो उदयगणसे लेकर ही गुणश्रेणि होती है, किन्तु जो प्रवृत्तियाँ अनुदयवती होती हैं, उनमें उदयावलिकाके ऊपरके समयसे लेकर गुणश्रेणि होती है । पाँचवें गुणस्थानम अप्रत्याख्यानावरण और छट्टे

में प्रत्याख्यानाकरण कपाय अनुदययती है अतः उक्त उदयारब्धिका को द्वादशर ऊपरके समयसे गुणत्रेणि हाती है । देशविरति और सवविरति की प्राप्तिने पश्चात् एक अन्तमुद्धृत कालतक जीवके परिणाम बधमान रहते हैं । उसके बाद काइ नियम नहा है—किसीके परिणाम बधमान रहते हैं, जिसके सदयस्थ रहते हैं, और जिसके हीयमान हो जाते हैं । तथा जयतक देश विरति या सवविरति रहती है, तत्पश्चात् प्रतिसमय गुणत्रेणि भी हाती है । किन्तु यहा इतनी निरोपता है कि देशाचारित्र अथवा सकलचारित्रके साथ उदयानलिने ऊपर एक अन्तमुद्धृत कालतक असख्यातगुणितनमसे गुणत्रेणि की रचना करता है, क्योंकि परिणामात्री नियत वृद्धिका काल उतना ही है । उसके बाद यदि परिणाम बधमान रहते हैं तो परिणामाके अनुसार कभी असख्यातव भाग अधिक, कभी सख्यातव भाग अधिक, कभी सख्यातगुणी और कभी असख्यातगुणी गुणत्रेणि करता है । यदि हीयमान परिणाम होने है तो उस समय उक्त प्रकारसे ही हीयमान गुणत्रेणि की करता है, और अवस्थितदशाम अवस्थित गुणत्रेणि की करता है । अर्थात् बधमान दशाम दलिकोरी सख्या बढती हुई होता है, हीयमान दशाम घटती हुई हाती है और अवस्थित दशामे अवस्थित रहती है । अतः देशविरति और सवविरतिम में प्रतिसमय असख्यातगुणी निजरा होती है ।

अन्तानुनभी कश्चयथा मिसयानन अनितसम्यग्दृष्टि, देशविरति
१ देशो, कर्मप्रकृति (उपगमनाकरण) भा० २८ २९ की चूर्णि और टीकाएँ ।
२ 'उदयारब्धिर् उच्च गुणसहिं कुण्ड सह चरितेज ।

अतो असरागुणशाण सत्तिय बहुण काल ॥७६३॥ पञ्चसद्गद ।

३ 'सदगदया वञ्चता विविध सपोयणा विजोयति ।

कारणेहि तीहि सहिया नवरकरण तवममो वा ॥३१॥

कर्मप्रकृति (उप)

और सविरत जीव करते हैं। अविरत सम्पद्यष्टि तो चारा गतिके लेने चाहिये, देशविरत मनुष्य और तिर्यञ्च ही होते हैं, और सवविरत मनुष्य ही होते हैं। जो जीव अनन्तानुग्रीही कथायना निश्चयान्न करनेके लिये उत्थत होता है, वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणोंका करता है। यहा इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही गुणसंक्रम भी होने लगता है। अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथमसमयमें अनन्तानुग्रीही कथायने थोड़े दलितोंका शेष कथायनेम संक्रमण करता है। दूसरे समयमें उसमें असख्यातगुणे दलितोंका परकथायरूप संक्रमण करता है। तीसरे समयमें उससे भी असख्यातगुणे दलितोंका परकथायरूप संक्रमण करता है। यह त्रिना अपूर्वकरणने अन्तिम समयतक हाती है। उसके बाद अनिवृत्तिकरणमें गुणसंक्रम और उद्वलन संक्रमणके द्वारा समस्त दलितोंका निनाश करदेता है। इस प्रकार अनन्तानुग्रीही निश्चयान्न भी प्रतिसमय असख्यातगुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

(दृग्जनमाहनायनं क्षणका प्रारम्भ वद्व्यपमनायच सहजनना धारक मनुष्य आठवपना अवस्थाके बाद करता है।) किन्तु यह काम त्रिनालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही कर सकता है। अर्थात् श्रम त्रिनासे लेकर जन्मूत्पामीने केवलज्ञानही उत्पत्ति होने तकके कालमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य दर्शनमोहना क्षणकर सकता है। दर्शन माहनायकी क्षणा भी उसी प्रकारसे जानना चाहिये जैसा कि पहले अनन्तानुग्रीही कथायना बतला आया है। यहा पर भी पूर्ववत् तीना करण करता है और अपूर्वकरणमें गुणत्रेणि बगैरह काय हाते हैं।

उपशमभ्रेगिर आरोहण करनेवाला जीव भी तीनों करणोंको करता

१ "दसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ ।

त्रिणकालगो मणुस्सो पट्टवगो अट्टवासुप्पि ॥ ३२ ॥"

कर्मप्रवृत्ति (उपशम०)

है। यद्वा इतना ज़रूर है कि यथाप्रवृत्तकरण सानवें गुणस्थानमें करता है। अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामके गुणस्थानमें और अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामके गुणस्थानमें करता है। यद्वा परमी पृथक् स्थितिपात गणधेनि वगैरह काय होते हैं। उन उपशमक भी प्रतिसमय असख्यात गुणी असख्यातगुणा निजरा करता है।

चारिन्माहनीयम् उपनाम करनेके बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँच कर भी तीन गुणधेनिरचना करता है। उपशान्तमाहका काल अन्तमुद्भूत है और उसके सन्ध्यातवें भाग कालमें गुणधेनिकी रचना होती है। अतः यथा पर भाँ जाव प्रति समय असख्यातगुणी असख्यातगुणी निजरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें व्युत्पन्न हुए छठे गुणस्थान तक आकर जब जाय क्षरकधेनि चढ़ता है, जयना उपशमधेनिकार आरुह हुए बिना ही साधा धरकधेनिकार चढ़ता है तो यहाँपर भी यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और और अनिवृत्तिकरणमें करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमाह गुणस्थानोंसे भाँ असख्यातगुणी निजरा करता है। इस प्रकार क्षीणमाह, स्यागङ्गली और जयोगङ्गली नामक गुणधेनियोंमें भी उत्तरोत्तर असख्यातगुणा असख्यातगुणी निजरा जाननी चाहिये।

इन ग्यारह गुणधेनियोंमेंसे प्रत्येकका काँउ अन्तमुद्भूत अन्तमुद्भूत होने पर भी अन्तमुद्भूतका परिमाण उत्तरात्तर हान होता है, तथा निजरा द्रव्यका परिमाण सामान्यसे असख्यातगुणा असख्यातगुणा होनेपर भी उत्तरात्तर बढ़ता हुआ होता है। आशय यह है कि उत्तरोत्तर कम कम समयमें अधिक अधिक द्रव्यही निजरा होती है क्योंकि परिणाम उत्तरात्तर निगुह होते हैं। इस प्रकार गुणधेनिका विधान जानना चाहिये।

गुणधेनिका वगन करते हुए मतला आये हैं कि और ज्यों ज्यों आगे गुणोंकी अमनाता जाता है, त्यों त्यों उसके असख्यातगुणा अव

ख्यातगुणी निर्जरा होती है। और क्रमशः मक्लेशकी हानि और विशुद्धिका प्रकट होनेपर आगे आगेके गुण ही गुणस्थान कहे जाते हैं। अतः यहाँ गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं—

पलियासंरमष्टुह सासणइयरगुण अतर हस्सं ।

गुरु मिच्छी वे उसही इयरगुणे पुग्गलद्धतो ॥८४॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थानका जघन्य अन्तर पत्त्यके असख्यातवें भाग है। और इतर गुणस्थानाका जघन्य अन्तर अन्तमुद्धत है। तथा, मिष्यात्व गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर दो छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है, और इतर गुणस्थानोंका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गलरावत है।

भावार्थ—इस पहले लिख आये हैं कि सम्यक्त्व, (देशविरति वगैरह जो गुणभेदियों बतलाइ है, वे प्रायः गुणस्थान ही हैं। गुणोंके स्थानान्ते गुणस्थान कहते हैं।) अतः सम्यक्त्वगुण जिस स्थानमें प्रादुर्भूत होता है, वह सम्यक्त्व गुणस्थान कहा जाता है। देशविरति गुण जिस स्थानमें प्रकट होता है, वह देशविरति गुणस्थान कहा जाता है। इसी तरह आगे भी समझना चाहिये। उक्त गुणभेदियोंका सम्बन्ध गुणस्थानोंके साथ होनेके कारण ग्रन्थकारने इस गाथाके द्वारा गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थानसे व्युत्पन्न होकर पितृने समयके बाद पुनः उस गुणस्थानको प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थानका अन्तराल कहा जाता है। यहाँ सास्वादन नामक दूसरे गुणस्थानका जघन्य अन्तराल पत्त्यके असख्यातवें भाग बतलाया है, जो इस प्रकार है—

कोई अनादि मिष्यादृष्टि जीव, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और मिष्यात्व मोहनीयकी उद्धलना कर देनेवाला सादि मिष्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्वका प्राप्त करके, अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे सास्वादन-

सम्यग्दृष्टि होकर, मिथ्यात्वगुणस्थानमें आ जाता है। वही जीव यदि उसी क्रमसे पुनः सात्त्वादन गुणस्थानमें प्राप्त करता है तो क्रमसे कम पल्यके असख्यातमें भाग कालके बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सात्त्वादन गुणस्थानसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें आनेपर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृतियाँ सच्चा अब य रहती है। इन दोनों प्रकृतियोंकी सच्चा दातृ हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होसकता, और औपशमिक सम्यक्त्वमें प्राप्त स्थिति बिना सात्त्वादन गुणस्थान नहीं हो सक्ता। अतः मिथ्यात्वमें जानेके बाद जीव सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीयकी प्रतिसमय उद्वलन करता है, अर्थात् उक्त दोना प्रकृतियोंके दलितोंको मिथ्यात्व मोहनीयरूप परिणामात्ता रहता है।

इस प्रकार उद्वलन करते करते पल्यके असख्यातमें भाग कालमें उक्त दोना प्रकृतियाँ अभव हो जाता है। और उसके होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्यक्त्वमें प्राप्त करके सात्त्वादन गुणस्थानमें आ जाता है। अतः सात्त्वादन गुणस्थानका अन्तरात्त पल्यके असख्यातमें भागसे कम नहीं हो सक्ता।

शास्त्रा-कोह को जीव उपशमभेणिते गिरकर सात्त्वादन गुणस्थानमें आते हैं, और अन्तमुहूर्तके बाद पुनः उपशमभेणिपर चढ़कर, वहाँसे गिरकर पुनः सात्त्वादन गुणस्थानमें आ जाते हैं। इस प्रकारसे सात्त्वादनका जघन्य अन्तर बहुत थोड़ा होता है। अतः उसका जघन्य अन्तर पल्यके असख्यातमें भाग क्यों बतलाया गया है ?

१ मयाप्रवृत्त आदि तीन करणोंके बिना ही किसी प्रकृतिको अन्य प्रकृति रूप परिणामनेको उद्वलन कहते हैं।

२ पल्योपभासत्येवमागमाग्रण कालन तं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलयत स्तोके उद्वलनसकमे समोर्जध्वय प्रदेवासकम् ।'

(कर्मप्रकृति, मन्त्र० टी० गा० १०० श्लोक०)

उत्तर-उपशमश्रेणिसे च्युत होकर जा सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगतिमें हा सम्भव है और वहाँ पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है । अतः यहाँ उसकी निम्नता नहीं की है । किन्तु उपशमसम्यक्त्वसे च्युत होकर जा सास्वादनकी प्राप्ति बतलाइ है, यह चारों गतिमें सम्भव है । अतः उसकी अपक्षासे ही सास्वादनका जन्म अन्तराल बतलाया है ।

सास्वादनके सिवाय शरीरके गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशमश्रेणिक अपूर्वकरण, अनिष्टचिन्तन, सूक्ष्मसाम्प्रदाय और उपशातमोह गुणस्थानसे च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्तके बाद ही उन गुणस्थानोंको पुनः प्राप्त कर लेता है । अतः उनका जन्म अन्तराल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है । क्योंकि जब कोई जाव उपशमश्रेणि पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है, और वहाँसे गिरकर प्रमत्त उतरते उतरते मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आ जाता है । उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें पुनः ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है । क्योंकि एक भयम दो बार उपशमश्रेणिपर चढ़नेका विधान शौखामें पाया जाता है उस समय मिश्रगुणस्थानसे सिवाय उक्त बाकीके गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका जन्म अन्तराल अन्तर्मुहूर्त होता है ।

यहाँ मिश्रगुणस्थानको इसलिये छोड़ दिया है कि श्रेणिसे गिरकर जीव मिश्रगुणस्थानमें नहीं जाता है । अतः जब जीव श्रेणि पर नहीं चढ़ता तब मिश्रगुणस्थानका और सास्वादनके सिवाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तकका जन्म अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तके बाद पुनः प्राप्त हो सकते हैं । बाकीके श्रीगमोह, सयोगकेरली और अयोगकेरली गुणस्थानका अन्तराल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान

१ 'एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोह उवसमेज्जा ।' कर्मप्रकृति गा० ६४, तथा पञ्चसङ्गह गा० ९३ । उपशम० ।

एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते । इस प्रकार गुणस्थानोंका जपन्य अन्तर होता है ।

उत्पृष्ट अन्तर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंका एकसाँ बचीस सागर है, जो इस प्रकार है—याद नीचे त्रिपुष्ट परिणामक कारण मिथ्यात्वगुणस्थानोंका छाड़कर सम्मत्त्वका प्राप्त करता है । शयायाम सम्मत्त्वका उत्पृष्टकाल ५५ सागर समाप्त करके यह जीव अतःपुष्टक लिये सम्मत्त्वमिथ्यात्वों बला जाता है । वहाँसे पुनः धनोत्थम सम्मत्त्वका प्राप्त करके त्रिपुष्टक सागरकी समाप्तितक यदि उसका मुक्ति लाभ नहीं किया तो यह जीव अथवा मिथ्यात्वमें जाता है । इस प्रकार मिथ्यात्वका उत्पृष्ट अन्तर एक सौ बचीस सागरसे कुछ अधिक होता है । साक्षादनन्ते ऐश्वर्य उरसान्तमोह तक बाकीके गुणस्थानोंका उत्पृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परायण है । क्योंकि इन गुणस्थानोंसे भ्रष्ट होकर जाय अधिगने अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परायण काल तक सकारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसके बाद उसे पुनः उच्च गुणस्थानोंकी प्राप्ति होती है । अतः इन गुणस्थानोंका उत्पृष्ट अन्तराल कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परायण होता है । बाकीके क्षीणमाह वगैरह गुणस्थानोंका अन्तर नहीं होता, यह पहले कह ही जाय है ।

साक्षादनन्ता जपन्य अन्तर पञ्चोपम कालके असम्प्राप्तों भाग बतलाया है । अतः पञ्चापमकालका स्वरूप निस्तारसे कहते हैं—

उद्धारजद्धखित्त पलिय विहा समयवाससयसमए ।

केसनहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥

१ पञ्चसङ्गहमें भी गुणस्थानोंका अन्तर इतना ही बतलाया है । यथा—

“पलियासखो सासायणतर ससयाण भवमुहु ।

मिच्छस्स ये छसद्धी इवराण पोग्गलद्धतो ॥ ९५ ॥”

अर्थ—पल्यापम तीन प्रकारका होता है—उद्गार पल्योपम, अद्गारपल्योपम और क्षेत्र पल्योपम । उद्गार पल्योपममें प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाता है और उससे द्वीप और समुद्रानी सख्या मापने की जाती है । अद्गार पल्योपममें सौ सौ बपके बाद एक एक बालाग्र निकाला जाता है, और उसके द्वारा नारक तिर्यञ्च आदि चारों गतियाने जागैरी आवुस परिमाण जाना जाता है । क्षेत्रपल्योपममें प्रति समय बालाग्रसे स्पष्ट तथा अस्पष्ट एक एक आकाश प्रदेश निकाला जाता है और उसके द्वारा व्रस आदि कायाका परिमाण जाना जाता है ।

भावार्थ—इस गायाम पल्योपमके भेद, उनका स्वरूप और उनकी उपयोगिताका संक्षेपमें निर्देश किया है । किन्तु अनुयोगेन्द्र प्रवचन-सारोद्धार धर्मैहमें उनका स्वरूप विस्तारसे उतलाया है । अतः गायामे सूत्ररूपसे कही गई घाताका स्पष्टरूपसे समझानेके लिये, उक्त ग्रन्थोंके आधारपर पल्योपम धर्मैहमें स्वरूप उतलाया जाता है ।

गाथा ४०-४१म क्षुद्र भनका प्रमाण उतलाते हुए प्राचीन कालगणनाका थोड़ा सा निर्देश कर आये हैं, और समय, जानलिना, उद्वास, प्राण, स्तोत्र, एव और मुहूर्तका स्वरूप उतला आये हैं । तथा ३० मुहूर्तका एक दिनरात, पन्द्रह दिनरातका एक पञ्च, दो पञ्चका एक मास, दस मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, और दो अयनका एक बप तो प्रसिद्ध ही हैं । बपोंकी अमुक अमुक सख्याको लेकर प्राचीन कालमें जा सझाएँ निर्धारित की गई थी, वे इस प्रकार हैं—८४ लौरा बपका एक पूजाङ्क,

१ गा० १०७, सू० १३८ । २ पृ० ३०२ । ३ ग्रन्थलोक० पृ० ४ ।

४ ये सझाएँ अनुयोगेन्द्रके अनुसार दी गई हैं । ज्योतिष्करण्डके अनुसार इनका क्रम दस प्रकार है—

८४ लौरा पूर्वका एक लताङ्क, ८४ लाख लताङ्कका एक लता ८४ लाख लताका एक महालताङ्क, ८४ लाख महालताङ्कका एक महालता, इसी प्रकार

चौरासी लाख पूजाङ्गना एक पूर, चौरासी लाख पूरका एक भुटिताङ्ग,
चौरासी लाख भुटिताङ्गका एक भुटित, चौरासी लाख भुटितका एक अट
डाङ्ग, चौरासी लाख अटडाङ्गका एक अटड, इसी प्रकार कमश अववाङ्ग,
अवर, हुहुअङ्ग हुहु, उत्तलाङ्ग, उत्तल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन,
अयनिपूराङ्ग, अयनिपूर, अयुताङ्ग, अयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, नयुताङ्ग,
नयुत, चूलिनाङ्ग, चूलिना, शीषप्रहेलिनाङ्ग, शीषप्रहेलिना, य उत्तरोत्तर
८४ लाख गुण होते हैं । इन सगणोंको बतलाकर अनुयोगद्वारमें आगे
लिया है— 'एयाउया चव गणिण, एयावया चेव गणिमस्स वि
सण, एत्तोऽर ओयमिण पवत्तइ ।' (सू० १३७)

अथात्—'शीषप्रहेलिना तक गुणा करनेसे १९४ अङ्ग प्रमाण जा
रागि उत्पन्न होती है गणितही अरुधि बढ़ा तक है, उतनी ही राशि

आगे नलिनाङ्ग नलिन महानलिनाङ्ग, महानलिन, पद्माङ्ग पद्म, महापद्माङ्ग,
महापद्म, कमलाङ्ग कमल, महाकमलाङ्ग महाकमल, कुमुदाङ्ग कुमुद, महा
कुमुताङ्ग महाकुमुद भुटिताङ्ग, भुटित महाभुटिताङ्ग महाभुटित, अट्टाङ्ग,
अट्ट, महाअट्टाङ्ग, महाअट्ट, ऊहाङ्ग, ऊह, महाऊहाङ्ग, महाऊह शीष
प्रहेलिनाङ्ग और शीषप्रहेलिकाको समचना चाहिये । (भा० ६४७१)

कास्योक्तप्रकाशने अनुसार अनुयोगद्वार जम्बूद्वीपप्रशस्ति बगैरह मायुर
वाचनाके अनुगत हैं और ज्योतिष्परण्ड बगैरह बल्मी वाचनाके अनुगत हैं ।
इससे दोनोंकी गणनाओंमें अन्तर है । दिगम्बर ग्रन्थ त० राजवातिकमें
(सू० १४०) पूर्वाङ्ग पूर्ण नयुताङ्ग नयुत कुमुदाङ्ग, कुमुद पद्माङ्ग, पद्म,
नलिनाङ्ग नलिन, कमलाङ्ग, कमल तुल्याङ्ग, तुल्य अट्टाङ्ग, अट्ट अममाङ्ग,
अमम, हुहुभग हुहु लताङ्ग लता महालता प्रभृति सज्ञाए दी हैं ।

१ जम्बूद्वीप प्रशस्तिमें अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है । यथा—'अजुण,
नयुण, प्रयुण ।' सू० ७१ उ० ।

गणितका नियम है। उससे आगे उपमा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है।

इसका आशय यह है कि जैसे लोकमें जो वस्तुएँ सरलतासे गिनी जा सकती हैं, उनकी गणनाकी जाती है। जो वस्तुएँ, जैसे तिर, सरसों वगैरह, गिनी नहीं जा सक्ती, उन्हें तोल या माप वगैरहसे आक लेते हैं। उसी तरह समयकी जो अग्रधि वर्षोंके रूपमें गिनी जा सकती है, उसकी तो गणनाकी जाती है और उसके लिये पूरान्न पूर्ण वगैरह संज्ञाएँ कल्पितकी गई हैं। किन्तु जहाँ समयकी अग्रधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षोंमें नहीं की जा सकती तो उसे उपमाप्रमाणसे द्वारा जाना जाता है। उस उपमा प्रमाणके दो भेद हैं—पन्थोरम और सागरोपम। अनाज वगैरह भरनेके गोलाकार स्थानको पत्य कहते हैं। समयकी जिस लम्बी अग्रधिना उस पत्यको उपमा दी जाती है, वह काल पन्थोरम कहलाता है। पन्थोरमके तीन भेद हैं—उद्धारपन्थोरम, जदापन्थोरम और क्षेत्र-पन्थोरम। इसी प्रकार सागरोपम कालके भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरोपम, जदासागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमेंसे प्रत्येक पन्थोरम और सागरोपम दो प्रकारका होता है—एक जोर और दूसरा सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमशः निम्न प्रकार है—

उत्सेधाहुलके द्वारा निम्न एक योजनप्रमाण लम्बा, एक योजन

१ अक्षुयोगद्वारमें सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं।

२ अक्षुके तीन भेद हैं—आत्माहुल, उत्सेधाहुल और प्रमाणाहुल।

जिस समयमें जिन पुरुषोंके शरीरकी ऊँचाई अपने अक्षुलसे १०८ अक्षुप्रमाण होती है, उन पुरुषोंका अक्षु आमाहुल कहलाता है। इस अक्षुका प्रमाण सर्वदा एकमा नहीं रहता, क्योंकि कालभेदसे मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई घटती बढ़ती रहती है। उत्सेधाहुलका प्रमाण—परमाणु दो प्रकारका होता है—एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहारपरमाणु। अतः निश्चय परमाणुओंका एक व्यवहारपरमाणु होता है। यह व्यवहार-

परमाणु वास्तवमें तो एक रूढ़ ही है, किन्तु व्यवहारमें इसे परमाणु कहते हैं क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्णसे तीक्ष्ण गलके द्वारा इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, तथा आगेक सभी मापोंका इसे मूलकारण कहा गया है । अतः व्यवहार परमाणुओंका एक उत्प्लक्ष्ण इलक्षिणका और आठ उत्प्लक्ष्ण इलक्षिणका का एक श्लक्ष्ण-श्लक्षिणका होती है । (जीरसमाससूत्रमें अतः उत्प्लक्ष्ण० का एक श्लक्ष्ण० बतलाई है किन्तु आगममें अनेक स्थलोंपर इसे अठगुणो ही बतलाया है । छो० प्र०, १ स०, पृ०, २ पृ०) आठ श्लक्ष्ण० का एक उर्ध्वरेणु, ८ उर्ध्वरेणुका १ तसरेणु आठ तसरेणुका १ रथरेणु, (कहीं कहीं 'परमाणु, रथरेणु और तसरेणु' एका क्रम पाया जाता है । (देखो ज्योतिष्क० गा० ७४) किन्तु प्रवचनसा० के व्याख्याकार इस असंगत कहते हैं । यथा—'इह च बहुषु सूत्रादौषु परमाणु रथरेणु तसरेणु' इत्यादिरेव पाठो दृश्यते, स चासंगत एव लक्ष्यते ।' पृ० ४०६ उ०)

आठ रथरेणुका देवकुक्ष और उत्तरकुक्ष क्षत्रके मनुष्यका एक केशाम, उन आठ केशामोंका एक हरिवर्ष और रथ्यक क्षेत्रके मनुष्यका केशाम, उन आठ केशामोंका एक हैमवन और हैरथ्यवत क्षेत्रके मनुष्यका केशाम, उन आठ केशामोंका एक पूर्वापरविदेहके मनुष्यका केशाम, उन आठ केशामोंका एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्योंका केशाम उन आठ केशामोंकी एक लीरा आठ गीउकी एक यूरा (जू) आठ यूकाका एक यवका मध्यभाग और आठ यवमध्यका एक उत्सेधाहुल होता है । तथा, ६ उत्सेधाहुलका एक पाद, दो पादकी एक वितस्ति दो वितस्तिना एक हाथ, चार हाथका एक धनुष दो हजार धनुषना एक गयूत, और चार गयूतका एक योजन होता है । उत्सेधाहुल से अष्टाङ्गुण विस्तार और चार सौ गुणा नम्या प्रमाणाहुल होता है युगके आदिमें भरत

चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पत्थर—गढ़ा जमाना चाहिये जिसकी परिधि कुछ कम ३½ योजन होती है। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके

चक्रवर्तीका जो आत्माहुन था, वही प्रमाणाहुन जानना चाहिये। अनुयोग० पृ० १५६-१७२ प्रवचनसा० पृ० ४०५-८, त्र्यलोक० पृ० १-२। दिगम्बर परम्परामें अहुलोक प्रमाण इसप्रकार बतलाया है—अनन्तानन्त सूक्ष्मपरमाणुओंकी 'एक' उत्सृष्टासृष्टा, आठ उत्सृष्टासृष्टाका एक सृष्टासृष्टा, आठ सृष्टासृष्टाका एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुका एक प्रसरेणु, आठ प्रसरेणु, का एक रथरेणु आठ रथरेणुका उत्तरकुक्ष देवकुक्षके मनुष्यका एक बालाम्र, उन आठ बालाम्रोंका रथ्यक और हरिवर्षके मनुष्यका एक बालाम्र, उन आठ बालाम्रोंका हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यका एक बालाम्र, उन आठ बालाम्रों का भरत, ऐरावत और विदेहके मनुष्यका एक बालाम्र, शेष पूर्ववत्। उससे आहुलसे पाचसौ गुणा प्रमाणाहुन होता है। वही भरत चक्रवर्तीका आत्मा हुल है। त० राजवार्तिक पृ० १४७-१४८।

१ अनुयोगद्वारमें 'एगाहिभ वेआहिभ, तेआहिय आव उवकोसेण सत्तरत्तह्वाण बालमकोडीण' (पृ० १८० पृ०) लिखा है। प्रवचन सारोद्धारमें भी इससे मिलता जुलता ही पाठ है। दोनोंकी टीकामें इसका अर्थ किया है कि मिरके मुझदेने पर एक दिनमें जितने बड़े बाल निकलते ह, वे एकाहिन्य कहलाते हैं, दो दिनके निकले बाल द्वाहाहिन्य, तीन दिनके बाल त्रयाहिन्य, इसी तरह सात दिन तकके उगे हुए बाल लेने चाहिये। त्र्यलोकप्रकाशमें इसके बारेमें लिखा है कि उत्तरकुक्षके मनुष्योंका सिर मुझदेनेपर एकसे सात दिनतकके अन्दर जो केशाप्रराशि उत्पन्न हो वह लेनी चाहिये। उसके आगे पृ० ४ पृ० में लिखा है—

“क्षेत्रसमासवृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रक्षिप्तवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचन सारोद्धारवृत्तिसमग्रहणीरुहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि पुकेनाह्वा द्वाभ्या

महोभ्या यावत्कृपतः सप्तभिरहोभिः प्रहृष्टानि बालाग्राणि इत्यादि सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुरनरबालाग्राणि नोक्ताभीति ज्ञेयम् । 'धीरज्ञय मेहर क्षेत्रविचारसंकम्बोपशृत्तौ तु देवकुरुत्तरकुरुरनवसप्तदिनजातो रणस्योत्सेधाहुलप्रमाण रोम सप्तद्वयोऽष्टखण्डीकरणेन विगतिलक्षसप्त त्रयसिहस्रकशतद्वापञ्चाशत्प्रमितखण्डमात्र प्राप्यतः, तादृशी रोमखण्डैरेव पल्लवो भ्रियत इत्यादिरर्थतः समझाया दृश्यत इति नयम् ।"

अर्थात् छत्रसमासकी पृष्ठदृष्टि और जम्बूद्वीपप्रशस्ति की दृष्टि का यह अभिप्राय है अर्थात् उनमें उत्तरपुरुष मनुष्यके केशाम बतलाये हैं । प्रवचनसा की दृष्टि और सङ्गद्वीपीय पृष्ठदृष्टिमें सामान्यसे सिर पर मुड़ा देने पर एकसे लेकर सात दिनतक के उगे हुए बालों का उल्लेख किया है—उत्तर पुरुषके मनुष्यके बालाग्रों का प्रदूषण नहीं किया है । क्षेत्रविचार की खोपपञ्चाशतिमें लिखा है कि देवपुरुष उत्तरपुरुषमें जन्में सात दिनके मेघ (भिक्ष) के उत्सेधाहुलप्रमाण रोमको लेकर उसके सात बार आठ आठ खण्ड करना चाहिये । अर्थात् उस रोमके आठ खण्ड करके पुनः एक एक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये । उन खण्डोंमेंमें भी प्रत्येक खण्डके आठ आठ खण्ड करने चाहिये । ऐसा करते करते उस रोमके बीस लाख सत्तानवे हजार एकसी बावन २०९७१५२ खण्ड होते हैं । इस प्रकारके खण्डोंसे उस पल्लवको भरना चाहिये ।

जम्बूद्वीपप्रशस्ति (पृ० ७९) में भी 'णगाहिभ वेदिभ तेदिभ उक्को सेण सत्तरत्तपरुत्ताण बालगगकोडीण ही पाठः ॥ । किन्तु दोराकारने उसका अर्थ—'वालेपु अग्राणि श्रेष्ठानि बालाग्राणि कुरुरनररोमाणि तेषां कोटय अनेका कोटीकोटीप्रमुखा सख्या' किया है । जिसका आशय है—

अग्र=प्रथम जो उत्तरपुरुष देवपुरुषके मनुष्योंके बाल, उनकी कोटिकोटि ।

टीकाकारने बालसामान्यसे पुरुषभूमिके मनुष्योंके बालों का प्रदूषण

उगे हुए बालाग्रोंसे उस पत्यमो इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जलमा ही उसमें प्रवेश हो सके । उस पत्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाय । इस तरह करते करते जितने समयमें यह पत्य खाली हो, उस कालका बादर उद्धार पत्योपम कहते हैं । दस कोगेमोटी बादर उद्धार पत्योपमका एक बादर उद्धार सागरोपम होता है । इन बादर उद्धारपत्योपम और बादर उद्धार सागरोपमका केवल इतना ही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपत्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरन्तामे समझमें आ जाते हैं ।

बादर उद्धारपत्यके एक एक केशाग्रके अपनी जुद्धिके द्वारा असख्यात असख्यात दुग्धे करना चाहिये । द्रव्यसी अपेक्षासे ये दुग्धे इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विगुद्ध औरोंवाला पुरुष अपनी आँखसे चितने सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यमो देखता है, उसके भी असख्यातमें भाग होते हैं । तथा

किया है । दिगम्बर साहित्यमें 'पृष्ठादिससाहोरात्रिजाताविचालाग्राणि' लिखकर 'एक दिनसे सात दिनतकके जन्मे हुए मेपरे बालाग्र ही लिये हैं ।

१ इसके बारेमें द्रव्यलोकप्रकाश (१ सर्ग) में इतना और भी लिखा है—

“तथा च धक्किमैग्वेन तमाश्रम्य प्रसर्पता ।

न मनाक् क्रियसे मीचैरेव निरिदतागतात् ॥ ८१ ॥”

अर्थात्—‘वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्कवर्तीसी सेना उनपरसे निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हों सके ।’

२ “अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्म सुबोधमबुचैरपि ।

अतो निरूपित नान्यकिञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥ ८२ ॥”

द्रव्यलोक० (१ सर्ग)

क्षेत्रमा अपातमे सूक्ष्म पनैः जायता शरीर जितने क्षेत्रमा राखता है, उमंगे जसरयातगुणा अगगाहनागले होते हैं । इन केगाग्रोरा पहलमा हा तरह पथमें ठसाम्म भर देना चाहिये । पहले हीरी तरह प्रति समय कशाग्रके एक एक खण्डो निमालो पर सख्यात करोड़ यममें वह पल्य खाली हाता है । अत इस कालमा सूक्ष्म उद्धारपन्थायम कहते हैं । दस कोगीकोगी सूक्ष्म उद्धारपन्थाका एक सूक्ष्म उद्धारसागरापम हाता है । इन सूक्ष्म उद्धारपन्थायम और सूक्ष्म उद्धारसागरापमसे द्वीप और समुद्रोरी गणनाकी जाता है । अंदाज सूक्ष्म उद्धारसागरापमके अथवा पचीस कोगी-कोगी सूक्ष्म उद्धारपन्थायम जितने समय हाते हैं, उतन ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये । पूर्वोक्त बादर उद्धारपन्थास सौ सौ बपरु बाद एक एक कशाग्र निमालोपर जितने समयम यह पल्य खाली होता है, उतने समयमा बादर अद्धा पन्थापमनाल कहते हैं । दस कोगीकोगी बादर अद्धा पन्थापमनालेका एक बादर अद्धा सागरापमनाल हाता है । तथा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपन्थामेंसे सौ सौ बपरु बाद कशाग्रका एक एक खण्ड निमालने पर जितने समयमें यह पल्य खाली हाता है, उतने समयको सूक्ष्म अद्धा

१ इसका विज्ञापवद्वकभाष्यकी कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ० ११०) में वनस्पतिविशेष अर्थ किया है । प्रवचनसारोद्धारकी टीकामें (पृ० ३०३) लिखा है कि वृद्धोंने बादर पद्यातक पृथिवीकायके शरीरके बरामर उसकी अगगाहना बतलाइ है । यथा—“वृद्धास्तु ब्राचक्षते—बादरपर्याप्तपृथिवीकाम शरीरतुल्यमिति । तथा चानुयोगद्वारमूलटीकाकृदाह हरिभद्रसुरि—“बादर पृथिवीकाधिकपर्याप्तशरीरतु—या मसत्यवरणप्रानि” इति वृद्धवाद ।”

२ ‘एहि सुक्ष्मउद्धारपलिओवमसागरोरमेहि कि पओभण ? एहि सुक्ष्मउद्धारपलिओवमसागरोरमेहि दीवसमुदाण उद्धारो वेप्पह ।

॥ अत । दीवसमुदा जावइआण अद्धाहज्जाण उद्धारसाग

पल्पोपमकाल कहते हैं । दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्वा पल्पापमका एक सूक्ष्म अद्वा सागरोपमकाल होता है । दस कोटीकोटी सूक्ष्म अद्वा सागरोपमकी एक अबसर्पिणी और उतनेकी ही एक उत्सर्पिणी होता है । इन सूक्ष्म अद्वापल्पोपम और सूक्ष्म अद्वासागरोपमके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारफाकी प्रायु, कर्मोंकी स्थिति बगैरह जानी जाती है ।

पहलेकी ही तरह एक योजन लम्ब चौड़े और गहरे गडमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके उगे हुए बालाके जत्र भागको पहले कोहो तरह ठसाठस भर दो । वे अत्रमाग आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें, उनमेंसे प्रति समय एक एक प्रदेशका अपहरण करते करते बितौ समयमें समस्त प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको बादर क्षेत्र पल्पापम काल कहते हैं । यह काल असख्यात उत्सर्पिणी और असख्यात अबसर्पिणीकालके बराबर होता है । दस कोटीकोटी बादरक्षेत्र पल्पापमका एक बादरक्षेत्र सागरोपम काल होता है ।

बादरक्षेत्र पल्पाके बालाग्रामेंसे प्रत्येकके असख्यात स्रष्ट करके उन्हें उसी पल्पामें पहले ही की तरह भर दो । उस पल्पामें वे स्रष्ट आकाशके जिन प्रदेशोंको स्पर्श करें और जिन प्रदेशोंको स्पर्श न करें, उनमसे प्रति

१ ण्हि सुहुमेहि अद्वाप० सागरोवमेहि किं पभोभण ? ण्हि सुहुमेहि अद्वाप० सागरो० नेरहभतिरिक्खजोगिअमणुस्सदेवाण आडभ मविज्जह । अनुयोग० सू० १३८ पृ० १८३ ।

२ यही एक शब्दा उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रामेंसे स्रष्ट और अस्रष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जात हैं तो बालाग्रामका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इस शब्दा और उसके समाधानका चित्रण अनुयोगद्वाराकी टीकामें इस प्रकार किया है—

“आह—यदि स्रष्टा अस्रष्टाश्च नम प्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि बालाग्रै किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्पात्तर्गतनमप्रदेशापहारमात्रत सामान्येनैव

समय ए० एक प्रदेशका अपहरण करते करते जितने समयमें सृष्ट और अस्तृष्ट सभी प्रदेशोंका अपहरण किया जा सके, उतने समयको एक सू०म धनपत्न्यापम काल कहते हैं। दस कोरी कोरी सू०म क्षेत्र पत्न्यापम का एक सू०म क्षेत्र सागरापम होता है। इन सू०म क्षेत्र पत्न्योपम और सू०म धन सागरापम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का निवार किया जाता है।

इस प्रकार पत्न्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।

वस्तुमुचितत्वात्। सत्यं किन्तु प्रस्तुतपरयोपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि भीयते तानि च कानिचित् दयोक्तवालाप्रस्तृष्टैरेव नभ प्रदेशैर्भीयते कानिचिदस्तृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगि शब्दं बालाप्रस्तृष्टणाडन प्रयोजनवतीति ।” पृ० १९३ पृ० १।

वाक्या-यदि आकाशके सृष्ट और अस्तृष्ट प्रदेशोंका ग्रहण करना है तो बालाप्रोका कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि उस दशामें पूर्वोक्त पदोंके अन्तर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

समाधान-आपका कहना ठीक है, किन्तु प्रस्तुत पत्न्योपमसे दृष्टिवादमें द्रव्यों के प्रमाणका निवार किया जाता है। उनमेंसे कुछ द्रव्योंका प्रमाण तो उक्त बालाप्रोसे सृष्ट आकाशके प्रदेशोंके द्वारा ही मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाशके अस्तृष्ट प्रदेशोंसे मापा जाता है। अ० दृष्टिवादमें वर्णित द्रव्योंके मानमें उपयोगी होनेके कारण बालाप्रोका निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है।

१ एण्हि सुहुमेहि रोत्तप० सागतोवमेहि हिं पओअण १ एण्हि सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाण दप्पवा मविज्जति ।’ अनुयोग० सू० १४० । पृ० १९३ पृ० १।

२ दिगम्बर साहित्यमें पत्न्योपमका जो वर्णन मिलता है वह उक्त वर्णन

से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्र पत्थोपम नामका कोई भेद नहीं है और न प्रत्येक पत्थोपमके बादर और सूक्ष्म भेद हा मिले हैं। संक्षेपमें पत्थोपमका वर्णन इस प्रकार है—

पत्थ तीन प्रकारका होता है—व्यवहारपत्थ, उद्धारपत्थ और अद्धारपत्थ। ये तीनों नाम सार्थक हैं—शेष दो पर्योंके व्यवहारका मूल होनेके कारण पहले पत्थको व्यवहारपत्थ कहते हैं। अर्थात् व्यवहारपत्थका केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपत्थ और अद्धारपत्थकी सृष्टि होती है, इसके द्वारा कुछ मापा नहीं जाता। उद्धारपत्थसे उद्भूत रोमोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी सन्ध्या जानी जाती है, इसलिये उसे उद्धारपत्थ कहते हैं। और अद्धारपत्थके द्वारा जीवोंकी आयु चगैरह जाना जाती है इसलिये उसे अद्धारपत्थ कहते हैं। इनका प्रमाण निम्न प्रकार है—

प्रमाणाहुलसे निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन गड बनाओ। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके मेपके रोमरु अप्रमाणोंको बैचीसे फाट फाट कर इतने छोटे छोटे खण्ड करो कि फिर वे बैचीसे न काटे जा सकें। इस प्रकारके रोम खण्डोंसे पहले पत्थको खूब ठसाठस भर देना चाहिये। उस पत्थको व्यवहारपत्थ कहते हैं। उस व्यवहारपत्थसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पत्थ खाली हो उसे व्यवहारपत्थोपम कहते हैं। व्यवहारपत्थके एक एक रोमखण्डके कल्पनाके द्वारा उतने खण्ड करो जितने असप्त्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। और वे सत्र रोमखण्ड दूसरे पत्थमें भर दो। उसे उद्धारपत्थ कहते हैं। उस पत्थमें से प्रतिसमय एक एक खण्ड निकालते निकालते जितने समयमें वह पत्थ खाली हो, उसे उद्धार पत्थोपमकाल कहते हैं। दस कोटीकोटी उद्धारपत्थोपमका एक उद्धार सागरोपम होता है। अर्थात् उद्धार सागरमें जितने रोमखण्ड होते हैं उतने

सास्त्रादन आदि गुणस्थानात्मा उत्पद्यन्तर कुल धर्म अथ पुद्गल परावत बतलाया है । अतः नीचे गाथाओंके द्वारा पुद्गल परावर्तका वर्णन करत हुए पहल उसके भेद और परिमाणको कहते हैं—

देखे खिचे काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।

होह अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरदो ॥ ८६ ॥

अर्थ—पुद्गल परावतके चार भेद हैं—द्रव्य पुद्गल परावत, क्षण पुद्गल परावत, काल पुद्गल परावत, और भाव पुद्गल परावत । इन्हीं से प्रत्येक दो दो भेद होते हैं—चादर और सूत्र । यह पुद्गल परावत अनन्त उत्सारिणी और अनन्त अवसरिणी कालसे बराबर होता है ।

ही द्वीप और समुद्र जानने चाहिये ।

अद्यापक्यके रोमखण्डोंमेंसे प्रत्येक रोमखण्डके बलनाके द्वारा पुनः उतने खण्ड करो जितने सौ वर्ष के समय होते हैं । और उन खण्डों को तीसरे पर्यमें भरदो । उसे अद्यापक्योपम कहते हैं । उनमेंसे प्रति समय एक एक रोमखण्ड निकालते निकालते जितने कालमें वह पल्प खाली हो, उस अद्यापक्योपम कहते हैं । दस कोटी कोणी अद्यापक्यों का एक अद्यासागर होता है । दस कोटी अद्यासागर की एक उत्सारिणी और उतने ही की एक अवसरिणी होती है । इस अद्यापक्यसे नारक, तिर्यग, मनुष्य और देवों की धर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है ।

सर्वायसिद्धि पृ० १३२ त० राजवार्तिक पृ० १४८ त्रिलोकसार भा० ९३-१०२ ।

१ पञ्चमग्रहमें भी पुद्गलपरावतके चार भेद और उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद बतलाये हैं—

‘पोरगल परिपट्टो इह दग्धाह चउविहो मुणेयव्वो ।

एकको पुण हुविहो बायरसुहुमसभेण ॥ ७१ ॥

भावार्थ—इस गाथामें पुद्गलपरावर्तके भेद और पुद्गल-परावर्तकाल का प्रमाण सामान्यसे उतलाया है। एक पुद्गलपरावर्तकाल-में अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी गीत जाती हैं। इन परावर्तों का स्वरूप आगे उतलाते हैं।

पहले बादर और सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप कहते हैं—

उरलाहसत्तणेण एगजिउ सुयड फुसिय सव्वअणू ।

जात्तियकालि म थूलो दब्बे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

अर्थ—जितने कालमें एक जान समस्तलोभम रहनेवाले समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वगणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालका बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और जितने कालम समस्त परमाणुओंको औदारिक शरीर आदि सात वगणाआमे से किसी एक वगणारूपसे ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने कालका सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

भावार्थ—गाथा ७५ ७६ के व्याख्यानमें बतला आया है कि यह लोक अनेक प्रकारकी पुद्गलपरावर्तोंसे भरा हुआ है। तथा, यहीपर उन वगणाओंका स्वरूप भी उतला आया है। उन वगणाआम आठ वगणाएँ ग्रहणयोग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवोंके द्वारा ग्रहणी जाया है, जीव उन्हें ग्रहण करके

१ द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप पञ्चसद्वहमे निम्नप्रकारसे बतलाया है—

‘ससारम्मि अहतो, जाव य कालेण फुसिय सव्वअणू ।

इयु जीव सुयड यावर, अन्नयरत्तणुट्ठिमो सुहुमो ॥ ७२ ॥”

अर्थ—ससारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव, जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़देता है, उतने कालको बादर पुद्गलपरावर्त कहते हैं। और किसी एक शरीरके द्वारा जब समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है तो उसे सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उत्तरे अग्ना शरीर, वचन, मन धौरहकी रचना करता है। वे वर्गणाएँ हैं—
 औदारिकग्रहणयोग्य वर्गणा, वैत्रियग्रहणयोग्य वर्गणा, आहारक ग्रहणयोग्य
 वर्गणा, तैजसग्रहणयोग्य वर्गणा, मायाग्रहणयोग्य वर्गणा, आनप्राणग्रहण
 योग्य वर्गणा, मनाग्रहणयोग्य वर्गणा और कामग्रहणयोग्य वर्गणा। जितने
 समयम एक जीव समस्त परमाणुओंका अपने औदारिक, वैत्रिय, तैजस,
 माया, आनप्राण, मन और कामग्रहणशरीररूप परिणमाकर उन्हें भोगनर छोड़
 देता है उसे बादर द्रव्यपुद्गलपरावत कहते हैं। यही आहारक शरीरको
 छोड़ दिया है, क्योंकि आहारकशरीर एक जीवके अधिरसे अधिक बार बार
 ही हो सकता है। अतः वह पुद्गलपरावतक लिय उपयोगी नहीं है।

तथा, जितने समयमें समस्त परमाणुओंको औदारिक आदि सात
 वर्गणाभामसे किसी एक वर्गणारूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़
 देता है, उतने समयका सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावत कहते हैं। आशय
 यह है कि बादर द्रव्य पुद्गलपरावतमें तो समस्तपरमाणुभाना सातरूपसे
 भाग कर छोड़ता है और सूक्ष्ममें उन्हें केवल किसी एक रूपसे ग्रहण करके
 छोड़ देता है। यैहा इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त
 परमाणुओंका एक औदारिकशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ
 परमाणुआका वैत्रिय आदि शरीररूप ग्रहण करके छोड़दे, या समस्त पर-
 माणुओंका वैत्रियशरीररूप परिणमाते समय मध्य मध्यमें कुछ परमाणुआको

१ 'आहारकशरीर चोद्दृष्टोऽप्यकजीवस्य चारचतुष्टयमेव सम्भ-
 वति, ततस्तस्य पुद्गलपरावतं प्रत्यनुपयोगात् ग्रहणं कृतमिति ॥'

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

१ 'एतस्मिन् मूमे द्रव्यपुद्गलपरावतं विवक्षितैकशरीरव्यति-
 रेकणाम्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परिभ्यन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु
 प्रमूने यि काले गते सति ये न विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्त त-
 एव गण्यन्ते।' प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०।

जीदारिक आदि शरीररूपसे ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते । जिस शरीररूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीररूप जो पुद्गलपरमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उर्द्धाग्न सूक्ष्ममें ग्रहण किया जाता है ।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तके बारेमें एक दूसरा मत भी है जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गलपरमाणुआमों औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कामण, इन चार शरीररूप ग्रहण करके छोड़ देनेमें जितना काल लगता है, उसे यादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं । और समस्त पुद्गलपरमाणुआमों उक्त चारों शरीररूपोंमेंसे किसी एक शरीररूप परिणमा कर छोड़ देनेमें जितना काल लगता है उतने कालको सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त कहते हैं ।

द्रव्यपुद्गल परावर्तका स्वरूप बतलाकर अब शेष तीन पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप बतलाते हैं—

लोगपण्मोमप्पिणिममया अणुभागवधठाणा य ।

जह तह कममरणेण पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अर्थ—एक जीव अपने मरणके द्वारा लोकाकाशके समस्त प्रदेशाको

१ “अहव इमो दग्धाइ भोराळविठम्भतेयकम्महि ।

भीसेसदग्गहणमि वायरो होइ परिघट्टे ॥ ४१ ॥”

प्रवचन० पृ० ३०७ उ० ।

“एके ॥ आधाय। एव द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूप प्रतिपादयन्ति—
समाहि, यदैका जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजस-
शरीरकामणशरीरचतुष्टयरूपतया ययास्व सकललोकवर्तिन सर्वान्
पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा यादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति ।
यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान्
परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न शृङ्खन्ते एव तदा
सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति” । प०कर्म० स्वोपन टी०पृ० १०३ ।

क्रमसे या बिना क्रमके, जैसे बने तैसे, जितने समयमें स्पष्ट कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरायत कहते हैं । एक जीव अपने मरणके द्वारा, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको, क्रमसे या बिना क्रमके जितने समयमें स्पष्ट कर लेता है, उसे बादर कालपुद्गलपरायत कहते हैं । तथा, एक जीव अपने मरणके द्वारा, क्रमसे या बिना क्रमके, अनुभागवध-के कारणभूत समस्त कषायस्थानोंका जितने समयमें स्पष्ट कर लेता है उसे बादर भागपुद्गलपरायत कहते हैं । और एक जीव अपने मरणके द्वारा लानाकागके प्रदेशोंका, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समयोंको, तथा अनुभागवधके कारणभूत कषायस्थानोंको क्रमसे जितने जितने समयमें स्पष्ट करता है, उन्हें क्रमशः सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरायत, सूक्ष्मकाल पुद्गलपरायत और सूक्ष्मभाव पुद्गलपरायत कहते हैं । अर्थात् उक्त तीनों—प्रदेश, समय और कषायस्थानका—यदि क्रमसे स्पष्ट करता है तो बादर पुद्गलपरायत होता है और यदि क्रमसे स्पष्ट करता है तो सूक्ष्म पुद्गलपरायत होता है ।

भावार्थ—इस गायाम बाकीके तीनों पुद्गलपरायतोंने दोनों प्रकारोंका स्वरूप बताया है, जिसका सुलभा इस प्रकार है—

कोई एक जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरा, वहां जीव, पुनः आकाशके किसी दूसरे प्रदेशमें मरा, फिर तीसरेमें मरा, इस प्रकार जब वह लानाकागके समस्त प्रदेशोंमें मर चुकता है तो उतने कालका बादर क्षेत्रपुद्गलपरायत कहते हैं । तथा कोई जीव भ्रमण करता करता, आकाशके किसी एक प्रदेशमें मरण करके पुनः उस प्रदेशके समीपवर्ती दूसरे प्रदेशमें मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेशमें मरण करता है । इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशोंमें मरण करता करता जब समस्त लानाकागके प्रदेशोंमें मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरायत होता है । इन दोनों क्षेत्रपुद्गलपरायतोंमें केवल इतनाही

अन्तर है कि बादरमें तो क्रमका विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यग्रहित प्रदेशमें मरण करनेपर भी यदि वह प्रदेश पूर्वस्थ नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहा क्रमसे या बिना क्रमके समस्त प्रदेशोंमें मरणकर लेना ही पयात समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्ममें समस्त प्रदेशोंमें क्रमसे ही मरण करना चाहिये। अनमसे जिन प्रदेशोंमें मरण होता है उनकी गणना नहींही जाती। इससे स्पष्ट है कि पहलेमें दूसरेमें समय अधिक लगता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलरूपतके सम्बन्धमें एक घात और भी शान्त्य है। यह यह कि एक जीवसी जन्य जनगाहना लोकके असख्यातरें भाग बतलाइ है। अतः यत्रपि एक जीव लोकानाशके एक प्रदेशमें नहीं रह सकता, तथापि किसी देशमें मरण करनेपर उस देशका कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस निश्चित प्रदेशसे दूरवर्ती किहीं प्रदेशोंमें मरण करता है तो वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब कभी निश्चित प्रदेशके अनन्तर जो प्रदेश है, उसीमें मरण करता है, तो वह गणनामें लिया जाता है। जिहीं निन्दाना मत है कि लोकानाशके जिन प्रदेशोंमें मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती काइ विनिश्चित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता।

जितने समयमें एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमवार या बिना क्रमके मरण कर चुकता है, उतने कालको बादर काल पुद्गलरूपत कहते हैं। तथा, काइ एक जीव किसी निश्चित अवसर्पिणी कालके पहले समयमें मरा, पुन उनके दूसरे समयमें मरा, पुन तीसरे समयमें मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जब मरण कर चुकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलरूपत कहते

१ "अन्ये तु व्याचक्षते-यथाकाशप्रदेशेऽप्यगादो जीवा मृतस्त सर्वे ऽपि आकाशप्रदेशा गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षित कश्चिदक ण्वाकाशप्रदेश इति ॥" प्रवचन० टी०, पृ० २०९ उ०।

हैं। यद्वा भी समयोंकी गणना क्षेत्रकी तरह प्रथमवार ही की जाती है, व्यवहितरी गणना नहीं की जाती। जाशय यह है कि कोई जीव अवसर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोटीसोटी यागारके बीत जानेपर जब पुनः अवसर्पिणीकाल प्रारम्भ हो उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समयमें मरे तो यह द्वितीय समय गणनामें लिया जाता है। मध्यके क्षेत्र समयोंमें उसकी मृत्यु होनेपर भी वे गणनामें नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उस अवसर्पिणीके द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त न हो, किन्तु अग्न्य समयमें मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बीतनेपर भी जब कभी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें ही मरता है, तब उस समयका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें मरण करके जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें मरण कर चुकता है, उस कालको सूत्रम कालपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

तत्तम मेदकी लिय हुए अनुभागबन्धस्थान असख्यात क्षेत्राका-के प्रदेशोंकी सख्याके बराबर हैं। उन अनुभागबन्धस्थानोंमेंसे एक एक अनुभागबन्धस्थानमें प्रमत्ते या अत्रमत्ते मरण करते करते जीव जितने समयमें समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरण कर चुकता है, उतने समयको बादर भावपुद्गलपरावर्त कहते हैं। तथा, सबने जराय अनुभागबन्धस्थानमें यतमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरा। इसप्रकार क्रमसे जब समस्त अनुभागबन्धस्थानोंमें मरणकर लेता है तो सूत्रम भावपुद्गलपरावर्त कहाता है। यद्वा पर भी कोई जीव सबसे जराय अनुभागस्थानमें मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जानेपर भी जब प्रथम अनुभागस्थानके अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें मरण करता है, तभी वह मरण गणनामें लिया जाता

है। किन्तु अन्तमसे होनेवाले अनन्तानन्त मरण भी गणनामें नहीं लिये जाते। इसी तरह कालान्तरमें द्वितीय अनुभागवधस्थानके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागवधस्थानमें जत्र मरण करता है तो वह मरण गणनामें लिया जाता है। इसप्रकार बादर और सक्षम पुद्गलपरावर्तोंका स्वरूप जानना चाहिये।

जैन शास्त्रायमें द्रव्य, क्षेत्र, फल और भावना बड़ा महत्त्व है। किसी भा विषयकी चचा तत्र तत्र पृथ नहीं समझी जाती, जत्र तत्र उसमें उस निषयका घणन द्रव्य, क्षेत्र बगैरहकी अपेक्षासे न किया गया हो। यहां परिवर्तन का प्रकरण है। परिवर्तन अथ होता है—परिणमन अथात् उल्टपैर, रहोनदल इत्यादि। कहावत प्रसिद्ध है कि यह ससार परिवर्तन या परिणमन क्षीण है। उसी परिवर्तन या परिवर्तनका घणन यहां द्रव्य, क्षेत्र, फल और भावकी अपेक्षासे किया है। द्रव्यसे यहां पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया है, क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्तनके साथ ही पुद्गल शब्द लगा हुआ है, और उसके ही द्रव्यपुद्गलपरिवर्तन बगैरह चार भेद उत्पन्न हैं। दूसरे जीवके परिवर्तन या ससारपरिभ्रमणका कारण एक तरहसे पुद्गल द्रव्य ही है, ससारदशामें उसके बिना जीव रह ही नहीं सकता। अस्तु, उस पुद्गलका सबसे छोटा अणु परमाणु ही यहां द्रव्य-

१ पञ्चमङ्गलमें भी क्षेत्र, फल और भाव पुद्गलपरावर्तका स्वरूप तीन गाथाओंसे इसी प्रकार बतलाया है। गाथाएँ निम्न हैं—

“लोगस्स पप्पेसु अणतरपरपराविमत्तीहि ।

क्षेत्तम्मि वायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स ॥ ७३ ॥

उत्सप्पिणिममप्पु अणतरपरपराविमत्तीहि ।

काटम्मि वायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स ॥ ७४ ॥

अणुमागट्ठाणेषु अणतरपरपराविमत्तीहि ।

भावमि वायरो सो सुहुमो सन्वेसुष्णकमसो ॥ ७५ ॥”

पदसे अभाष्ट है। (वह परमाणु आकाशका बिनागे भागमें समाता है उसे प्रदेश कहते हैं)। और (वह प्रदेश धन अथवा लोकाकाशका हा, क्योंकि जीव आकाशमही रहता है, एक अंश है)। पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशसे उसीके समापनकी दूसरे प्रदेशमें जाने समयमें पहुँचता है, उसे समन कहते हैं)। यह कालका सबसे छाया हिस्सा है। भावसे यहाँ अनु भागान्तरके कारणभूत जीवके कणायस्थ भाव नियमित हैं। इही द्रव्य, धन, काल और भावके परिवर्तनको छन्दस् चार परिवर्तनाक्षी कल्पनाकी गई है। जब जीव पुद्गलका एक एक परमाणुका करके समस्त परमाणुआका भोग होता है तो यह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहलाता है। जब आकाशके एक एक प्रदेशमें मरण करके समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गलरायत कहाता है। इसी प्रकार आग भी जानना चाहिये। वास्तवमें जब जीव अनादिकात्से इस ससारमें परिभ्रमण कर रहा है, तो जब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है जिसे इसने न भोगा हो, आकाशका एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कणायस्थान बाका नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कणायस्थानोंका यह जीव अनेक बार अपना चुना है। उसीको दृष्टिमें रखकर द्रव्य पुद्गल-परावर्त जादि नामासे कालका विभाग कर दिया है। जो पुद्गलपरावर्त जितने कालमें होता है उतने कालके प्रमाणको उस पुद्गल परावर्तके नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गलपरावर्तनके सिवाय अन्य किसी भी परावर्तमें पुद्गलका परावर्तन नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र पुद्गलपरावर्त-म क्षेत्रका, काल पुद्गलपरावर्तम कालका और भाव पुद्गलपरावर्तमें भावका परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गलपरावर्तका काल जनत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और

भाव परावर्तन काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तनों की भी पुद्गलपरावत सज्ञा रख दी है ।

१ "पुद्गलानां परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवर्तितकरीररूपतया वा सामस्येन परावर्तनपरिणमनं यावति काले स तावान् कालं पुद्गलपरावत । इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्यसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणी मानस्वरूपं दृश्यते । तेन क्षेत्रपुद्गलपरावतादौ पुद्गलपरावतताभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तनशब्दः प्रवर्तमानो न विरह्यते ।"

प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ० ।

२ दिग्भ्रमसाक्षित्य में ये परावर्तन पञ्चपरिवर्तनके नामसे प्रसिद्ध हैं । उनके नाम क्रमशः द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन हैं । द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन । इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

नोकर्मद्रव्यप०—एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया और दूसरे आदि समयोंमें उनकी निर्जरा कर दी । उसके बाद अन्तःकार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके, अनन्त कार मिश्र पुद्गलोंको ग्रहण करके और अन्तःकार ग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया । इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समयमें ग्रहण किये थे, उन्हीं भावोंसे उत्तने ही रूप, रस गन्ध और स्पर्शसे लेकर जब उसी जीवके द्वारा पुनः नोकर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं तो उत्तने कालके परिमाण को नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं ।

कर्मद्रव्यप०—इसी प्रकार एक जीवने एक समय में आठ स्पर्श होनेके योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय

आवर्तीके बाद उनकी निर्जरा बरदी । पूर्वोक्त क्रममे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे जब उसी जीवके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने कालको धर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं । येकमद्रव्यपरिवर्तन और धर्मद्रव्यपरिवर्तनको मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन होता है, और दोनोंमें से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं ।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जटिल अवगाहनाका धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव लोन्ग आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया । वही जीव उसी अवगाहनाको लेकर वहाँ दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार घनाहुत्के असंख्यतरे भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहनाको लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया । उसके बाद एक एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते जब समस्त लोक काशके प्रदेशोंको अपना जन्मोत्पत्ति बना लेता है, तो उतने कालको एक क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं ।

कालपरिवर्तन—एक जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया । वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी होजानेके बाद मर गया । वही जीव तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया । इस प्रकार वह उत्सर्पिणीकालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंमें उत्पन्न हुआ । उत्पत्तिकी तरह मृत्युका भी क्रम पूरा किया । अर्थात् पहली उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें मरा, दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें मरा । इसी तरह पहली अवसर्पिणीके पहले समय में मरा दूसरी अवसर्पिणीके दूसरे समयमें मरा । इस प्रकार जितने समयमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके समस्त समयोंको अपने जन्म और मृत्युते स्पष्ट कर लेता है, उता समयका नाम कालपरिवर्तन है ।

भवपरिवर्तन—नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। कोई जीव उतनी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। मरनेके बाद नरकमें निकलकर पुन उसी आयुको लेकर दुबारा नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार दसहजार वर्षमें जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर दो समय अधिक दसहजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते नरक गतिकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यगगतिकी लिया। तिर्यगगतिमें अतमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयुको लेकर पुन तिर्यगगतिमें उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अतमुहूर्तमें जितने समय होते हैं, उतनी बार अतमुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। उसके बाद पूर्वाक्ष प्रकारसे एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते तिर्यगगति की उत्कृष्ट आयु तीन पद्म पूरी की। तिर्यगगतिकी ही तरह मनुष्यगतिका काल पूरा किया और नरक गतिकी तरह देवगतिरा काल पूरा किया। देव गतिमें केवल इतना अन्तर है कि ३१ सागरकी आयु पूरी करने पर ही मनु परिवर्तन पूरा हो जाता है, क्योंकि ३१ सागरसे अधिक आयुवाले देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होते हैं, और वे एक या दो मनुष्य भवधारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गतिकी आयुको भोगनेमें जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन—जमोंकी एक एक स्थितिवन्धके कारण असंख्यात लोक प्रमाण कपायाध्यवसायस्थान हैं। और एक एक कपायस्थानके कारण असंख्यातलोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान हैं। किसी पञ्चेन्द्रिय सत्ती पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीवने ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटोकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिवन्ध किया। उससे उस समय सनस जघन्य कपायस्थान

विस्तारसे पुद्गल परावतना स्वरूप बतलाकर, अब सामान्यसे उत्कृष्ट प्रदेशान्ध और जघन्य प्रदेशान्धके स्वामिका बतलाते हैं—

अप्पयरपयडिबधी उवडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।

कुडइ पएसुकोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

और सनत जघन्य अनुभागस्थान तथा सबस जघन्य योगस्थान था । दूसरे समयमें वही स्थितिबन्ध वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा, किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बरका हो गया । इस प्रकार उसी स्थितिबन्ध, कषायस्थान और अनुभागस्थानके साथ धेणिके असंख्यातवै भाग प्रमाण समस्त योगस्थानोंको पूर्ण किया । योगस्थानोंकी समाप्तिके बाद स्थितिबन्ध और कषायस्थान सो वही रहा किन्तु अनुभाग स्थान दूसरा बदल गया । उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये । इस प्रकार अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होने पर उसी स्थितिबन्धके साथ दूसरा कषायस्थान हुआ । उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये । पुन तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभाग स्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये । इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जानेपर उस जीवने एक समय अधिक अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध किया । उसके भी कषायस्थान अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूरा किये । इस प्रकार एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते शाना वरणकी तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति पूरी की । इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों को स्थिति पूरी कर लाता है तब उतने कालको मावपरिवर्तन कहते हैं ।

इन सभी परिवर्तनोंमें क्रमका ध्यान रखा गया है । अक्रमसे जो क्रिया होती है वह गगनार्ध नहीं ली जाती । अर्थात् सूक्ष्म पुद्गलपरिवर्तनोंमें जो व्यवस्था है वही व्यवस्था वही भी समझना चाहिये ।

अर्थ—थोड़ी प्रकृतियोंका बाधनेवाला, उत्कृष्ट योगका धारक, पर्याप्त सही जीव उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। और उससे विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियोंका बाध करनेवाला, जघन्य योगका धारक, अपर्याप्त असही जीव जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

भावार्थ—इस गौणाम यद्यपि उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामीना निदर्श किया है, किन्तु उनमें जिन जिन बातोंका होना आवश्यक बतलाया है, उनसे उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेश बन्धकी सामग्रीपर प्रकाश पड़ता है। उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कर्ताके लिये चार बातें आवश्यक बतलाई हैं—एक तो यह थोड़ी प्रकृतियोंका बाधनेवाला होना चाहिये, क्योंकि पहले कर्मोंके बटवारेमें लिप्त आय है कि एक समयमें जितने पुद्गलोंका बाध होता है, वे उन सब प्रकृतियोंमें विभाजित हो जाते हैं, जो उस समय बधती हैं। अत यदि बधनेवाली प्रकृतियोंकी सख्या अधिक होती है तो बटवारेमें प्रत्येकको थोड़े थोड़े दलिक मिलते हैं और यदि उनकी सख्या कम होती है तो बटवारेमें अधिक अधिक दलिक मिलते हैं। तथा, जैसे अधिक द्रव्यकी प्राप्तिके लिये भागीदारोंका कम होना आवश्यक है वैसेही अधिक आयका होना भी आवश्यक है। इसीलिए दूसरी आवश्यक बात यह बतलाई है कि उत्कृष्ट प्रदेशबन्धना कता उत्कृष्ट योगवाला भी होना चाहिये, क्योंकि प्रदेशबन्धना कारण याग है और योग यदि तीन होता है तो अधिक सख्यामें कर्मदलिकाका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और यदि मन्द होता है तो कर्मदलिकाकी सख्याम भी कमी रहती है। अत उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके लिय उत्कृष्ट योगका होना आवश्यक है। तीसरी आवश्यक बात यह है कि उत्कृष्ट प्रदेश बन्धना कता पर्याप्त होना चाहिये,

१ इस गायत्रीकी तुलना करो—

‘अप्यतरपगाह्यन्धे उहङ्जोगी उ सत्तिपञ्चचो ।

हुणइ पणसुक्कोस जहन्नय तस्स वचासे ॥ २९८ ॥’ पञ्चस० ।

किन्तु बड़ा उत्कृष्ट प्रदेशबन्धन कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता । अतः दोष गुणस्थानामें आयुष्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है ।

मोहनाय कमना उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सास्वादन और मिथ गुणस्थानके सियाय मिथ्यादृष्टि, अविरत, देगविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूजकरण और अनितृप्तिस्मरण, इन सात गुणस्थानोंमें बतलाया है । सास्वादन और मिथ

इस प्रकारका प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारणसे सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता । तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रवृत्तियोंका सूक्ष्मसाम्प्रदाय गुणस्थानोंमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाने दोष प्रवृत्तियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बगैरह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें बतलायेंगे । इससे भी पता चलता है कि सास्वादनमें उत्कृष्ट योग नहीं होता । इस प्रकार सास्वादनमें उत्कृष्ट योगका अभाव बतलाकर लिखा है-- 'अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्ट प्रदेशस्यामिन् मिच्छन्ति तमसमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।' अर्थात् 'इस लिये जो सास्वादनको भी आयुर्कर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी कहते हैं, उनका मत खोपे गाने योग्य है ।' इससे पता चलता है कि कोई कोई आचार्य सास्वादनमें आयुर्कर्मके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धको मानते हैं ।

१ मिथ गुणस्थानमें उत्कृष्टयोग न होनेक सम्बन्धमें, निम्न युक्तियों स्वोपश टीकामें दी हैं । दूसरी कथायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अविरत गुणस्थानमें ही बतलाया है । यदि मिथमें भी उत्कृष्टयोग होता तो उसमें भी दूसरी कथायका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध बतलाया जाता । शायद कहा जाये कि अविरत गुणस्थानमें मिथ गुणस्थानसे कम प्रवृत्तियाँ बचती हैं अतः अविरतको ही उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका स्वामी बतलाया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि साधारण अवस्थामें अनिरतमें भी सात ही कर्मोंका बन्ध होता है और मिथमें तो सात कर्मोंका बन्ध होता ही है । तथा अविरतमें भी मोहनीयकी सत्तरह प्रवृत्तियोंका बन्ध होता है और मिथमें भी उसकी सत्तरह प्रवृत्तियोंका बन्ध

गुणस्थानमें उत्कृष्ट योग नहीं होता, अतः वहाँ उत्कृष्ट प्रदेशान्वध भी नहीं होता ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोन और अन्तराय का उत्कृष्ट-प्रदेशान्वध सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसमें गुणस्थानमें होता है । सूक्ष्मसाम्परायमें उत्कृष्टयोग तो होता ही है । तथा, वहाँ मोहनीय और आयुष्मका बध भी नहीं होता, अतः थोड़े कमोंका बध होनेके कारण उसका ही ग्रहण किया है । तथा उत्तर प्रकृतियोंमें मे पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातवेदनीय, यश रीति, उद्योगोत्तर और पाँच अन्तरायका उत्कृष्ट प्रदेशान्वध भी सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानमें होता है, क्योंकि ऊपर लिख धाय हैं कि मोहनीय और आयुष्मका बध न होनेके कारण उनका भाग भी शेष छह कमोंको ही मिल जाता है । तथा, दर्शनावरणका भाग उसकी चार प्रकृतियोंको और नामकका भाग उसकी एक प्रकृति-को मिल जाता है, अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशान्वध भी वहाँ होता है ।

द्वितीय कषायका उत्कृष्ट प्रदेशान्वध अविरतसम्यग्दृष्टि करता है । इस गुणस्थानमें मिथ्यात्व और अनन्तानुग्रहाका बध नहीं होता, अतः उनका भाग भी शेषको मिल जाता है । तथा, तीसरी कषायका उत्कृष्ट प्रदेशान्वध देवान्तरित गुणस्थानमें होता है, इस गुणस्थानमें प्रत्याग्यानावरण कषायका भी बध नहीं होता, अतः उनका द्रव्य भी शेषको मिल जाता है । इस प्रकार मूल प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशान्वधके स्वामियोंका निर्देश इस गायामे किया है ।

पण अनियंटी सुखगड-नराउ-सुर-सुभगतिग-विउब्बिदुग ।

समचउरसमसाय वडर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ११ ॥

होता है । अतः मिथ्यमें उत्कृष्ट प्रदेशान्वधको न बतलानेमें उत्कृष्ट योगके अभावके सिवाय कोई दूसरा कारण प्रतीत नहीं होता ।

अर्थ—पुरुषवेद, सञ्जलन नोष, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अनिवृत्तिनादर नामक गुणस्थानमें होता है । प्रशस्त विहायोगति, मनुष्यायु, सुखिक (देवगति, दवानुपूर्वी, और देवायु), सुमग्निक (सुमग, सुम्बर और आदेय), वैत्रियद्विक, समचतु रमसस्यान, जसातवेदनीय, वज्रशृण्मनाराच सहनन, इन तेरहप्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्मग्नष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ।

भावार्थ—इस गायाम १८ उत्तर प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी बतलाय है । उनमेंसे पुरुषवेद और सञ्जलनचतुष्करा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नीचे गुणस्थानमें होता है क्योंकि छद् नोकपायोंका बन्ध १ हाके कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिलजाता है । तथा पुरुषवेदकी पञ्चानुष्ठिति होनेके बाद सञ्जलनचतुष्करा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, आदि की चारह कपाय और नोकपाय का सब द्रव्य उसे ही मिल जाता है । तथा, प्रशस्त विहायोगति वगैरह तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्मग्नष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके कारण पाये जाते हैं ।

निद्रा-ययला-दुजुयल भय-कुच्छा-तिर्य्य सम्मगो सुजई ।

आहारदुग सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

अर्थ—निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, तीर्यङ्कर, इत्यादी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्मग्नष्टि जान करता है । आहारनद्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सुयति अथात् अप्रमत्त और अपूरकरण गुणस्थानमें रहने वाले मुनि करते हैं । और शेष प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जाव करता है ।

भावार्थ—निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नीचे गुणस्थान

से लेकर जाठवें गुणस्थान तकके उत्कृष्टयामाले सम्यग्दृष्टि जान करते हैं । सम्यग्दृष्टिके स्थानार्द्धिकका बंध १ होनेके कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है, अतः सम्यग्दृष्टिका ही ग्रहण किया है । यद्यपि मिश्रमें भी स्थानार्द्धिकका बंध नहीं होता, किन्तु वहा उत्कृष्ट योग भी नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं किया है ।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्साका चौथे गुणस्थान-से लेकर आठवें गुणस्थाना तक जिन जिन गुणस्थाना में बंध होता है, उन गुणस्थानमाले उत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टि जीव उनका उत्कृष्ट प्रदेश बंध करते हैं । तीर्थङ्कर प्रकृतिना बंध तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है । इसी तरह जाहारकद्विक का बंध भी मात्र और आठवें गुणस्थानमें ही होता है । अतः उनका उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी सम्यग्दृष्टिके ही बतलाया है । इस प्रकार ५४ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबंधके स्वामी बतलाकर शेष ६६ प्रकृतियोंके उत्कृष्ट प्रदेशबंधना स्वामी सिध्दादृष्टि को ही बतलाया है । जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कामण, घण-चतुष्क, अगुरुल्लु, उपघात, पराघात, उशस, व्रस, वादर, पयास, प्रत्येक, स्थिरद्विक शुभद्विक, अयश कीर्ति, और निमाण, इन पचीस प्रकृतियोंके सिवाय शेष ४१ प्रकृतिया तो सम्यग्दृष्टिके बंधती ही नहीं हैं । उनमेंसे कुछ प्रकृतियाँ यद्यपि सास्वादनाम बंधती हैं, किन्तु वहा उत्कृष्टयोग नहीं होता । अतः ४१ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबंध सिध्दादृष्टि ही करता है । शेष पचीस प्रकृतियोंमेंसे औदारिक, तैजस, कामण, वगादि चार, अगुरुल्लु, उपघात, वादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति, निमाण, इन पंद्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामक वैश्वप्रकृतिक बंधस्थानके बंधक जीनाके ही होता है और शेष दस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकके पचीसप्रकृतिक बंध-

स्थानके बन्धन जीवाके ही होता है, शेषके नहीं होता । तथा तेइस और पक्षी का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है । अतः शेष पक्षीस प्रकृतियों का भी उत्पन्न प्रदेशबन्ध उत्पन्न योगवाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं । इस प्रकार समस्त प्रकृतियाँक उत्पन्न प्रदेशबन्ध स्वामियोंका निर्देश किया है ।

उत्पन्न प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाकर अत्र अपन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोंका निर्देश करने हैं—

समुणी दुग्धि असक्की निरयतिग-सुराउ-सुर विउब्बिदुग ।
समो जिण जहन्नु सुहमनिगोयाइखणि सेसा ॥ १३ ॥

अर्थ—समुनि अथात् अप्रमत्तमुनि आहारक शरीर और आहारक ज्ञानावाहक जपय प्रदेशबन्ध करते हैं । असक्की जीव नरनरिक् (नरक गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और सुरायुजा जपय प्रदेशबन्ध करते हैं । सुरद्विक्, वैयिद्विक् और तीथद्वर प्रकृतिका जपय प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि गीर करते हैं । और शेष प्रकृतियाँका जपय प्रदेशबन्ध सुहमनिगोदिया जीव प्रथम समयम करता है ।

भावार्थ—इस गायामें जपय प्रदेशबन्धके स्वामियोंको बतलाया है । सामान्यसे आहारकद्विक्का जपय प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानमें रहनेवाले मुनि करते हैं । विशेषमें, जिस समयम आठों कर्मोंका बन्ध करते हुए ये नामकमक इज्जीसप्रकृतिक बन्धस्थानमा बन्ध करते हैं और योग भी अपन्य होता है, उस समय ही उनक आहारकद्विक्का जपय प्रदेशबन्ध होता है । यद्यपि नामकमके तीसप्रकृतिक बन्धस्थानमें भी आहारकद्विक्क सम्मिलित है, किन्तु इक्कीसम एक प्रकृति अधिक होनेके कारण, बन्धारेके समय कम

१ कमकाण्ड भा० २११ स २१४ तकमें भूत और उत्तर प्रकृतियोंके उत्पन्नप्रदेशबन्धके स्वामी बतलाये हैं, जो प्रायः कर्मग्रन्थके अनुकूल ही हैं ।

द्रव्य मिलता है । इसलिये इक्ष्वासप्रवृत्ति नष्टस्थानका निदग्न किया है । यहाँ इतना विशेष और भी है कि उस समय परान्तमान याग होना चाहिये ।

इसी तरह परान्तमान योगशाला असजी जीव नरकत्रिज और देवायुका जन्य प्रदेशनष्ट करता है, क्योंकि पृथिवीकारि, जलमायिक, तेजस्वा-
यिक, वायुसायिक, धनस्रानिसायिक तथा द्वान्द्रिय, तान्द्रिय और चतुरिन्द्रिय
ज्ञान ता देवगति और नरकगतिमें उतरन ही नहा हाते, अतः उनके उक्त
चारों प्रवृत्तियोंका नष्ट भी नहीं होता । असजी अपयासक भी न तो इतने
निपुण परिणाम होते हैं कि देवगतिके योग्य प्रवृत्तियोंका नष्ट कर सकें,
और न इतने सकलेश्वर परिणाम ही होते हैं कि नरकगतिने योग्य प्रवृत्तियों-
का नष्ट कर सकें । अतः मायामें सामान्यसे निर्देश करनेपर भा असजी
पयासक ही ग्रहण करना चाहिये । असजी पयासक भी यदि एक ही योगमें
चिरकाल तक रहनेवाला लिया जायेगा तो वह तीव्र यागशाला हो जायेगा,
अतः परान्तमान योगका ग्रहण किया है, क्योंकि योगमें परितन होते
रहते तीव्रयाग नहीं हो सकता । अतः परान्तमान योगशाला, आठ कर्मोंका
नष्ट, पयासक असजी जीव अपने योग्य अन्त्य यागके रहते हुए उक्त
चारों प्रवृत्तियोंका जन्य प्रदेशनष्ट करता है ।

सुरादिक, वैश्वद्विज और तीर्थङ्कर प्रवृत्ति का जन्य प्रदेशनष्ट सम्य-
गृष्टि ज्ञान करता है । जिसका विवरण इस प्रकार है—कोई मनुष्य तीर्थङ्कर
प्रवृत्ति का नष्ट करके देवोंमें उत्पन्न हुआ । यहाँ वह प्रथम समयमें ही
मनुष्यगतिके योग्य तीर्थङ्करप्रवृत्तिसहित नामस्मर्तके तीसप्रवृत्ति स्थापना
नष्ट करता हुआ तीर्थङ्कर प्रवृत्ति का जन्य प्रदेशनष्ट करता है । यद्यपि
नरकगतिमें भी तीर्थङ्कर प्रवृत्ति का नष्ट होता है, किन्तु देवगतिमें जघन्य-
योगवाले अनुत्तरवासा देवोंका ग्रहण किया जाता है, और नरकगतिमें
इतना जघन्ययोग नहीं होता । अतः नरकगतिके सम्यगृष्टि जीवके उक्त

प्रकृतिना जघन्य प्रदेशबध नहीं कृतलाया है । तिस्रगतिमें तीर्थङ्करका बध ही नहीं होता, अतः वह भी उपक्षणीय है । मनुष्यगतिमें जन्मके प्रथम समयमें ता तीर्थङ्करसहित नामकर्मके अनतीसप्रकृतिक बधस्थानका बध होता है अतः प्रकृति कम होनेसे वहाँ भाग अधिक मिलता है । तथा, तीर्थङ्कर सहित इक्ष्वाकुप्रकृतिक बधस्थानका बध सयमीके ही होता है, और वहाँ योग अधिक होता है । अतः तीसप्रकृतिक स्थानसे बधक देवोंके ही तीर्थङ्कर प्रकृतिना जघन्य प्रदेशबध कृतलाया है । देवद्विक और यैत्रियद्विकना जघन्य प्रदेशबध देवगति या नरकगतिसे आकर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यके उस समय होता है, जब वह देवगतिके योग्य नामकर्मके अनतीसप्रकृतिक बधस्थानका बध करता है । क्योंकि देव और नारक ता इन प्रकृतियोंका बध ही नहीं करते । भोगभूमिया तिस्र जन्म लेनेके प्रथम समयमें इनका बध करते हैं, किन्तु वे देवगतिके योग्य अष्टादशप्रकृतिक बध स्थानका ही बध करते हैं । अतः श्रावणके समय अधिक द्रव्य मिलता है । यही बात अष्टादशप्रकृतिक बधस्थानके बधक मनुष्यके द्वारमें भी समझनी चाहिये । अतः अनतीसप्रकृतिक बधस्थानका बधन मनुष्यके ही उत्तर द्वार प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबध कृतलाया है ।

श्लोक १०९ प्रकृतियानां जघन्य प्रदेशबध सुप्तनिगोदिया लब्धपर्याप्तक

१ कर्मकाण्डमें गा० २१५ से २१७ तक जघन्य प्रदेशबधके स्वामियों को कृतलाया है । श्लोक १०९ प्रकृतियोंके बधक सुप्तनिगोदिया जीवके द्वार में उसमें कुछ विशेष बात कृतगई है । उसमें लिखा है—

“चरिममपुष्पमवस्थो विविग्नाहे पञ्चविंशहस्मि ठिभो ।

सुप्तनिगोदो बधदि सेसाण अजरबध तु ॥ २१७ ॥”

अथात्—लब्धपर्याप्तक ६०१२ भवोंमेंसे अन्तके भवको धारण करनेके लिये तीन मोक्ष लेते समय, पहले मोक्ष में स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव श्लोक प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबध करता है ।

जीव जन्मके प्रथम समयमें करता है, क्योंकि उसने प्रायः सभी प्रकृतियोंका ग्रह होता है, तथा सबसे जगन्मय योग भी उसीने होता है ।

जगन्मय प्रदेशान्वयके स्वामियोंको बतलाकर, अत्र प्रदेशान्वयके सादि वगैरह मन्त्रोंको बतलाते हैं—

दंमर्णलगा-भय-कुच्छा-वि-ति-तुरियकसाय विग्धनाणाण ।

मूलगोऽणुमकोसो चउह दुहा सेसि सच्चत्य ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्वानर्दिनिम्नके सिगाय दग्गनागरणी शेष ६ प्रकृतियाँ, भय, कुच्छा, दूसरा अप्रत्याख्यानागरण कपाय, तीसरा प्रत्याख्यानागरण कपाय, चौथा सञ्जन कपाय, पाँच जन्तराय और पाँच ज्ञानावरण, इन उत्तर-प्रकृतियोंके तथा मोहनीय और आयुर्मर्मेके सिगाय छह मूलप्रकृतियोंके अनुत्पष्ट प्रदेशान्वयके सादि, अनादि, भुव और अभुव चारा मन्त्र होते हैं । तथा, उक्त प्रकृतियोंके शेष तीन वर्णोंके और जगन्मय प्रकृतियोंके चारों वर्णोंके सादि और अभुव, दो ही मन्त्र होते हैं ।

भावार्थ—उत्पष्ट, अनुत्पष्ट, जगन्मय और अजगन्मय तथा उनके सादि, अनादि, भुव और अभुवमहाना स्वरूप पहले उतला आये हैं, क्योंकि प्रत्येक ग्रहने अन्तम मूल तथा उत्तर प्रकृतियामें उनका विचार किया गया है । यहाँ भी प्रदेशान्वयमें उनका विचार किया है । सबसे अधिक कम स्थाना-

१ पञ्चसङ्ग्रहमें भी प्रदेशान्वयके सादि वगैरह मन्त्र इसीप्रकार बतलाये हैं यथा—

‘मोहाडयवज्जाण णुळोमो सादयाहओ होह ।

साई अभुवा सेसा आडगमोहाण स-वेवि ॥ २९० ॥

नागतरायनिहा अणवज्जकमाय भयदुगुहाण ।

दंमणचउपयलाण चउन्विगप्पो अणुळोसो ॥ २९५ ॥

सेसा साह अभुवा स-वे सम्वाण सेसपयईण ।’

के ग्रहण करनेका उत्कृष्ट प्रदेशबध कहते हैं । और उत्कृष्ट प्रदेशबधम एक दा बगैरह स्क्धाकी हानिसे लेकर सत्रसे कम कर्मस्क्धाके ग्रहण करनेका अनुत्कृष्ट प्रदेशबध कहते हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदामें प्रदेशबधक समस्त भेदाना समग्रहण हो जाता है । तथा सत्रसे कम कर्म स्क्धाके ग्रहण करनेका जघन्य प्रदेशबध कहते हैं । और उसमें एक दो बगैरह स्क्धाकी वृद्धिसे लेकर अधिसे अधिक कमस्क्धाके ग्रहण करनेको जजघन्य प्रदेशबध कहते हैं । इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदामें भी प्रदेशबधक सत्र भेद गर्भित हो जाते हैं ।

उक्त नायामें, दशानयन्क बगैरह प्रकृतियोंमें अनुत्कृष्ट प्रदेशबधके चारों भेद बतलाये हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अग्रधिदशनावरण और केयलदशनावरणका उत्कृष्ट प्रदेशबध सूक्ष्मसामग्रय गुणस्थानमें हाता है, क्योंकि एक तो वहाँ मोहनीय और आयुस्मका बध नहीं होता, दूसरे निद्रापञ्चका भी बध नहीं होता । अतः उह बहुत द्रव्य भिन्ना है । इस उत्कृष्ट प्रदेशबधका करके फोड़ जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें गया । यहाँसे गिरकर, दसवें गुणस्थानमें आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबध करता है, तो वह बध सादि हाता है । अथवा दसवें ही गुणस्थानमें उत्कृष्ट योगके द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशबध करनेके बाद जब वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबध करता है, तब वह बध सादि होता है । क्योंकि उत्कृष्टयोग एक, दो समयसे अधिक देर तक नहीं होता । उत्कृष्टबध होनेसे पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबध हाता है, वह अनादि है । अभव्य जीवका वही बध भुव है और भव्य जीवका बध अम्रुत होता है ।

निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबध चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थान तक हाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके स्थानाद्विचित्रिका बध नहीं होता, अतः उनका भाग भी इन्हें मिलता है । उक्त गुणस्थानामेंसे किसी

एक गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करके जन्म जीव पुनः अनुकृष्ट बन्ध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बन्धसे पहलेका अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध अनादि है। अमव्यय बन्ध ध्रुव है और भयसा बन्ध अध्रुव है।

मय और जुगुप्साका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथेसे लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुकृष्ट प्रदेशबन्धके भी पहलेकी ही तरह चार भङ्ग जानने चाहिये। इसी तरह अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सञ्ज्वलन कषाय, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तरायके अनुकृष्ट प्रदेशबन्धके भी चारचार भङ्ग जानने चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्धसे पहले जो अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि होता है। और उत्कृष्टबन्धके बाद जो अनुकृष्ट बन्ध होता है, वह सादि होता है। भव्य जीवका यही बन्ध अध्रुव होता है और अमव्ययका बन्ध ध्रुव होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतियोंके अनुकृष्ट प्रदेशबन्धके सादि यगैरह चारों भङ्ग होते हैं। किन्तु बाकीके उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्धके सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं—अनुकृष्ट प्रदेशबन्धके भङ्ग मतलाते हुए यह मतला आया है कि अमुक अमुक प्रकृतिना अमुक अमुक गुणस्थानमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने अपने गुणस्थानमें पहली बार होता है, अतः सादि है। तथा, एक दो समय तक होकर या तो उसके बन्धना त्रिबुल अभाव ही हो जाता है, या पुनः अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, अतः अध्रुव है।

तथा उक्त तीस प्रकृतियोंका जघन्य प्रदेशबन्ध सूत्रमनिगोदिया लब्ध्यपगतक जीवके मरणके प्रथम समयमें होता है। उसके बाद योगशक्तिके बढ़ जानेके कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। सख्यात या असख्यात कालके बाद जब उस जीवको पुनः उस मरणी प्राप्ति होती है तो पुनः जघन्य प्रदेशबन्ध होता है उसके बाद पुनः अजघन्य प्रदेशबन्ध होता

प्रकारके अनुभाग बंधके कारण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान है। अतः
योगस्थान, स्थितिविधाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तथा
उनके कारणोंका परस्परमैत्रीयवस्तुत्व बताया है—

सेदिभसखिज्जसे जोगहाणाणि पयडिठिइमेया ।

ठिइवधज्जावसायाणुभागठाणा असखगुणा ॥ २५ ॥

तत्तो कम्मपएसा अणतगुणिया तओ रसच्छेया ।

अर्थ—योगस्थान भौतिक असख्यातमें भाग प्रमाण है। योगस्थानों
में अणुगतगुण प्रवृत्तियाँ भेद हैं। प्रवृत्तियोंके भेदोंसे असख्यातगुणों
स्थितिविधा भेद हैं। स्थितिके भेदोंसे असख्यातगुणों स्थितिविधाध्यवसायस्थान
है। स्थितिविधाध्यवसायस्थानसे असख्यातगुणों अनुभागबन्धाध्यवसाय
स्थान है। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुण कर्मबंध हैं, और
कर्मबंधोंसे अनन्तगुणों रसच्छेद है।

भावार्थ—बन्धके निरूपणमें दो वस्तुएँ मुराए हैं—एक बंध और
दूसरी उसके कारण। बंध चार हैं किन्तु उनके कारण तीन ही हैं, क्योंकि
प्रवृत्तिबंध और प्रदेशबंधोंका कारण एक ही है। अतः बन्धके निरूपणमें
उसके परिणामके रूपसे सात चीजें आती हैं—प्रवृत्तिभेद, स्थितिभेद, कर्म
बंध जयात् प्रदेशभेद, रसच्छेद अथात् अनुभागभेद और उनके कारण
योगस्थान, स्थितिविधाध्यवसायस्थान तथा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान।
उक्त नामोंमें उनमें परस्परमें अत्यन्तदुर्लभ बतलाया है अथात् यदि बतलाया

। पद्यसङ्ग्रहमें भी इनका अत्यन्तदुर्लभ इसी तरह बतलाया है यथा—

‘सेदिभसखेज्जसो जोगहाणा तत्तो कम्मखेयजा ।

पयडिमेया तत्तो ठिइमेया होति तत्तोमि ॥ २८२ ॥

ठिइवधज्जावसाया तत्तो अनुभागवधठाणाणि ।

तत्तो कम्मपएसाणतगुणा त्ते रसच्छेया ॥ २८३ ॥”

है कि इन सातोंमें किसी सख्या अधिक है और किसी सख्या कम है ?

योगस्थानाकी सख्या श्रेणिके असख्यातवें मध्य मतलाइ है । श्रेणिका स्वल्प आगे घतलायेंगे । उसके असख्यातवें भागम आकाशके जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही योगस्थान जानना चाहिये । पीछे गा० ५३ का व्याख्यान करते हुए बतला आये हैं कि योग, वीर्य या शक्तिविशेष कहते हैं । उसके स्थान किस प्रकार होते हैं यहा इसे समझाने हैं । पहले बतला भाय है कि सूक्ष्मनिगोदिया लक्ष्ययासक्त जीनके मरके प्रथम समरमें सत्रसे अधय योग होता है, जथात् अय जीनोंकी अपडासे उसकी शक्ति या वीर्यलब्धि सत्रसे कम है । किन्तु सत्रसे कम वीर्यलब्धिके कारण उस जीनके कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्यवाले हैं, कुछ उनसे अधिक वीर्यवाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्यवाले हैं । यदि सत्रसे कम वीर्यवाले प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेशको केन्द्रशक्तीके जानके द्वारा देखा जाये तो उस एक प्रदेशमें असख्यात लोकशक्तियोंके प्रदेशोंके बराबर भाग पाये जाते हैं । तथा उसी जीनके अत्यधिक वीर्यवाले प्रदेशों उसी प्रकार यदि अलकन किया जाय तो उसमें उस वीर्यवीर्यवाले प्रदेशके भागोंसे भी असख्यातगुण भाग पाये जाते हैं । इसीके सम्बन्धम पञ्चसङ्गहमें लिखा है—

“पण्णाए अविभाग जहण्णधीरियस्स वीरिय छिण्ण ।

एकैऋस्स पप्पसस्सऽसत्तल्लोगप्पप्पससम ॥ ३९७ ॥”

अथात्—‘सत्रसे अन्यवीर्यवाले जीनके प्रदेशम जो वीर्य है, बुद्धिके द्वारा उसका तत्तत्क छेदन किया जाय जसत्तक अविभागी अंग न हो । एक एक प्रदेशमें य अविभागी अंग असख्यात लोकशक्तियोंके प्रदेशोंके बराबर होते हैं ।’ वीर्यलब्धिके इन भागों या अविभागी अंगोंको वीर्यपरमाणु, भावपरमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं । जीनके जिन प्रदेशोंमें य अविभागी प्रतिच्छेद सत्रसे कम, किन्तु समान सख्यामें पाये जाते

यह योगस्थान सबसे जगन्मयशक्तिवाले सूक्ष्म निगादिया जीरके मरके प्रथम समयमें हाता है। उससे कुछ अधिक शक्तिवाले जीवना इसी क्रमसे दूसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवना इसी क्रमसे तिसरा योगस्थान होता है। उससे भी कुछ अधिक शक्तिवाले जीवना इसी क्रमसे चौथा योगस्थान हाता है। इस प्रकार इसी क्रमसे नाना जोषाये अथवा कालभेदसे एक ही जायके य योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भाग आसन्नक चितने प्रदेश होते हैं, उतने हाते हैं।

शङ्का—जीव अनन्त है, अत योगस्थान भी अनन्त हा हाने चाहिये।

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सब जीवों का योगस्थान जुदा जुदा ही नहीं होता, अनन्त रथावर जावोंके समान योगस्थान हाता है, तथा अर्धस्यात त्योंके भी समान योगस्थान हाता है। अत निसहस्र योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भाग ही होते हैं।

सुनिये—

“पञ्चासखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवति इगिठाणे।

गुणहाणिफड्डयाभो असखमाग तु सेदीये ॥ २२४ ॥

फड्डयमे एहेके वग्गणसला हु तत्तियाळावा।

एहेकेवग्गगाए असखपदरा हु वग्गाभो ॥ २२५ ॥

एहेके पुण वग्गे असखल्लोगा हवति अविभागा।

अविभागस्म पमाग जहण्णठद्दी पदेसाण ॥ २२६ ॥”

अर्थात्—‘एक योगस्थानमें पत्त्यके असख्यातवें भाग गुणहानियाँ होती हैं। एक गुणहानिमें श्रेणिके असख्यातवें भाग स्पर्दक होते हैं। एक एक स्पर्दकमें उतनी ही वर्णणाएँ होती हैं। एक एक वर्णणामें असख्यात जगन् प्रवर प्रमाण वर्ण होते हैं। और एक एक वर्ण में असख्यात लोकानाशोंके प्रदेशोंके थपवर अविभागी प्रतिच्छेद होने हैं। प्रदेशोंमें जो जगन्मय शक्ति

इस योगस्थानासे असंख्यातगुणे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंके भेद होते हैं। यद्यपि मूलप्रकृतियों साठ और उत्तर प्रकृतियों १४८ बनलाई हैं, किन्तु यद्यपि विचित्रतासे एक एक प्रकृति के अनेक भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, एक अवधिज्ञान को ही ले लीजिये। शास्त्रांमें अवधिज्ञानक बहुतसे भेद बनलाये हैं। अतः अवधिज्ञानावरणसे यद्यपि भी उतने ही भेद होते हैं, क्योंकि यद्यपि विचित्रतासे ही क्षययोगममें उत्तर पक्षता है और शवाश्रयमम अन्तर पड़नेसे ही ज्ञानके अनेक भेद हो जाते हैं। शायद काह कहें कि अनेक भेद होने पर भी असंख्यात भेद किस तरह हो जाते हैं? ता इसके लिये हमें पुनः अवधिज्ञानक भेदों पर एक दृष्टि डालनी होगी। सूक्ष्म पञ्चजात्र की तीसरे समय में जितनी जगत् जगताहता हानी है, उतना ही जगत् अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है। और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जगत्क्षेत्रसे लेकर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट अवधिज्ञानके क्षेत्र तक क्षेत्रका हीनाधिक्यके कारण अवधिज्ञानके असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसलिये अवधिज्ञानके आधारक अवधिज्ञानावरण कर्मके भी यद्यपि और उदयनी विचित्रतासे असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसी होती है अर्थात् जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्तिके अशक्तों अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं।' इस रीतिसे प्रत्येकमें प्रत्येकका प्रमाण बतलाया है। इसीसे यदि दृष्ट कर्मसे कहें तो-अविभागीप्रति-छेदोंका समूह वर्ग, वर्गों का समूह वर्गणा, वर्गणाओंका समूह स्वदेव, स्वदेवोंका समूह गुणहानि और गुणहानियोंका समूह योगस्थान-इसप्रकार प्रत्येकका स्वरूप मालूम हो जाता है। इससे अनुसार प्रत्येक प्रदेश एक एक वर्ग है, क्योंकि उसमें बहुतसे अविभागी अस्त रहते हैं। गाथा २२९ की संस्कृतटीका तथा बाल बोधनी भाषाटीकामें योगस्थान और उसके अङ्गोंका विस्तारसंक्षेप कथन किया है, जो उपयुक्त वचनसे विपरीत नहीं है।

प्रकार नाना जायोंकी अपेक्षासे नाकी उत्तर-प्रकृतिना और मूल प्रकृतियाके भी त्रय और उदयकी विचित्रतासे असख्यात भेद हो जाते हैं । यहाँ पर भी जीवोंके जनन्त होनेके कारण उनके बन्धा और उदयोंकी विचित्रतासे प्रकृतियोंके भी अनन्त भेद होनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नाना जीवोंके भी एकसा बन्ध और एकसा उदय होता है । अतः प्रकृतियोंके बिसहस्र भेद असख्यात ही होते हैं । अतः योगस्थानोंसे प्रकृतियों असख्यातगुणी हैं, क्योंकि एक एक योगस्थानमें वर्तमान नाना जीव या कालक्रमसे एक ही जीव इन सभी प्रकृतियाका त्रय करता है ।

तथा, प्रकृतिके भेदासे असख्यातगुणे स्थितिके भेद होते हैं । क्यों कि एक एक प्रकृति असख्यात तरह की स्थितियों को लेकर घबती है । जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बाधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बाधता है, कभी दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बाधता है, कभी तीन समय अधिक अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिके साथ बाधता है । इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षासे ही स्थितिके असख्यात भेद हो जाते हैं, तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षासे प्रकृतिके भेदासे स्थितिके भेदोंका असख्यातगुण होना स्पष्ट ही है । अतः प्रकृतिके भेदासे स्थितिके भेद असख्यातगुणे होते हैं ।

तथा स्थितिके भेदोंसे स्थितिबोधव्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं । जगत्के उदयसे होनेवाले जीवोंके जिन परिणामविशेषोंसे स्थितिबोध होता है, उन परिणामोंको स्थितिबोधव्यवसाय कहते हैं । एक एक स्थितिबोधके कारणभूत ये व्यवसाय या परिणाम अनेक होते हैं, क्योंकि सबसे अधःस्थितिका त्रय भी असख्यातलोभप्रमाण व्यवसायोंसे होता है । अर्थात् एक ही स्थितिबोध किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है और किसी जीवके किसी तरहके परिणामसे होता है । ऐसा

ही आगे भी समझ लेना चाहिये । अतः स्थितिके भेदोंसे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे होते हैं । तथा, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानसे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं । अर्थात् स्थितिबन्धके कारण भूत परिणामोंसे अनुभागबन्धके कारणभूत परिणाम असख्यातगुणे हैं । इसका कारण यह है कि एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान तो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक आठ समय तक ही रहता है । अतः एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमें असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं ।

तथा, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कमस्कन्ध होते हैं । इसका कारण यह है कि पहले बतला आये हैं कि एक जीव एक समयमें अमव्यराशिसे अनन्तगुणे और सिद्धराशिके अनन्तर्वेभाग कमस्कन्धोंको ग्रहण करता है । किन्तु अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंका प्रमाण तो केवल असख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके जितना ही बतलया है । अतः अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे अनन्तगुणे कमस्कन्ध सिद्ध होते हैं ।

तथा, कमस्कन्धोंसे अनन्तगुणे रसच्छेद या अविभागी प्रतिच्छेद हैं । बात यह है कि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके द्वारा कर्मपुद्गलोंमें रस पैदा होता है । यदि एक परमाणुमें मौजूद रस या अनुभागशक्तिकी केवल शानके द्वारा छदा जाय तो उसमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद या रसच्छेद पाये जाते हैं । अर्थात् समस्त कमस्कन्धके प्रत्येक परमाणुमें समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक एक कमस्कन्धमें कमपरमाणु केवल सिद्धराशिके अनन्तर्वे भाग ही होते हैं । अतः कमस्कन्धासे रसच्छेद अनन्तगुणे सिद्ध होते हैं । इसप्रकार बन्ध और उनके कारणोंका अल्पबहुत्व जानना चाहिये ॥

१ कमकाशमें इनमेंसे केवल छहका ही परस्परमें अल्पबहुत्व बतलाया है—

प्रदेशबन्धका विस्तारसे वर्णन करनेपर भी अभी तक उसका कारण नहीं बतलाया, अतः प्रदेशबन्ध और प्रसङ्गबन्ध पूर्वोक्त प्रकृति स्थिति और अनुभागबन्धके कारण बतलाते हैं—

जोगा पयडिपएस ठिडअणुभाग कसायाउ ॥१६॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं ।

भावार्थ—गाथाके इस उत्तरार्द्धमें चारों बन्धोंके कारण बतलाये हैं । प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योगसे बतलाया है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धका कारण कषायको बतलाया है । योग और कषायका स्वरूप पहले बतला आये हैं । योग एक शक्तिका नाम है जो निमित्त-कारणोंके मिलनेपर कर्ममार्गणात्माको कमरूप परिणमाती है । कर्मपुद्गलों का अमूर्तरूपरिमाणमें कर्मरूप होना, तथा उनमें ज्ञान वगैरहको धातने आदि का स्वभाव पढ़ना ये योगके कार्य हैं । तथा आये हुए कर्मपुद्गलोंका अनुकालांतर आत्माके साथ दूधगानाकी तरह मिलकर उद्हरना और उनमें तान्त्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पढ़ना, ये कषायके कार्य हैं । अतः दो बन्धोंका कारण योग है और दो का कारण कषाय है । अतः कषाय रहती है, तबतक चारों बन्ध होते हैं । किन्तु कषायका उपशम या क्षय होजानेपर ग्यारहवें वगैरह गुणस्थानोंमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं । इसीसे कर्मकाण्डमें कहा है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होति ।

अपरिणदुच्छिण्णेषु य यधट्ठिदिकारण णत्थि ॥ २५७ ॥'

अर्थात् 'प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं । जिनकी कषाय अपरिणत है अर्थात् उदयरूप नहीं है तथा जिनकी कषाय नष्ट होगई है, उनके स्थितिबन्धका रसच्छेदको उसमें नहीं लिया है । देखो गा० २५८ २६० ।

कारण नहीं है' । चौदहवें गुणस्थानमें योगका मो अभाव होता है, अतः यहाँ एक भी बंध नहीं होता है ॥

यागस्थानाका प्रमाण भेगिके असख्यातमें भाग बतलाया है । अतः भेगिना स्वरूप बतलाना आवश्यक है । किंतु लोक और उसके घनपत्र का कथन किये बिना भेगिना स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, अतः भेगिके साथ ही साथ घन और प्रतरका स्वरूप भी कहते हैं—

चउदसरज्जू लोउ बुद्धिकउ होइ सत्तरज्जुघणो ।

तहीहोगएसा सेही पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

अर्थ—लोक चौदह रात्र उँचा है, और बुद्धिके द्वारा उसका समीकरण करनेपर वह सातरात्रके घनप्रमाण होता है (सातरात्र लम्बी आकाशके प्रदेशोंकी पत्तिका भेगि कहते हैं) और उसके वर्गको प्रतर कहते हैं ।

भावार्थ—इस गायामें प्रसन्नवश लोक, भेगि और प्रतरका स्वरूप बतलाया है । गायामें 'चउदसरज्जू लोउ' लिखा है, जिसका आशय है कि लोक चौदह रात्र है । किंतु वह केवल उसकी उँचाइका ही प्रमाण है । लोकका आकार कटिपर दाना हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर लड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया है । जो इस प्रकार है—

१ त्रिलोकसार में लिखा है—

'अभिषयद्वेकमुरवत्तयसत्तयसत्तिगहो हवे लोमो ।

अज्जुदमो मुरवत्तमो चोदसरज्जूदमो सत्तो ॥ ६ ॥'

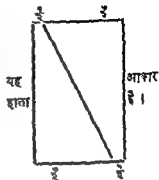
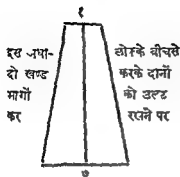
अर्थात् खाँसा करके आधि मृदङ्ग के ऊपर रखे हुए पूरे मृदङ्ग के समान शीक का आकार जानना चाहिये । उसका मध्य भाग ध्वजाओं के समूह के सदृश अनेक प्रकार के द्रव्योंसे मरा हुआ है । अधोलोक आधि मृङ्ग के आकार है और सर्वलोक पूरे मृदङ्ग के आकार है । तथा सबलोक चौदह रात्र उँचा है ।

इसके नीचेका भाग चौड़ा है। फिर दोनों रातुकी ऊँचाइ पर एक गड़ते गड़ते १०॥ रातु चौड़ा है। फिर घटते ऊँचाइ पर एक रातु पूर्व-पश्चिम में घटता ७ रातु मोटाइ है। इस और ऊँचाइका यदि किया जाये तो वह सात होता है।



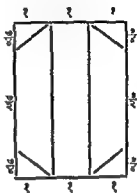
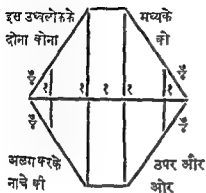
पूर्व-पश्चिम सात रातु ओरसे घटते घटते सात रातु चौड़ा है। पुन की ऊँचाइ पर पाँच रातु घटते चौदह रातु की चौड़ा है। इस प्रकार बढ़ता हुआ है। समन की चौड़ाइ मोटाइ बुद्धिके द्वारा समीकरण रातु के घन के बराबर

इसके समीकरणका प्रकार इस तरह है—अधोलोकके नीचेका विस्तार सात रातु है और दोनों ओरसे घटते घटते सात रातुकी ऊँचाइपर मध्य-लोकके पासमें वह एक रातु शेष रहता है। इस अधोलोकके बीचमें से दो भाग करके यदि दोनों भागोंको उलटकर नरानर बराबर रक्ता जाये तो उसका विस्तार नीचेकी ओर भी और ऊपरकी ओर भी चार चार रातु होता है, किंतु ऊँचाइ सवन सातरातु ही रहती है। जैसे—



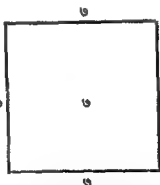
अथ उर्ध्वलोकको लीजिये—उर्ध्वलोकका मध्यभाग पूर्वपश्चिममें ५ राशु चौड़ा है। उसमेंसे मध्यके तान राशु धनुषका ज्योंका त्यों छोड़कर दोना ओरसे एक एक राशुके चौड़े और साढ़े तान साढ़े तान राशुके केंचे दो त्रिकोण खण्ड लेने चाहिये। उन दोनों राशुओंको मध्यसे काटनेपर चार त्रिकोण खण्ड होजाते हैं, जिनमेंसे प्रत्येक खण्डकी भुजा एक राशु और कोटि पौने दो राशु होती है। उन चारों राशुओंको उलटा मुलटा करके उनमेंसे दो खण्ड उर्ध्वलोकके अधोभागमें दोनों ओर, और दो खण्ड उसके उर्ध्वभागके दानों ओर मिलादने चाहिये। ऐसा करनेसे उर्ध्वलोककी ऊँचाईमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राशु होजाता है। ऐसे—

इस तरह मिलाओ



उधेलोरुके इस नये आकारको अधोलोरुके नये आकारके साथ

मिला देने पर सात
राज ऊँचा और
चौकोर क्षेत्र हो
ऊँचाई चौड़ाई ७
तीनों सात सात
एक सात राज
होता है।



राज चौड़ा, सात
सात राज मोटा
जाता है। अतः
७ और मोगाह,
राज होने के कारण
का धन रूप सिद्ध

एक तो वृत्त है और यह धन समचतुरस्ररूप होता है। अतः वृत्त
करने के लिये उसे १९ से गुणा करके बाइससे भाग देना चाहिये। तब वह
कुछ कम सात राज लम्बा, चौड़ा और गोल होता है। किन्तु व्यवहार में
सात राज समचतुरस्र धनलोक जानना चाहिये।

[सात राशु सग्वी आकाशक एक एक प्रदेशकी पत्तिका भेजि कहते हैं ।]
 जहाँ मही भेजिके असख्यातवें भागका घन हो वहाँ यही भेजि लेना
 चाहिये । भेजिके वगका प्रतर कहते हैं । अथात् भेजिमें जितने प्रदेश हा,
 उनका उतने हा प्रदेशास गुणा करनेपर प्रतरका प्रमाण आता है । अथवा
 सात राशु सग्वी और सात राशु चौड़ी एक एक प्रदेशकी पत्तिका प्रतर
 कहते हैं । तथा, प्रतर और भेजिका परस्परमें गुणा करनेपर घन मा घन
 लोक होता है । इस प्रकार भेजि, प्रतर और घनत्वका प्रमाण जानना
 चाहिये ॥



१ पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीका में भी भेजिका यही स्वरूप
 बतलाया है । यथा—लोकमध्यादारभ्य उर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाश
 प्रवर्णाणां प्रमसन्निविष्टानां पक्ति भजि ।' पृ० १०० ।

राशु का प्रमाण त्रिलोकसार में 'तत्संस्तिसप्तभागो रशु' (भा० ७)
 लिखकर भेजि क सातवें भाग बतलाया है । तथा द्रष्टव्यलोक० में प्रमाणा
 दृष्ट मे निष्पन्न असख्यात कोटीकोटी योजनका एक राशु बतलाया है ।
 यथा—'प्रमाणाहुतनिष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः । असद्वपकोटीकोटीभिरेका
 रशु प्रकीर्तिता ॥ ६४ ॥ १ व्य० ।

२ प्रतर से आश्रय वर्ग का है । समान दो सरयाओंको आपसमें
 गुणा करने पर जो राशी उत्पन्न होती है वह उस सरया का वर्ग कहलाती
 है । जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं । तथा समान तीन सरयाओं
 का परस्परमें गुणा करने पर घन होता है । जस ७ का घन $7 \times 7 \times 7 =$
 ३४३ होता है ।

२१ उपशमश्रेणिद्वार

‘नमिय जिण धुमग्घो’ आदि पहली गायामें जिन जिन विषया का नाम लेकर उनका वणन करनेकी प्रतिज्ञाही थी, उन विषयोंका वणन तो किया जा चुका । अब उसी पहली गायामें आये हुए ‘च’ शब्दसे जिन उपशमश्रेणि और क्षणश्रेणिका ग्रहण किया गया है, उनमेंसे पहले उपशमश्रेणिका वणन करते हैं—

अण-दस-नपुंसित्थीवेयउक्क च पुरिमवेय च ।

दो दो एगतरिण सरिसे सरिस उवसमेइ ॥ १८ ॥

अर्थ—पहले अनन्तानुषधी कपायना उपशम करता है । उसके बाद दशनमोहनीयका उपशम करता है । फिर क्रमशः नपुंसस्वेद, स्त्रावेद, छह नोकपाय और पुरुषवेदका उपशम करता है । उसके बाद एक एक सज्जलन कपायना अन्तर देकर दो दो सहज कपायोंका एक साथ उपशम करता है । अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण श्रोत्रका उपशम करके सज्जलन श्रोत्रका उपशम करता है । फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम करके सज्जलन मानका उपशम करता है । फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम करके सज्जलन मायाका उपशम करता है । फिर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभका उपशम करके सज्जलन लोभका उपशम करता है ।

भाषार्थ—पहले लिख आये हैं कि मातमें गुणत्यागने आगे दो

१ यह गायना आवश्यकनियुक्ति से ली गई जान पड़ती है । उसमें भी यह इसी प्रकार है—

‘अण दस नपुंसित्थीवेय-उक्क च पुरिसवेय च ।

दो दो एगतरिण, सरिसे सरिस उवसमेइ ॥ ११६ ॥’

श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—एक उपशमश्रेणि और दूसरी क्षयकश्रेणि । उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मकी उच्चप्रवृत्तियोंका उपशम किया जाता है, इसीसे उसे उपशमश्रेणि कहते हैं । प्रत्येककारने इस गायामें माहनायकी प्रवृत्तियोंके उपशम करनेका क्रम बतलाया है । सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कर्मायका उपशम होता है, जिसका वणन निम्न प्रकारसे है—

चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानवर्ती जाव अनन्तानुबन्धी कर्मायका उपशम करनेके त्रिय यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनित्यचिकरण नामके तीन करण करता है । यथाप्रवृत्तकरणमें प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है और उसकी वजहसे उभ प्रवृत्तियोंमें अनुभागकी वृद्धि तथा अशुभ प्रवृत्तियोंमें अनुभागकी हानि होती है । निन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि अथवा गुणमक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं । यथा—प्रवृत्तकरणका अन्तमुद्घर्त काल समाप्त करके दूसरा अपूर्वकरण होता है । इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिब्रच, ये पाँच कार्य हाते हैं । अपूर्वकरणके प्रथम समयमें कर्मोंकी जो स्थिति होती है, स्थितिगतके द्वारा उसके अन्तिम समयमें वह संरघातगुणा का दी जाती है । रसगतके द्वारा अशुभ प्रवृत्तियोंका रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है । गुणश्रेणिरचनामें प्रवृत्तियोंकी अन्तमुद्घर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर, ऊपरकी स्थितिगले दलितोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदभावलाके ऊपरकी स्थितिगले दलितोंमें उनका निवेश कर दिया जाता है । अर्थात् पहले समयमें जो दलिक लिये जाते हैं, उनमेंसे सबसे कम दलिक प्रथम समयमें स्थापित किए जाते हैं, उससे अगलातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किए जाते हैं, उससे भी अगलातगुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किए जाते हैं । इस प्रकार अन्तमुद्घर्त कालके

अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निषेध किया जाता है। दूसरे आदि समयोंमें भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निषेध भी इसी प्रकार किया जाता है। यहाँ इतना निरोध है कि गुणश्रेणिकी रचनाके लिये पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे योद्धे होते हैं। और उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकोंका निषेध, अगशिष्ट समयोंमें ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त कालसे ऊपरके समयोंमें नहीं किया जाता।

गुणसक्रमके द्वारा अपूर्वकरणके प्रथम समयमें अनन्तानुबन्धी जादि अगुम प्रकृतियोंके थोड़े दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। उसके पश्चात् प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकोंका अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता है। तथा अपूर्वकरणके प्रथम समयसे ही स्थिति-बन्ध भी अपूर्ण अर्थात् बहुत थोड़ा होता है। अपूर्वकरणका बाल समाप्त होनेपर तीसरा अनिवृत्तिस्तरण होता है। इसमें भी प्रथम समयसे ही पूर्वोक्त पाँच काय एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमेंसे सर्यात भाग धीत जानेपर जब एक भाग बाकी रहता है ता अनन्तानुबन्धी कषायके एक आवली प्रमाण नीचेके निपेक्षोंको छोड़कर बाकी निपेक्षोंका उसी तरह अन्तरस्तरण किया जाता है जैसे कि पहले मिथ्यात्वका बनलाया है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँसे उठा उठाकर बधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें स्थानित कर दिया जाता है। अन्तरकरणके प्रारम्भ होनेपर, दूसरे समयमें अनन्तानुबन्धी कषायके ऊपरकी स्थितिगळे दलिकोंका उपशम किया जाता है। पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है, दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है, तीसरे समयमें

सम्बन्धमें वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्णकरण गुणस्थानमें सम्पूर्ण अणुम प्रकृतियाँका गुणसमूह होता है। अपूर्णकरणके कालमेंसे सख्यातवर्ग भग्न भीत जानेपर निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युत्पत्ति होती है। उसके बाद और भी काल बीतनेपर सुरद्रिक्, पञ्चेन्द्रियघाति वगैरह तीस प्रकृतियाँका बन्धविच्छेद होता है। तथा अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और ज्ञानका बन्धविच्छेद होता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूरक स्थितिघात वगैरह काय होते हैं। अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे सख्यात भग्न भीत जानेपर चारित्र्य माहनीयकी इफीम प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। जिन कर्मोंका उस समय बन्ध और उदय होता है, उसके अन्तरकरणसम्बन्धी दलितोंका प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिमें शेषण करता है। जैसे पुरुषवेदके उदयसे भेणि चढ़ने वाला पुरुषवेदका। जिन कर्मोंका उस समय कवल उदय ही होता है, बन्ध नहीं होता, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलितोंको प्रथम स्थितिमें ही शेषण करता है, द्वितीय स्थितिमें नहीं। जैसे स्त्रीवेदके उदयसे भेणि चढ़ने वाला स्त्रीवेदका। जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उस समय केवल बन्ध ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलितोंका द्वितीयस्थितिमें ही शेषण करता है, प्रथम स्थितिमें नहीं। जैसे सज्जलन कथोंके उदयसे भेणि चढ़नेवाला सज्जलन कथोंका। किन्तु जिन कर्मोंका न तो बन्ध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरणसम्बन्धी दलितोंका अन्य प्रकृतियोंमें शेषण करता है। जैसे द्वितीय और तृतीय कथायना।

अन्तरकरण करके एक जन्तुमुहूर्तमें नपुंसकवेदका उपशम करता है।

१ भावार्थ० वि० भा० ११६ की टीका के, तथा विरोधा० भा० भा० १२८८ के अनुसार वह कम पुरुषवेद के उदय से भेणि चढ़ने वाले जीवकी अपेक्षासे बतलाया गया है। यदि स्त्रीवेदके उदयसे कोई जीव भेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसकवेदका उपशम करता है। फिर कम

से पुरुषवेद, हास्यादिपट्क और स्त्रीवेदका उपशम करता है । तथा यदि नपुसकवेदके उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेदका उपशम करता है उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद हास्यादिपट्क और नपुसक वेद का उपशम करता है । सारांश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ता है, उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है । जैसा कि विशेषा० भा० में लिखा है—

“ततो य दसणतिग सभोऽणुहृण जहन्नपरवेय ।

ततो धीय छक्क ततो य वेय सयमुद्विष ॥१२८८॥”

अर्थात्—अनन्तानुषधी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है । उसके पश्चात् अनुदीर्घ दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है । उसके पश्चात् दूसरे वेदका उपशम करता है । उसके पश्चात् हास्यादिपट्कका उपशम करता है । उसके पश्चात् जिस वेदका उदय होता है उसका उपशम करता है ।

कर्मप्रकृतिमें इस क्रमको इस प्रकार बतलाया है—

‘उदय वज्जिय इत्थी इत्थि समयइ अवेयगा सत्त ।

तह वरिसवरो वरिसवरिंथि समग कमारखे ॥ ६५ ॥’ उपशमना०

अर्थात्—यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुसकवेद का उपशम करती है उसके बाद चरमसमयमात्र उदयस्थितिको छोड़कर स्त्री वेदके शेष सभी दलिकोंका उपशम करती है । उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करती है । तथा यदि नपुसक उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदयस्थितिको छोड़कर शेष नपुसक वेदका तथा स्त्रीवेदका एक साथ उपशम करता है । उसके बाद अवेदक होने पर पुरुष वेद आदि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है ।

अधिसारमें भी कर्मप्रकृतिके अनुरूप ही विधान है । देखो गा० ३६१-३६२ ।

उसके बाद एक अन्तमुहूर्तमें स्त्रीवेदका उपशम करता है । उसके बाद एक अन्तमुहूर्तमें हास्यादिपङ्कजा उपशम करना है । हास्यादिपङ्कजा उपशम होते ही पुरुषवेदके बध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है । हास्यादिपङ्कजी उपशमताके अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्रमें सक्त पुरुषवेदका उपशम करता है । जिस समयमें हास्यादिपङ्क उपशमान्त हो जाते हैं और पुरुषवेदका प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समयमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सञ्चलन मोधना एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है । जब सञ्चलन मोधकी प्रथम स्थितिमें एक आवलि का शेष शेष रह जाता है तो सञ्चलन मोधके बध उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मोधना उपशम हो जाता है । उस समय सञ्चलन मोधकी प्रथमस्थितिगत एक आवलिकाका और ऊपरकी स्थितिगत एक समय कम दो आवलिनामें धृष्ट दलिकोंकी छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं । उसके बाद समय कम दो आवलिका कालमें सञ्चलन मोधका उपशम हो जाता है । जिस समयमें सञ्चलन मोधके बध, उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे लेकर सञ्चलन मानकी द्वितीय स्थितिसे दलिकोंकी छे लेकर प्रथम स्थिति करता है । प्रथम स्थिति करनेके प्रथमसे लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सञ्चलन मानका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है । सञ्चलन मानकी प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिका शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मानके दलिकोंका सञ्चलन मानमें प्रवेश नहीं किया जाता किन्तु सञ्चलन माया रगैरहमें किया जाता है । एक आवलि शेष रहनेपर सञ्चलन मानके बध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मानका उपशम हो जाता है । उस समयमें सञ्चलन मानकी प्रथम स्थितिगत एक

आवलिना और एक समय कम दो आवलिनामें बाँधे गये ऊपरकी स्थिति-
गत कमदण्डिकाको छोड़कर शेष दण्डिका उपशम हो जाता है । उसके बाद समय कम दो आवलिनामें सञ्चलन मानना उपशम करता है । जिस
समयमें सञ्चलन मानके बध, उदय और उदीरणका विच्छेद होता है,
उसके अनन्तर समयसे लेकर सञ्चलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दण्डिका
लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्थिति करता है और उसी समयसे लेकर तीना
मायाका एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है । सञ्चलन मायाकी
प्रथम स्थितिमें समय कम तीन आवलिना शेष रहनेपर अप्रत्याख्यानावरण
और प्रत्याख्यानावरण मायाके दण्डिकाका सञ्चलन मायाम प्रक्षेप नहीं
करता, किन्तु सञ्चलन लोभमें प्रक्षेप करता है । एक आवलिना शेष रहने-
पर सञ्चलन मायाके बध, उदय और उदीरणका विच्छेद हो जाता है
और अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मायाका उपशम हो
जाता है । उस समयमें सञ्चलन मायाकी प्रथम स्थितिगत एक आवलिना
और समय कम दो आवलिनामें बाँधे गये ऊपरकी स्थितिगत दण्डि-
काको छोड़कर शेषका उपशम हो जाता है । उसके बाद समय कम दो
आवलिनामें सञ्चलन मायाका उपशम करता है । अब सञ्चलन मायाके
बध, उदय और उदीरणका विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समयसे
लेकर सञ्चलन मायाकी द्वितीय स्थितिसे दण्डिकाको लेकर पूर्वोक्त प्रकारसे
प्रथम स्थिति करता है । लोभका जितना वेदन काल होता है, उसके
तान भाग करके उनमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थितिका काल रहता
है । प्रथम विभागमें पूर्व स्वर्दण्डिकासे दण्डिकाको लेकर अपूर्व स्वर्दण्डिका करता
है । अर्थात् पहलेके स्वर्दण्डिकासे दण्डिकाको ले लेकर उ हैं अत्यन्त रस-
हीन कर देता है । द्वितीय विभागमें पूर्व स्वर्दण्डिका और अपूर्व स्वर्दण्डिकासे
दण्डिकाको लेकर अनन्त कृष्टि करता है, अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीन-
रस करके उन्हें अन्तरालसे स्थापित कर देता है । कृष्टिकरणके फालते

अन्तः समये अग्रत्याग्यागरण और प्रत्याग्यागरण शोभता उपशम करता है। उसी समयमें संजयता एवम्के प्रथम निच्छेद होता है और बादर संजयतन एवम्के उदय तथा उदारणाया निच्छेद होता है। इसका साथ ही नारें गुणस्थानका अन्त हो जाता है। उसके बाद दसवें एवम्-साभराय गुणस्थान होता है। एवम्साभरायका काल अन्तमुद्धा है। उसमें आचार ऊपरकी स्थितिसे कुछ बदलियारा लेकर एवम्साभरायके कालके बादर प्रथम स्थितिसे करता है, और एक समय कम हो जाय जिसमें बर हुए होय दलितारा उपशम करता है। एवम्साभराय अन्तिम समयमें संजयता शोभता उपशम हो जाता है। उसी समयमें शानावरणी पौंच, दगावरणी चार, अतारायरी पौंच, वर कीर्ति आर उवा गान, हा प्रवृत्तिपौंच प्रथम निच्छेद होता है। अनंतर समयमें ग्या रदरा गुणस्थान उपशान्त काय हो जाता है। इस गुणस्थानमें सादनीयरी २८ प्रवृत्तिपौंचा उपशम रहता है।

शेद्धा—समये गुणस्थानरारि जाय ही उपशमभेतिषा प्रारम्भ करता

१ छविस्तार भा० २०५-२११ में उपशम का विधान विस्तार से किया है जो ग्राम उक्त वर्णन से मिलता जुलता है। विद्युत् समये आत्मानुष भी के उपशम का विधान नहीं किया है। हमने हरद्व है कि प्रवृत्ति विधेयता के ही प्रवृत्ति हैं। जैसा कि उसमें विद्या भी है—

‘उपशमपरिधादिमुद्धा वेदगमम्भो अत्र विमोचिता ॥ २०५ ॥’

अर्थात् ‘उपशमपरिधादिमुद्धा अभिमुख वेदक सम्प्रति अन्तानुषभीका विधानन करके इत्यादि।

२ इस शब्द-समाधानके नियम विधानावश्यक भा० भा० १२५-१३० के द्वारा ज्ञात है।

३ इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है। यथा—

“अथ भगति अत्रियदेसपगतापमस्तविरयाण ।

है, और अनन्तानुवर्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम करनेपर सातवें गुणस्थान होता है, क्योंकि उनका उदय होते हुए सम्यक्त्व वगैरहकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती। ऐसी दृष्टामें उपशम श्रेणिमें पुन उनका उपशम बतलानेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्रकी प्राप्ति उत्त प्रवृत्तियोंके क्षयोपशमसे हाती है और वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही उपशम-श्रेणिमें उपशम सम्यक्त्व होता है। अत उपशम श्रेणिका प्रारम्भ करनेसे पहले उत्त प्रवृत्तियोंका क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम।

शङ्का—उदयमें आये हुए कर्म दलितोंका क्षय, और सत्तामें विद्यमान कर्मदलितका उपशम होनेपर क्षयोपशम होता है। अत उपशम और क्षयोपशममें अन्तर ही क्या है ?

अक्षयरो पडिबउनह दसणसमणम्मि उ नियट्ठी ॥१२९१॥' तिरो० भा०

अथात्—'अय आचार्याना कहना है कि अविरत देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशमश्रेणि चढता है।

इस मत भेदका कारण सम्भवत यह मालूम पड़ता है कि, चिन्होंने दर्शनमोहनीय के उपशम से, या यू कहना चाहिये कि द्वितीय उपशम सम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ माना है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंको उपशमश्रेणिका प्रारम्भक मानते हैं क्योंकि उपशमसम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है। किंतु जो चारित्रमोहनीय के उपशम से या यू कहना चाहिये कि उपशम चारित्रकी प्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नस उपशमश्रेणिका प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तम गुणस्थानवर्ती जीवोंको ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थानमें ही यथाप्रवृत्तकरण होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय इस दूसरे मतको ही मानता है।

उत्तर—ध्यापनमें घातक कर्मोंका प्रदेशादय रहता है किन्तु उपशममें उनका स्थिति भां तरहका उदय नहीं होता ।

शङ्का—यदि ध्यापनमें कर्मोंका घातक कर्मोंका प्रदेशादय होता है, तो सम्यक्त्व कर्मोंका घात कर्मोंका नहीं होता ?

उत्तर—उदय का तरहका होता है—एक पक्षदय और दूसरा पक्ष शोदय । पक्षदय होनेसे गुणका घात होता है, किन्तु प्रदेशादय अत्यन्त मन्द होता है अतः उससे गुणका घात नहीं होता । अतः ध्यापन और उपशममें अन्तर होनेके कारण उपशम भेगिमें अनन्तानुपधी कर्मोंका उपशम किया जाता है । कारण यह है कि उपशम भेगिमाहनीयकर्मकी समस्त प्रवृत्तियोंका पूरी तरहसे उपशम किया जाता है । उपशम कर देनेपर उस कर्मका अस्तित्व तो बना ही रहता है, जैसे गदले पानामे मल हुए पदमे विच्छेद कर्मोंका उदय देनेसे, पानीकी गाद उसके तलमें बैठ जाती है । पाना निर्मल हो जाता है, किन्तु उसका नीचे गदगी व्याप्ति त्यों मौजूद रहती है । उसी तरह उपशम भेगिमें जीवके भावोंका क्लृप्ति कराराला प्रधान माहनीय कर्म शांत कर दिया जाता है । अपूर्वकरण कर्मोंका परिणाम त्यों त्यों ऊँच उठते जाते हैं, त्यों त्यों माहनीयकर्म धूलिके कणस्वरूप उसकी उत्तर प्रवृत्तियाँ एकके बाद एक शांत होती चली जाती हैं । इसप्रकार उपशम की गई प्रवृत्तियोंमें न तो स्थिति और अनुष्णता का कर्म किया जासकता है, और न उई बढ़ाया जासकता है । उनका उदय या उद्वारणा ही

१ “तथा धोक्तमागमे—एव खलु गोयमा । मय दुविदे कस्मे पक्षते त जहा—पक्षकस्मेय अनुभावकस्मेय । तस्य न ज त पक्षकस्मेय त नियमा वेपह । तस्य न त अनुभावकस्मेय त अथे गह्य वेदेह, अथे गतिथ नो वेपह । मग० ।” विशेषा० भा० कोट्या० टी० पृ० १८२ ।

सज्जी है और न उन्हें अन्य प्रकृतिरूप ही किया जासकता है। उपशम करनेवा ये ही लाभ हैं। किन्तु उपशम तो केवल अतमुद्धत कालके लिये किया जाता है। अब दसवें गुणस्थानमें सप्तम लोभका उपशम करके अत्र भी ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है, तो कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक अन्तमुद्धर्तके बाद, शान्त हुई कृपायें उसी तरह उठ खड़ी होती हैं, जैसे शहरमें उपद्रव करनेवाले गुण्डे पुलिसको आता देखा कर इधर उधर छिप जाते हैं, किन्तु उसके जाते ही प्रकट होकर पुनः उपद्रव मचाना शुरू कर देते हैं। फल यह होता है कि वह जीव जिस क्रमसे ऊपर चढ़ा था उसी क्रमसे नीचे उतरना शुरू कर देता है और ज्यों ज्यों नीचे उतरता जाता है त्यों त्यों, चढ़ते समय जिस जिस गुण स्थानमें अति प्रवृत्तिप्राप्ति बन्धव्युत्थिति की थी, उस उस गुण स्थानमें आनेपर ये पुनः बन्धने लगती हैं। उतरते उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थानमें ठहरता है और यदि वहाँ भी अपनेको नहीं सम्हाल पाता तो पाँचवें और चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है। यदि अनन्तानुनयीका उदय आजाता है तो साक्षात्कृतं सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्वमें पहुँच जाता है। और इस

१ “अन्यग्राप्युक्त-‘उवसत कम्म ज न सओ कडेह न देह उदप वि ।

न य गमयइ परपगइ, न चेन उहइदण स तु ॥१॥’

पञ्च० कर्मग्रन्थ स्वो० टी० पृ० १३१ ।

२ ‘उवसाम उवणीया, गुणमहया निगचरित्तसरिसवि ।

पडिचायति कसाया किं पुण सेमे सरागल्ये ॥११८॥’ भाव० नि० ।

अर्थान्-गुणवान् पुरुषके द्वारा उपशांतकी गई कथाय अति मगवानके सदृश चारित्र्यवाले व्यक्तिसे भी पतन करा देती है, फिर अन्य सरागी पुरुषोंका तो कहना ही क्या है ?

३ विशेष० भा० में लिखा है-

“एवमवसाणे सो वा होइ पमत्तो अरिरओ वा ॥ १२९० ॥”

तरह सब किया कराया चौगट हा जाता है । किन्तु यदि छठे गुणस्थानमें आकर सम्बल जाता है तो पुन उपशम भेगि नष्ट मकता है, क्योंकि एक

कोट्याचार्य न इसकी टीका में लिखा है—“ ‘वज्रवमान’ तस्या प्रतिपत्तन् स वा भवद् अप्रमत्तमयतो वा स्यात्, प्रमत्तो वा, अविरत सम्यग्दृष्टिर्वा, वा वा-इत् न सम्यग् इत्यपि ज्ञेयम् ।’

अर्थात्—भेगी से गिरकर अप्रमत्तमयत, प्रमत्तमयत, (दशविरत) वा अविरतसम्यग्दृष्टि होता है । वा’ शब्द ॥ सम्यक्त्व को भी छे- देता है ।

दृष्टव्युत्तिर्ने लिखा है—‘अग समाप्तिं च निवृत्तो-प्रमत्तगुणस्थान प्रमत्तगुणस्थान वा प्रतिष्ठते । कालगतस्तु द्बन्धविरतो वा भवति । कामप्रतिष्ठाभिप्रायेण तु प्रतिप्रवितोऽसौ निश्चादृष्टिगुणस्थानकमपि यावद् गच्छति ।’

अर्थात्—‘भेगि की समाप्ति पर बड़ा ये ली-ने हुए जीव गानवों वा छठे गुणस्थानमें ठहरता है । किन्तु यदि मर जाता है तो मरकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है । कर्मशास्त्रियोंके मतमें तो त्रेगिस गिरकर जीव पहले गुणस्थान तर भी जाता है ।’ इसमें पता चलता है कि सम्यक्त्व का ध्यान करने में सिद्धान्तशास्त्रियों और कर्मशास्त्रियों में मतभेद है । निगम्यर सम्प्रदायक आचार्यों ॥ भी इस विषय में मतभेद है । यह बात कठिणसार की निम्न गाथाओं से स्पष्ट है । उपशममम्यस्त्वका बाल बतलते हुए लिखा है—

‘चण्डणोदरकालादो पुत्रादो पुत्र्यशोचि सरसगुण ।

काल अधापवच पालदि सो उवसम सम्म ॥ ३४७ ॥

तरसम्मसदाण असगम देसमज्जम चापि ।

ग-छे-जावलिच्छे सेसे सासणगुण यापि ॥ ३४८ ॥

जदि मरदि सासणो सो गिरयविरवन्ध णर ण गच्छेदि ।

णियमा दव गच्छदि जइवसहसुणिदवयणेण ॥ ३४९ ॥

भयमें दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेका विधान पाया जाता है । किंतु दो बार उपशम श्रेणि चढ़नेपर वह जीव उसी भयमें क्षपकश्रेणि नहीं चढ़ सकता । जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह दूसरी बार क्षपक श्रेणि

परतिरियक्खणराउगमत्तो सक्के ण मोहमुत्तमिदु ।

तद्वा तिसुवि गदीसु ण तस्म उपपन्नो होदि ॥ ३५० ॥”

अर्थात्—चन्ते समय अपूर्वकरणक प्रथम समय से लहर उतरते समय अपूर्वकरणके अन्तिम समय पर्यन्त, जितना काल लगता है, उससे सत्प्राप्त-गुण काल द्वितीय उपशम सम्यग्त्वका होता है । इसमें अथ प्रवृत्तका काल भी ममज्ञ लेना चाहिये । यह काल सामान्यसे अन्तर्मुद्रित प्रमाण ही है । इस कालमें प्रत्याख्यानावरण कपायका उदय होने पर जीव देशमयम नो प्राप्त करता है अथवा अप्रत्याख्यानावरणकपायका उदय होनेपर असमय को प्राप्त होता है । तथा छह भागली काल बाकी रह जानेपर अनन्तानुबन्धो कपायका उदय होने से सासादनगुणस्थानको भी प्राप्त होता है । यदि सासा दनदशमें वह मरण करता है, तो नियमसे देव ही होता है ऐसा यतिवृषमाचार्य का मत है, क्योंकि नरकायु तिर्यक्यायु और मनुष्यायु (परमवर्षी अपेक्षासे) की सत्तावाला मनुष्य चारित्र मोहनीयता उपशम नहीं कर सकता ।’ इस प्रकार यतिवृषमाचार्य के मतसे सामादनगुणस्थानकी प्राप्ति बतलाकर ग्रन्थकार दूसरा मत बतलाते हुए लिखते हैं—

‘उवसमसेवीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि ।

भूदवल्लिणाहणिम्मलसुत्तस्स कुडोवदेसेण ॥ ३५१ ॥”

अर्थात्—भूतबलि स्वामी के निर्मल सूत्र (महाकर्म प्रकृति) के स्पष्ट उपदेश के अनुसार जीव उपशमश्रेणि से उतरकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त नहीं होता ।’

१ ‘उवसमे दुक्खुत्तो चरित्तमोह उवसमेव्वा ।’ कमप्रकृति गा ६४, पञ्चम० गा० ९३ (उपशम०)

भी चढ़ सक्ता है । त्रि-पु यह कर्मगास्त्रियोंका मत है । सिद्धोन्तशास्त्रियों-
के मतसे तो एक भवमें एक जीव एक ही भ्रेणि चढ़ता है । इसप्रकार
उपशम भ्रेणिना स्वरूप जानना चाहिये ।



२२. क्षपकभ्रेणिद्वार

उपशमभ्रेणिना यजन करके अन क्षपकभ्रेणिना यजन करते हैं—

अण मिच्छ मीस सम्म तिआउ इग-विगल-थीणतिगु-ज्जोन ।

१ उचय सप्ततिकापूर्णा—

‘जो हुवे घारे उचयसमतेदि पडिवज्जह, तस्स नियमा तम्मि भवे
सवगसेडी नपि । जो इच्छति उचयसमतेदि पडिवज्जह तस्स यवगा
सेवी हुज्ज ति । पय० कर्मप्र० टी०, पृ १३२ ।

२ तम्मि भवे निम्माण न छभइ उच्छोसभो व ससार ।

पोगालपरियट्ठक देसूण कोइ हिंदेज्जा ॥ १३१५ ॥” विद्यो० भा० ।

अर्थात्—उपशम भ्रणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोन नहीं जा
सक्ता, और कोई रोई तो अधिक स अधिक कुछ कम अर्थ पुत्रल परावर्ते
बाल तक समार में भ्रमण करते हैं ।

एहिप्रकार में लिखा है कि जीव उपशम भ्रेणियों अथ करण पर्यंत
तो प्रम से गिरता है । उसके बाद यदि पुन विप्लव परिणाम होते हैं तो
पुन ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है । और यदि सक्लेश परिणाम होते हैं
तो नीचे के गुणस्थानोंमें आता है ।

मथा—‘अद्धामये पढतो अघापवत्तोत्ति पढदि हु कमेण ।

सुज्जतो अरोहदि पढदि हु सो सकिन्मिमतो ॥ ३१० ॥”

३ भावश्यकनियुत्ति (प्र० भा०) में इन प्रकृतियोंको इस प्रकार
गिनाया है—

तिरि-नरय थावरदुग साहारा-यव-अड-नपु-त्थिए ॥ ०० ॥

छग-पु-सजलणा-दोनिह-चिग्घ-वरणक्खए नाणी ।

अर्थ—अनन्तानुगधी कथाय, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, मनुष्यायुके सिवाय बासीकी तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकृत्यय (दो इन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियजाति), स्त्रीमर्दि आदि तीन, उद्योत, तियद्ध-गति और तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति और नरकानुपूर्वी, स्थावर और सूक्ष्म, साधारण, जातय, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कथाय, नपुसकपेद, स्त्रीपेद, छह नोक्काय, पुरुषपेद, स-उल्लङ्घनाय, दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), पाँच अंतराय, पाँच शागावरण और चार दर्शना-वरण, इन ६३ प्रवृत्तियोंका क्षय करनेपर जीव केवलशानी होता है ।

भाषार्थ—पहले लिख आये हैं कि क्षपकश्रेणिमें माहनीयकर्मकी प्रवृत्तियोंका मूलसे नाश किया जाता है । इसीसे उस क्षपकश्रेणि कहते हैं । अर्थात् उपरक्षपश्रेणिमें तो प्रवृत्तियोंके उदयसे शान्त कर दिया जाता है, प्रवृत्तियोंकी सत्ता तो बनी रहती है किन्तु वे अन्तर्मुहूर्तके लिये अपना फल बगैरह नहीं दे सकता । किन्तु क्षपकश्रेणिमें उनही सत्ता ही नष्ट कर दी जाता है । अतः उनके पुनः उदय होनेका भय नहीं रहता, और इसी कारणसे धारकश्रेणिमें पतन नहीं होता । उक्त गायामें उन प्रवृत्तियोंके नाम बतलाये हैं, जिनका क्षपकश्रेणिमें क्षय किया जाता है । क्षयणका प्रम निम्न प्रकार है—

‘अण मिदु-भीस-सम्म, अट्ट नपुसि यवेय छक्क च ।

सुमवेय च सवेह कोहाइण च भवल्णे ॥ १२१ ॥

गइ अनुपुं ण दो दो जातीनाम च जाव चउरिंदी ।

आपाव उज्जोय, थावरनाम च सुहुम च ॥ १२२ ॥

साहारमप्पज्जत्त निहानिह च पयलपयल च ।

धीण मवई ताहे अघसेस ज च ऊट्ठण्ह ॥ १२३ ॥’

आठ वर्ष अधिक आयु प्राप्त, उत्तम संहनन क्षमता धारक, चौथे, पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षयकर्मभण्ड प्रारम्भ करता है । संन्यस पहले यह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लालसा एक साथ नाश करता है, और उसके शेष अनन्तरे भागको मिथ्यात्वमें स्थान देकर मिथ्यात्व और उस अंगका एक साथ नाश करता है । उसके बाद इसी प्रकार क्रमशः सम्बन्धमिथ्यात्व और सम्बन्ध प्रवृत्तिसा धर्ष करता है । जब सम्बन्धमिथ्यात्वकी स्थिति एक आयुतिरामाप्त बाकी रह जाती है तब शून्यत्व साधनायकी स्थिति आठवें प्रमाण बाकी रहती है । उसका अन्त सुदृढ़ प्रमाण पढ़ कर करके रखा जाता है । जब उसके अन्तिम स्थितिराग का खराता है तब उस क्षयकर्मोद्घाटन कहते हैं । इस उद्घाटनके काल

१ पण्डितोऽपि अत्रिचक्षुःसमस्तपमस्तत्रिरयाण ।

अथयसो पण्डितः सुदृढजगन्मोहवशितो ॥ १३२ ॥ विशेष भा० ।

दिगम्बर सम्प्रदायमें चारित्र्यमोहनीयके क्षयणसे ही क्षयकर्मभण्ड ही जाती है जैसा कि उपशमभण्डिके बारेमें भी लिख आये हैं । अतः यहाँ क्षयकर्मभण्ड आरम्भक प्रथम गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही माना जाता है ।

२ "एतन्मकसाण समय स्ववेह अतोमुहुत्तमेत्तेण ।

ततो विषय मिच्छन्त ततो य मीस ततो मम्म ॥ १३३ ॥" विशेष

३ चन्द्रिका में दशममोह की क्षयण के बारे में लिखा है—

‘दशममोहस्ववणापट्टवगो कम्मभूमिजो मणुमो ।

तिरयपरपादमूले केवलिसुदकेगलीमूले ॥ ११० ॥

गिद्वगो तट्टाण विमाणमोगावणीसु धम्मो य ।

किदकरणिजो चटुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जग्गहा ॥ १११ ॥”

अर्थात्—कर्मभूमि का मनुष्य तीव्रतर केवली अथवा शून्यकेवलीके पादमूल में दशममोह के क्षयण का प्रारम्भ करता है । अथकरणके प्रथम समयसे लेकर जब तक मिथ्यात्वमोहनीय और मिथमोहनीयका त्रय

में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें उत्पन्न हो सकता है । यदि क्षणकश्रेणिका प्रारम्भ यदायु जीव करता है, तो अनन्तानुबन्धी क्षयने पश्चात् उसका मरण होना सम्य है । उस अवस्था-में मिथ्यात्वका उदय होनेपर वह जीव पुन अनन्तानुबन्धी शब्द करता है, क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें अनन्तानुबन्धी नियमसे उधती है । किन्तु

सम्यग्ब्रह्म प्रकृतिरूप सक्रमण करता है तब तकके अन्तमुद्भूत कालको दशनमोहके क्षणका प्रारम्भक काल कहा जाता है । और उस प्रारम्भ कालके अनन्तर समयसे लेकर क्षाणिक सम्यग्ब्रह्मकी प्रातिके पहले समय तक का काल निष्ठापक कहा जाता है । सो निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था, वहाँ ही, अथवा सौधर्मादि स्वर्गोंमें, अथवा भोग भूमिमें, अथवा धर्मा नामके प्रथम नरकमें होता है । क्योंकि यदायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है ।

सम्भवत ऊपर विमे 'कृतकरण' कहा है उसे ही दिग्गम्बर सम्प्रदायमें 'कृतकरय' कहते हैं । जो इस बात को बतलाता है कि उस जीवन अपना कार्य कर लिया, अतः वह कृतकृत्य हो गया । क्योंकि क्षाणिक सम्यग्दृष्टि जाव अधिरस अधिर चोये भवमें नियममें मोक्ष चला जाता है । कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है । तब अन्तर्मुहूर्तमें यदि मरण हो तो—“देवेसु देवमणुषे सुरणरतिरिये चडगईसुपि ।

कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अतोमुहुत्तेग ॥५६२॥” कर्मकाण्ड

उसके प्रथम भागमें मरनेपर देवगतिमें, दूसरे भागमें मरनेपर देव और मनुष्यगतिमें, तीसरे भागमें मरनेपर देव, मनुष्य और त्रियम्बगतिमें, और चौथे भागमें मरनेपर चारों गतिमें कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है ।

१ “यदाउ पडिवच्चो पदमकसायनरुण जह मरेज्जा ।

तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज मुज्जो न खीणम्मि॥१३२३॥विरो०भा०

मिथ्यात्वका क्षय हो जानेपर पुनः अनन्तानुबन्धीके क्षयका भय नहीं रहता ।
 यैदायु होनेपर भी यदि कोई जीव उस भाग्य भरण नहीं करता, तो जन-
 तानुबन्धी कर्माय और दशरामाहका धारण करनेके बाद वह वहीं ठहर
 जाता है, चारित्र्य माहतायक धारण करनेका यत्न नहीं करता । किन्तु यदि
 अयैदायु क्षाता है तो वह उस भेगिका समाप्त करके वैराग्यज्ञानकी प्राप्ति
 करता है, और फिर मुक्त हो जाता है । अतः सक्त भेगिको समाप्त करने
 वाले मनुष्यके देहायु, नरकायु और त्रियगायुका अभाव तो श्वेत हो जाता
 है । तथा पूर्वोक्त क्रममें अनन्तानुबन्धी आदि चार तथा दर्शनानिकका क्षय
 चौध आदि चार गुण स्थानोंमें कर देता है । उसके पश्चात् चारित्र्य माहतायक
 का क्षय करनेके लिये यथाप्रवृत्त आदि गीत करणोंका करता है ।

इन चारों करणोंका स्थान तथा काय पहले उपशम भेगके बर्तनमें
 बध्ना ही आया है । यहाँ अप्रत्यक्षरूपमें स्थितिपात योगरूपके द्वारा अप्रत्या-
 ख्यानान्तरण तथा प्रत्याख्यानान्तरण कर्मावली आठ प्रकृतियोंका इस तरह
 ध्वनित किया जाता है कि अनिष्टितिकरणके प्रथम समयमें उनकी स्थिति पश्य-
 के अक्षरपातमें भागमान रह जाते हैं । अनिष्टितिकरणके सत्परात भाग पीत
 जानेपर स्वयानर्दिनिक, नरकगति, नरकायुपूर्व, त्रियगाति, त्रियगानुपूर्वी,
 एकाद्रिपादि चार जानियों, स्थावर, आतुर, उच्यत, सूक्ष्म और साधारण
 इन सात प्रकृतियोंकी स्थिति उद्वलना सक्रमणके द्वारा उद्वलना होनेपर
 पश्यके अक्षरपातमें भाग मान रह जाता है । उसके बाद गुणसङ्कलनके
 द्वारा बध्यमान प्रकृतिर्धाम उक्त प्रधान कर करके उक्त निष्कूल क्षोण कर
 दिया जाता है । यद्यपि अप्रत्याख्यानान्तरण और प्रत्याख्यानान्तरण कर्मावलीके
 क्षयका प्रारम्भ पहले हो कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वह क्षीण
 नहीं होती है, अतः क्रममें ही पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंका क्षय किया जाता

१ 'मदाकपदिवन्नो नियमा खोणमि सत्तप दाह ।

इयतो पुनरभो क्षिय सयल सेदि समानेह ॥१३३३॥' विशेष भा० ।

है। उनके क्षयके पश्चात् उन आठ कपायोंका भी जन्तमुद्घर्तमें ही क्षय कर देता है। उसके पश्चात् नौ नोम्पाय और चार सञ्चलन कपायोंमें अन्तरकरण करता है। फिर क्रमशः नपुसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोम्पायोंका क्षयण करता है। उसके बाद पुरुषवेदके तीनों खण्ड करके दो खण्डोंका एक साथ क्षयण करता है और तीसरे खण्डको सञ्चलन क्रोचम मिला देता है। यह क्रम पुरुषवेदके उदयसे श्रेणि चढोमालेके लिये है। यदि स्त्री श्रेणि-

१ किमी किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है, उनमें मध्यमें आठ कपायका क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। देगो, पत्र० कम० प्र० टी० पृ० १३५ और कर्मप्रवृ० सत्ताधि० गा० ५५ की यशो० टी०। कर्मकाण्डमें दस सम्यन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“अथि अथ उचसमगे खवगापुम्य खवित्तु अट्टा य ।

पच्छा सोलादीण खत्रण इदि केइ निदिट्ठ ॥ ३९१ ॥”

अर्थात्—‘उपशम श्रेणिमें अनन्तानुबन्धिना सब नहीं होता। और क्षपक अर्जवृत्तिकरण पहले आठ कपायों का क्षयण करके पश्चात् सोलह श्रेणियोंका क्षयण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।’

२ पञ्चसमग्र में लिखा है—

“इत्थीउदण नपुस इत्थीवेय च सत्तग च कमा ।

अपुमोदयमि जुगय नपुसइत्थी पुणो सत्त ॥ ३९६ ॥”

अर्थ—‘श्रीवेदके उदयसे श्रेणि चढनेपर पहले नपुसकवेदका क्षय होता है, फिर श्री वेदका क्षय होता है, फिर पुरुष वेद और हास्यादिपदका क्षय होता है। नपुसकवेदके उदयसे श्रेणि चढनेपर नपुसकवेद और श्रीवेदका एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादिपदका क्षय होता है।’

कर्मकाण्ड गा० ३८८ से भी इसी क्रम को बतलाया है।

पर आराधन करती है तो पहले नपुंसकवेदका ध्यान करती है। उसके बाद
 नमः पुंस्वेद, छह नाकपाय और स्त्री वेदका ध्यान करती है। तथा यदि
 नपुंसक धेनिर आराधन करता है तो वह पहले स्त्रीवेदका ध्यान करता
 है, उसके बाद नमः पुंस्वेद छह नाकपाय और नपुंसकवेदका ध्यान
 करता है। कारण यह है जिस ब्रह्मदे उदयसे धेनि चढ़ता है उसका ध्यान
 अन्तमें होता है। ब्रह्मदे भगवत् के बाद गच्छता प्राण, मान, माया और
 गोमय ध्यान उस प्रकारसे करता है। अथवा गच्छता प्राणके तान खण्ड
 करके दो खण्डों में तो एक साथ ध्यान करता है और तीसरे खण्डको सज्ज
 ता मानम मिला देता है। इसप्रकार मानके तासरे खण्डको मायामें मिलाता
 है और मायाके तीसरे खण्डका तानमें मिलाता है। प्रत्यक्षके ध्यान करनेका
 पाठ अन्तमुद्धृत है तथा धेनिरा काठ भी अन्तमुद्धृत है, किन्तु वह अन्तमुद्धृत
 पदा है। तान कपायके भा तीन खण्ड करके दो खण्डों में तो एक साथ ध्यान
 करता है किन्तु तीसरे खण्डका सज्जता खण्ड करके चरम खण्डका सिवा दो
 खण्डों में भिन्न भिन्न समयमें रखाता है। फिर उस चरम खण्डके भी असज्जता
 खण्ड करके उद्धृत दसमें गुणस्थानमें भिन्न भिन्न समयमें रखाता है। इसप्रकार
 तानकपायका पुरी तरहसे शय हानेका अनन्तर समयमें क्षीणकपाय हो जाता
 है। क्षीणकपाय गुणस्थानके कालके सज्जता भागोंमेंने एक भाग काल घाटी
 रहता तब मोदनीयकर्मके सिवा शेषकर्मों स्थितिघात वगैरह पूरकत्वाते हैं।
 उसमें पौंच ज्ञानावरण, चार दशावरण, पौंच अन्तराय और दो निद्रा,
 इन सात प्रवृत्तियोंकी स्थितिको क्षीणकपायक कालक्रमान्तर करता है,
 केवल निद्रादिककी स्थितिको एक समय कम करता है। इनकी स्थिति
 वरान्तर होते हैं इनमें स्थितिघात वगैरह काय हानेका हाजाने है, तेष
 प्रवृत्तियोंमें हाते रहते हैं। क्षीणकपायका उपाय समयमें निद्रादिकका क्षय
 करता है और शय बादह प्रवृत्तियोंका अन्तिम समयमें क्षय करता है।

उसके अनन्तर समयमें वह सयोगकेवली हो जाता है ।

१ विशेष भा० में इस क्रमसे चित्रण करते हुए लिखा है—

‘दसणमोहसखणे नियट्टि अणियट्टि चायरो परणो ।

जाव उ सेसो सज्जणलोभमससेज्जभागोत्ति ॥ १३३८ ॥

तदसत्तिज्जहमाग समण समण एवेइ पण्हक ।

तत्ताइ सुहुमसरारो लोभाणू जायमेवो वि ॥ १३३९ ॥

खीणे खवगनिगठो धीसमण मोहसागर तरिउ ।

अतोमुहुत्तमुदहि तरिउ याहे जहा पुरिसो ॥ १३४० ॥

छउमत्थकालहुचरिमसमण निह एवेइ पयल च ।

चरिमे केवल्लामो खीणाउरणातरायस्स ॥ १३४१ ॥

२ भाष्यकनियुक्तिसे मलयगिरिकृत टीशमें बारहवें गुणस्थानमें क्षय की जानेवाली प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें एक मतांतरका उल्लेख किया है । लिखा है—

‘अन्य त्वेजममिदधति-द्विचरमे समये क्षीणमोहो निद्रा प्रचला च क्षययति, नान्धश्च इमा प्रवृत्ती, तद्यथा-देवगतिदेवानुपूर्णा, वैक्रियद्विक, प्रथमयजानि पञ्च सहननानि उदितउत्तानि पञ्च सस्थागानि, आहारकनाम, तीवकरनाम च यद्यस्यातीर्थकर प्रतिपत्ता इति । अत्रार्थे च तन्मतेन तिस्रोऽपकर्तृना इमा गाथा—“धीसमिऊण नियठो दोहि उ समणहि केवले सेरो । पढेम निह पयल नामस्स इमाउ पय धीतो ॥ १ ॥ देवगइआणुपु नीयेठियमहुवणपढमवज्जाइ । अन्य पर सठाण तित्थमराहारनाम च ॥ २ ॥ चरमे नाणाउरण पचविह दमग चउविकप्प । पचविहमताराय खवइत्ता क्वली होइ ॥ ३ ॥” एतच्च मत मसमीचीनम्, चूर्णिकृतो भाष्यकृत सर्वथा च कर्मप्रत्यकाराणामसम्मतत्वात्, केवल वृत्तिकृता देवाप्यभिप्रायेण लिखितमिति । सूत्रेऽप्येता गाथा प्रगाहपतिता नियुक्तिवारकृतास्तु एता न भवति, चूर्णो भाष्ये

यह संयोगसे ही ज्ञानसे अन्तर्मुहूर्त और उत्पद्यते कुछ कम एक पूरा वाणि काल तक विहार करके, यदि उनके वेदनाय वगैरह फर्माई स्थिति आयुक्रमसे अधिक होती है वा उनके समीकरणके लिये समुदात करते हैं, और उसके पश्चात् यागना निराध करनेके लिये उपक्रम करते हैं । अन्यथा समुदात नियमिना ही यागना निराध करनेके लिये उपक्रम करते हैं । सबसे पहले बादर काययागके द्वारा बादर मनायोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् बादर वचनयोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्मकाय योगके पश्चात् अमरवर्णात् इति ॥ ' पृ १२० उ० ।

अर्थात्-विहीना कहना है कि बारहवें ग्रन्थस्थानके उत्पत्त समयमें निद्रा, प्रचला तथा नामकर्मकी देवगति, देवानुपूर्वी वैश्वियद्विक, पहलेके सिंहाय मायाके पाँच सहनन जिस स्थानका उद्भव हो उसके सिंहाय शेष पाँच स्थान, आहारक नाम, यदि शपक तीव्रकर न हुआ तो तीव्रकर नाम, इन प्रकृतियोंका क्षय करता है । इसके समर्पणमें किसी अन्य आचार्य की बनाई हुई तीन गाथाएँ वे उपस्थित करते हैं । जो इस प्रकार है, उनमें लिखा है कि 'जम केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें दो समय शेष रह जाते हैं तो निर्मल्य पहले समयमें निद्रा प्रचला वगैरहका क्षय करता है और अन्त समयमें ज्ञानावरण वगैरहकी चौदह प्रकृतियोंका क्षय करके केवली हो जाता है । किन्तु यह मत ठान नहीं है क्योंकि चूर्णिकार, भाव्यकार और समस्त कमस जोके रचयिता आचार्य इससे सहमत नहीं हैं । केवलवृत्तिकारने किसी भी भाषासे इसे लिख दिया है । सूत्रमें भी ये गाथाएँ प्रवाद रूपसे आ मिली हैं, किन्तु वे निर्युक्तिवाक्यकी बनाई हुई मालूम नहीं होती, क्योंकि चूर्ण और भाव्यमें इनका ग्रहण नहीं किया है ।

नोट-आत्मोदयसमितिके प्रकाशित नवसंदिशायाचकारानुक्रमणिकामें उक्त गाथाओंका नम्बर क्रमशः १२४, १२५ और १२६ है और उन्हें आवश्यकसूत्रकी गाथाएँ बतलाया है ।

द्वारा वादर काययोगको रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म मनोयोगका रोकते हैं, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोगको रोकते हैं। उसके पश्चात् सूक्ष्म काययोगका रोकनेके लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातियानको ध्याते हैं। उस ध्यानमें स्थितिगत बगैरहके द्वारा सयोगी अवस्थाके अन्तिम समय पयन्त आयु-कर्मके सिवा शेष कर्मोंका अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समयमें सन कर्मोंकी स्थिति अयोगी अवस्थाके कालक बराबर हो जाती है। इतना विशेष है कि अयोगी अवस्थामें जिन कर्मोंका उदय नहीं होता, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। सयोगी अवस्थाके अन्तिम समयमें कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कर्मण, उह संस्थान, प्रथम सहनन, औदारिक अज्ञापान, घणादि चार, अगुरुलु, उपपात, पराघात, उद्धास, गुम और अगुम निहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, गुम, अगुम, सुत्वर, दुत्वर और निमाण, इन तीस प्रवृत्तियोंके उदय और उदीरणाका निच्छेद होजाता है। उसके अनन्तर समयमें वह अयोग्यवली होजाते हैं। उस अवस्थामें वह व्युत्तरतत्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। यहाँ स्थितिगत बगैरह नहीं होता, अतः जिन कर्मोंका उदय होता है उनको तो स्थिति-का क्षय होनेसे अनुभव करके नष्ट करदेते हैं। किन्तु जिन प्रवृत्तियोंका उदय नहीं होता, उनका स्तिरुक्त सङ्क्रमके द्वारा चेत्यमान प्रवृत्तियोंमें सनन करके अयोगी अवस्थाके उपात समय तक वेदन करते हैं। उगान्त समयमें ७२ का और अतः समयमें ११ प्रवृत्तियोंका क्षय करके

१ इस सम्बन्धमें मतांतर है, जिसका उल्लेख छठे कर्म प्रथम तथा चण्डी टीकामें इस प्रकार किया है—

“तद्याणुपुत्रिसद्विया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।

सत सगमुद्धोस जह्मय धारस हवति ॥ ६८ ॥

मणुयगहसहगवाओ भवमिच्छविवागनीवयागति ।

धेमणियस्यरुद्ध च चरिममवियस्स खीयति ॥ ६९ ॥”

अर्थात्—तद्भव मोक्षगामीके अन्तिम समयमें आनुपूर्वी सदित तेरह

अयोगी नित्य मुग्धो प्राप्तकृते है ।

प्रकृतियोंकी सत्ता अकृष्ट रूपमें रहती है और जघन्यते तीर्थङ्कर प्रकृतिके मित्रा शेष पारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है । इसका कारण यह है कि मनुष्यगतिके साथ उदयको प्राप्त होनवाली भक्षिपात्र मनुष्यायु, श्रेष्ठ विपाका मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाका शेष ती, कोई एक वेदनीय तथा उष्णोष्ण ये तेरह प्रकृतियाँ सद्भव मो रगामीके अन्तिम समयमें क्षयको प्राप्त होती हैं, द्विचरम समयमें नष्ट नहीं होती । अतः सद्भवमोक्षगामीके अन्तिम समय में अकृष्ट उष्ण तेरह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और जघन्यम पारह प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ।

किन्तु अन्तमें पारह प्रकृतियोंका क्षय माननेवालोंका कहना है कि मनुष्यानुपूर्वीका क्षय द्विचरम समयमें ही हो जाता है, क्योंकि उसका उदयका अभाव है । निम्न प्रकृतियोंका उदय होता है उनमें स्तिशुक्लक्रम न होनेसे अन्त समयमें अपन अपने स्वरूपसे उनके दलित पावे ही जाते हैं, अतः उनका चरम समयमें सत्ताविच्छेद होना युक्त ही है । किन्तु चारों ही आनुपूर्वियों क्षत्रविपाका होनेके कारण दूसरे भवके लिये गति करते समय ही उदयमें आती हैं, अतः भवमें स्थित जीवके उनका उदय नहीं हो सना, और उदयके न हो सकनेसे अयोगी अवस्थाके द्विचरम समयमें ही मनुष्यानुपूर्वीकी सत्ताका विच्छेद हो जाता है ।

पञ्चमकर्मग्रन्थकी टीकामें ७२+१३४ ही विधान किया है इसलिये हमने मूलमें उसे ही स्थान दिया है । कर्मकाण्डमें भी यही विधान है जैसा कि लिखा है- उदयगत्तार णगणू तेषस प्परिमन्दि चोत्तिष्ठणा ॥ ३४१ ॥ अर्थात् उदयवती पारह प्रकृतियों और मनुष्यानुपूर्वी, ये तेरह प्रकृतियाँ अन्त समयमें सत्तासे व्युत्तिष्ठ होती हैं ।

१ कमकाण्डमें क्षपकथणिका विधान इस प्रकार बतलाया है-

“णिरयतिरिक्कपुराठगसत्त ण हि दमसयत्तदग्गवणा ।

अपदचउक्क तु अण अणियट्ठोकरणधरमग्गि ॥ ३३५ ॥

जुगस्य सन्नो गित्ता पुणो रि अणियट्टीकरणवहुभाग ।

बोलिय कमसो मिच्छ मिस्म सम्म खवदि कमे ॥ ३३६ ॥”

अर्थात्-नरकायुका सत्त्व रहते हुए देशव्रत नहीं होते, तिर्यचायुके सत्त्वमें महाव्रत नहीं होते, और देवायुके सत्त्वमें क्षपकश्रेणि नहीं होती । अतः क्षपकश्रेणि चढ़नेवाले मनुष्यके नरकायु तिर्यचायु तथा देवायुका सत्त्व नहीं होता । तथा, असद्यत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसद्यत अथवा अप्रमत्त सयन मनुष्य पहलेही की तरह अथ करण अपूर्वकरण और अनिष्टित्तिकरण नामक तीन करण करता है । अनिष्टित्तिकरणके अन्तिम समयमें अनन्तानु बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका एक साथ विसंयोजन करता है अर्थात् उन्हें बारह कपाय और नौ नोऽपायरूप परिणमाता है । उसके बाद एक अर्तर्मुहूर्त तक विधाम करके दर्शनमोहका क्षपण करनेके लिये पुनः अथ करण, अपूर्वकरण और अनिष्टित्तिकरण करता है । अनिष्टित्तिकरणके कालमें से जब पूरा भाग काल बाकी रह जाता है और बहुभाग धीत जाता है तो क्रमशः मिथ्यात्व, मिथ और सम्यग्त्व प्रकृतिका क्षपण करता है, और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है । उसके बाद चारिन मोहनायका क्षपण करनेके लिये क्षपकश्रेणि बढ़ता है । सबसे पहले सातवें गुणस्थानमें अथ करण करता है । उसके बाद आठवें गुणस्थानमें पहुँचकर पहले की ही तरह स्थितित्वण्टन, अनुभाग खण्डन बगैरह कार्य करता है । उसके बाद नौवें गुणस्थानमें पहुँच कर-

“सोल्लट्टेक्किगिळक्क च्चदुसेक्क वादरे अदो एक्क ।

एत्तीने सोल्लसन्नोमे वावत्तरि तेत्तसत्ते ॥ ३३७ ॥”

नामकर्मकी १३ और दर्शनावरणकी तीन, इसप्रकार सातह प्रकृतियों का क्षपण करता है । उसके बाद उसी गुणस्थानमें क्रमशः आठ कपाय नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छद्म नोकपाय, पुरुषवेद, सज्ज्वलनक्रोध, सज्ज्वलनमान और सज्ज्वलनमायाका क्षपण करता है । उसके बाद दसवें गुणस्थानमें पहुँचकर सज्ज्वलन लोभका क्षपण करता है । दसवेंसे एकदम बारहवें गुण-

१ पञ्चमकर्मग्रन्थकी मूल गाथाएँ

नमिय जिण धुवउदयसत्ताघाइपुणपरियत्ता ।
 सेयर चउदहविचागा वुच्छ उधविह सामी य ॥ १ ॥
 यच्चउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायमयकुच्छा ।
 मिच्छकसायापरणा, विग्घ धुवउधि सगवत्ता ॥ २ ॥
 तणुयगाऽऽगिइसघयणजाइगइसगइपुब्बिजिणसास ।
 उज्जोयाऽऽय उपरपातसवीसा गोय येयणिय ॥ ३ ॥
 हासाइजुयल दुगवेयभाउ तेउत्तरी अधुवउया ।
 भगा अणाइसाई, अणतसतुत्तरा चउरी ॥ ४ ॥
 पढमरिया धुवउदइसु, धुवउधिसु तइयवज्ज भगतिग ।
 मिच्छम्मि तिन्यि भगा, दुहा वि अधुया तुरियमगा ॥ ५ ॥
 निमिण धिरअधिर अगुदय, सुहयसुह तेय कम्म चउवत्ता ।
 नाणतराय वसण, मिच्छ धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥
 धिरसुभियर विणु अजुवउधी मिच्छ विणु मोहधुवउधी ।
 निहोवघाय मीस, सम्म पणनउइ अधुवुदया ॥ ७ ॥
 तसयन्नवीस मगतयेकम्म धुवउधि सेसवेयतिग ।
 भागिइतिगवेयणिय, दुजुयल सग उरल सासवऊ ॥ ८ ॥
 सगईतिरिदुग नीय, धुवसता सम्म मीस मणुयदुग ।
 विउयिआर जिणाऊ, हारसगुघा अधुवसता ॥ ९ ॥
 पढमतिगुणेषु मिच्छ, नियमा अजयाइअदुगे भज्ज ।
 सासाणे पउ सुम्म, सत मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥
 सासनमीससु धुव, मीस मिच्छाइनवसु भयणाण ।
 आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनउगम्मि ॥ ११ ॥
 भाहारसत्ताग धा, मवगुणे वितिगुणे विणा तित्थ ।
 नोभयसने मिच्छो अतमुदुत्त भवे तित्थे ॥ १२ ॥

पेचलजुपलावरणा, पण निहा यारमाइमकसाया ।
 मिच्छ ति सव्वघाई, चउनाणतिदमणावरणा ॥ १३ ॥
 भजलण नोकसाया, विग्घ इय देसघाइभो अघाइ ।
 पत्तेयतणुद्वाऽऽऊ, तसवीमा गोयदुग चन्ना ॥ १४ ॥
 सुरनरनिगुवा साय, तमदम तणुगग वहर चउरम ।
 परपासरा तिरिआउ, वधचउ पणिंदि सुभगगई ॥ १५ ॥
 पायाल पुगपगइ, अपढमभठानलगइभघयणा ।
 तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिग ॥ १६ ॥
 धारदस वधचउक, घाएणयालसहिय यासीई ।
 पायपयणित्ति दोसु वि, यघाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥
 नामधुवयधिनवग, दसण पण राण विग्घ परघाय ।
 भय कुच्छ मिच्छ सास, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥
 तणुमद्व धेय दुजुयल, कसाय उज्झोयगोयदुगनिहा ।
 तसवीसाऽऽउ परिता तित्तविवागाणुपुगीभो ॥ १९ ॥
 घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास ।
 जाइतिग जियविवागा, भाऊ चउरो भयत्रियागा ॥ २० ॥
 नामधुयोइय चठनजुवघायसाहारणियर जोयतिग ।
 पुमालविवागि वधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥
 मूलपयडीण अडसत्तछेगऽधेसु तिणि भूगारा ।
 अप्पतरा तिय चउरो, अवट्टिया न ॥ अवत्तव्यो ॥ २२ ॥
 एगादहिगे भूभो, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
 तम्मत्तोऽवट्टियभो पढमे समए अवत्तव्यो ॥ २३ ॥
 नव छ चउ दसे दु दु ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
 तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव थद्व दस दुणि ॥ २४ ॥
 तिपणउअट्टनअहिया, चीसा तीसंगतीस इग नाम ।
 उम्मगअट्टतिवधा, सेमेसु य ठाणमिक्कि ॥ २५ ॥

वीसऽपरकोटिकोटी, नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
 तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तिचीसा ॥ २६ ॥
 मुत्तु अकसायठिई, यार मुहुत्ता जदण्ण वयणिण ।
 अट्टऽट्ट नामगोएसु सेसणसु मुहुत्ततो ॥ २७ ॥
 विग्घावरणअसाए, तीस अट्टार सुहुमविगलतिगे ।
 पढमागिइसवयणे, दम्म दसुवरिमेसु दुगबुद्धी ॥ २८ ॥
 चालीस कसाएसु, मिउल्लुनिट्ठण्डसुरहिसियमहुरे ।
 दस दोसद्वसमहिया, ते दालिइचिलईण ॥ २९ ॥
 दस सुहविहगइउणे, सुरदुग विरछक पुरिसरइहासे ।
 मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पत्तरस ॥ ३० ॥
 भय कुच्छ अरइमोए, घिउद्वितिरिउरल्लनरयदुग नीए ।
 तेयपण अधिरछणे, तसचउ थायर इग पणिदी ॥ ३१ ॥
 नपु कुल्लगइ सासचऊ, गुरुकक्काडकक्कसीय दुग्गवे ।
 वीस कोडाकोटी, पयइयायाह वाससया ॥ ३२ ॥
 गुरु कोडिकोडिमतो, तिथाहाराण भिणमुहु गाहा ।
 लहुठिइ सखगुण्णा, नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥ ३३ ॥
 इगविगल पुण्यकोटि, पलियासयस आउचउ अमणा ।
 निरयकमाण छमासा अयाह सेसाण भयतसो ॥ ३४ ॥
 लहुठिइयधो सजलणलोह पणविग्घनाणदसेसु ।
 भिन्नमुहुत्त ते अट्ट जमुणे वारस य साए ॥ ३५ ॥
 वो इग मासो पक्कयो सजलणतिगे पुमट्टपरिसाणि ।
 सेसाणुमोसायो, मिच्छत्तठिई इ ज लद्ध ॥ ३६ ॥
 अयमुक्कोसो मिंदिसु, पलियासयसहीण लहुवधो ।
 कम्मसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहम्मसगुणिओ ॥ ३७ ॥
 विगलि असन्निमु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसखभागूणो ।
 सुरनरयाउ समादससहस्स मेसाउ खुट्टमय ॥ ३८ ॥

सद्गण वि लक्ष्मणे, भिन्नमुद्र अगद आउजिह्वे वि ।
 वेद सुराउसम निणमनमुद्र विंति आहार ॥ ३९ ॥
 सत्तरस समहिया विर, इगणुपाणुमि द्रुति गुहमया ।
 सगतीमसयतिरुत्तर, पाणू पुण इगमुद्रुत्तमि ॥ ४० ॥
 पणसदिदसहस पणसय, छत्तीसा इगमुद्रुत्त गुहमया ।
 आषलियाण दो सय, छापणा पणमुद्रुत्तमय ॥ ४१ ॥
 अयिरसम्मो नित्य, आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
 मिच्छदिही बघद, जिह्वदिह वेसपयडीण ॥ ४२ ॥
 विगलसुहमाउगतिग, तिरिमणुया सुरविउविनिरयदुग ।
 एगिदिधायरयय, आ इमाणा सुदकोस ॥ ४३ ॥
 तिरिउरलदुगुज्जोय, छियदु सुरनिरय सेम चउगइया ।
 आहारजिणमपुव्योऽनिपट्टि सजलण पुरिस लहु ॥ ४४ ॥
 सायजसुशावरणा, विगध सुदुमो विउविगळ असनी ।
 सनी वि भाउवायरपज्जेगिंदी उ सेसाण ॥ ४५ ॥
 उकोसजहसेयर, भगा सार्द अयाद धुउ अधुवा ।
 चउदा सग अजहणो, सेसतिगे भाउचउसु दुदा ॥ ४६ ॥
 चउमेओ अजहणो, सजलणायरणायगविगघाण ।
 सेसतिगि भाइअधुओ, सह चउदा सेसपयडीण ॥ ४७ ॥
 साणाइअपु पने, अयरतोकोडिकोडिमो नऽहिगो ।
 यधो न हु हीणो न य, मिच्छे भाविययरसन्निमि ॥ ४८ ॥
 जइउहुअधो वायर पज्ज अससगुण सुदुमपज्जऽहिगो ।
 एसि अपज्जाण उहु सुहुमेअरअपज्जपज्ज गुरु ॥ ४९ ॥
 लहु विय पज्जअपज्ज, अपजेयर विय गुरु हिगो एव ।
 ति चउ असनिमु नयर, ससगुणो वियअमणपज्जे ॥ ५० ॥
 तो जइजिह्वो यधो, सखगुणो वेसविरय इस्सियरो ।
 सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइयघाणुकम ससगुणा ॥ ५१ ॥

सव्याण वि जिह्मिर्द्वि असुभा ज साऽइ सन्मिलेसेण ।
 इयरा विमोहिओ पुण, मुत्त नरअमरतिरियाड ॥ ५२ ॥
 सुट्टमनिगोयाइसणऽपजोग यायरयत्रिगलअमणमणा ।
 अपज ल्ह पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असखगुणो ॥ ५३ ॥
 असमत्तसुओसो, पज जहघ्नियर पच ठिइठाणा ।
 अपजेयर सायगुणा, परमपज्जयिअ असखगुणा ॥ ५४ ॥
 पइसणमभसगुणयिरिय अपज पइठिइमसल्लोगसमा ।
 अन्यवसाया अहिया सत्तसु आउसु असखगुणा ॥ ५५ ॥
 तिरिनरयतिजोयाण, नरअचजुय सचउपल्ल तेसट्ठ ।
 थायरचडइगविगलाययेसु पणसीइमयमयरा ॥ ५६ ॥
 अपढमसघयणागिइसगई अणमिच्छदुभगधीणतिग ।
 निय नपु इथि दुतीस, पणिदिमु अथघठिइ परमा ॥ ५७ ॥
 निजयाइसु गेयिजे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठ ।
 पणसीइ सययथघो, पल्लतिग सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥
 समपादमल्लकाल तिरिदुगनीपसु आउ अतमुट्ठ ।
 उरलि असखपरट्ठा, सायठिई पुअओइणा ॥ ५९ ॥
 जलहिसय पणसीय, परघुस्सासे पणिदि तमचउगे ।
 यत्तीस सुदविदगइपुमसुमगतिगुच्चउरसे ॥ ६० ॥
 असुल्लगइजाइआगिइसघयणाहारनरयजोयदुग ।
 घिरसुमनसथावरदमनपुइत्थीदुजुयलममाय ॥ ६१ ॥
 समपादतमुट्ठस, मणुदुगजिणअइरउरल्लगेमु ।
 तिच्चीसयरा परमो, अतमुट्ठ ल्ह वि आउजिणे ॥ ६२ ॥
 तिओ अमुहसुदाण, सक्समिमोहिओ विअज्जयथो ।
 भदरसो गिरिमहिरयजल्लरेहासरिअसाणहि ॥ ६३ ॥
 चउठाणाइ अमुहा, सुदऽअहा विग्घदेसआवरणा ।
 पुमसजलणिगट्ठतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

निवृत्तदुरसो सहजो, दुनिचउभागकट्टिइफमागतो ।
 इगडाणाइ असुहो, अमुहाण सुहो मुहाण ॥ ६५ ॥
 निव्वमिगथाउरायव मुगमिच्छा जिगलसुहुमनरपतिग ।
 तिरिमणुपाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेयदु सुरनिरया ॥ ६६ ॥
 विउत्तिमुहाहारदुग, मुग्गइयत्तचउतेयमिणसाय ।
 समचउपरघातसदम्पणिदिसामुच्च रउगा उ ॥ ६७ ॥
 तमतमगा उज्जोय, मम्मसुगा मणुयउरलदुगयइर ।
 अपमत्तो अमराउ, चउगइमिच्छा उ सेसाण ॥ ६८ ॥
 थीणतिग अण मिच्छ, मदरस मजमुम्मुहो मिच्छो ।
 पियतियकसाय अपिरय, देम पमत्तो भरइसोए ॥ ६९ ॥
 अपमाइ हारगदुग, दुनिइअमुउगहासरइकुच्छा ।
 मयमुयघायमपुट्ठो, अनियट्ठी पुरिसअजलणे ॥ ७० ॥
 विग्गायरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगभाऊ ।
 वेउत्तिउत्तममरा, निरया उज्जोयउरलदुग ॥ ७१ ॥
 तिरिदुगनिध तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथायय ।
 आमुहुमायय सम्मो, य सायथिरसुमज्जसा सिमरा ॥ ७२ ॥
 तसपत्ततेयचउमणुग्गइदुगपणिदिसासपरपुच्च ।
 सययणागिइत्तपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥
 चउतेययत्त येयणियनामणुत्तोसु सेसपुवय्यो ।
 घाईण अजइगो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥
 सेसमि दुहा इगदुगणुगाइ जा अमयणत्तमुणियाणू ।
 खधा उरलोच्चियवग्गणा उ तह अगहर्णतरिया ॥ ७५ ॥
 एमेव विउत्त्याहारतेयमासाणुपाणमणकम्मे ।
 सुहुमा कमायगाहो, ऊणुणमुलअसावसो ॥ ७६ ॥
 इत्तिकइया सिद्धाणतसा अतरेसु अगहणा ।
 सवय अहनुचिया, नियणतमाहिया जिहा ॥ ७७ ॥

अतिमचउफासदुगघपचयन्नरसम्मलघदल ।
 सत्रजियणतगुणरम्मणुजुत्तमणतयपएस ॥ ७८ ॥
 एगपएसोगाढ, नियमत्रपएसओ गहेइ जिओ ।
 येओ आउ तदसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥
 त्रिघायरणे मोहे, सत्रोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
 तत्तम फुडत्त न हयइ, डिईविसेसेण सेसाण ॥ ८० ॥
 नियनाइलद्धलियाणतसो होइ सन्नघाइण ।
 वच्चतीण विमज्जइ, सेम्म सेसाण पइसमय ॥ ८१ ॥
 सम्मदरसत्रविरई उ अणविसनोयदससयगे य ।
 मोहसमसतत्तगगे, स्त्रीणसनोगियर गुणमेढी ॥ ८२ ॥
 गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादमरगुणणाए ।
 एयगुणा पुण कमसो, असत्तगुणनिज्जरा जीरा ॥ ८३ ॥
 पलियामत्तसमुह, सासणदयरगुण अतर हम्मस ।
 गुह मिच्छि वे छसढी, दयरगुणे पुग्गलद्धतो ॥ ८४ ॥
 उद्धार अद्ध खित्त, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
 केसत्रहारो दीघोदहियाउतसाइपरिमाण ॥ ८५ ॥
 दग्गे सित्ते काले, भावे चउह दुह वायरो सुहुमो ।
 होइ अणतुस्मप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरद्धो ॥ ८६ ॥
 उरलाइसत्तगेण, एगजिओ मुयइ फुमिय सन्नअणू ।
 जत्तियकालि स धूगे, दग्गे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥
 लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागउघठाणा य ।
 जहतइकममरणेण, पुट्टा सित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥
 अय्ययरपयडिग्घी, उक्कडजोगी य सत्ति पज्जत्तो ।
 दुणद पणमुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥
 मिच्छ अजयचउ आऊ, त्रितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
 छण्ह सतरस सुहुमो, अजया देसा त्रितिकसाए ॥ ९० ॥

पण अनियद्दी सुखगहनराउसुरसुमगनिगधिउन्निदुग ।
 समचउरसमसाय, यहर मिच्छो य सम्मो या ॥ ९१ ॥
 निहापयलादुनुयग्मयबुच्छातित्य सम्मगो सुजइ ।
 आहारदुग सेसा, उद्धोमपणसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥
 सुमुणी दुग्गि असग्गि, नरयतिग सुराउ सुखिउन्निदुग ।
 सम्मो जिण जहण, सुद्धमन्निगोयाइराणि सेसा ॥ ९३ ॥
 दमणछगभयबुच्छाधितित्तिनुरियकसायविग्घनाणाण ।
 मूलछगेऽणुओसो, चउह दुहा सेसि सम्मय ॥ ९४ ॥
 सेदिभससिज्जसे, जोगट्टाणाणि पयट्ठिदिभेया ।
 दिइयधज्जयसायाणुभागटाणा असग्गुणा ॥ ९५ ॥
 तत्तो कम्मपपसा अणतगुणिया समो रसच्छेया ।
 जोगा पयट्ठिपपस, दिइयणुभाग कसायामो ॥ ९६ ॥
 चउदसरज्जु लोओ, पुज्जिअ ओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
 तद्दीहेगपपसा, सेदा पयरो य तग्गो ॥ ९७ ॥
 अण दस अपुमिग्गी, धेय चउक्क च पुरिमधेयं च ।
 दो दो पगतत्तिप, सरित्ते सत्तिस् उरसमेइ ॥ ९८ ॥
 अण मिच्छ मीस मम्म, तिआउइगविगल दीणत्तिगुजोय ।
 त्तिरिनरयथाघरदुग, साहारायवधइनपुत्थी ॥ ९९ ॥
 छग पु सजलणा दो, निदा विग्घवरणपथए नाणी ।
 देविंदस्सुरिलिदिय, मयगभिण आयसरणद्दा ॥ १०० ॥

२ पञ्चम कर्मग्रन्थ की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

अ	पृ०	अ	पृ०
अण दत्त नपुसिन्धी	३१३	अन्तिम चउपासदुग्ध	२१७
अण मिच्छ मीस सम्म	३२८	क	
अपदमसघयणागिह	१५८	केजलभुयलावरणा	४२
अपमाइ हारगदुग	१८८	र	
अप्ययरपयद्विधधी	२८४	खगइतिरिदुग नीय	२१
अयमुक्कोसो गिन्दिमु	१११	ग	
अविरयसम्मो तिथ	१२२	गुणसेनीदलरयणा	८३
असमत्तमुक्कोसो	१४६	गुरकोदिकोदिको	६४
अमुखगइगाइ	१६८	घ	
आ		घणघाइ दुगोयणिणा	२४
आहारसत्तगं वा	३७	च	
इ		चउगणाइ असुहा	१७३
इक्किक्कहिया	२१५	चउतेयवच्च वेयणिय	१६७
इगविगलपुअक्कोडि	६८	चउदस रज्जू लोउ	३०८
उ		चउभेओ अन्नहओ	१३६
उक्कोस जहप्पेयर	१३३	चालीस कसाण्णु	६०
उदारअद्विग	२६०	छ	
उरलाइसत्तगेण	२७३	छग पु सजलणा	३२६
ए		ज	
एगपपमोगाठ	२१७	जइलहुवधो यायर	१४१
एगादहिगे भूउ	६६	जलहिसय पणसीय	१६५
एमेव विउम्वाहार	२०८		

॥	४०	समयादवमुहुत	१६८
षष्ठचउतेयकम्मा	४	सम्मदरसव्वविरह	२४४
विउग्विसुरादारदुग	१८३	सव्वाणवि लुट्ठुघे	११७
विगलमुहुमाउगतिग	१२८	सव्वाणवि निट्ठुग्धि	१४६
विगलिअसच्चिसु निग्गे	१११	साणाइ अपुव्वते	१३८
विग्धावरण असाण	८६	सायजमुच्चावरणा	१३९
विग्धावरणे सुहुमो	१८६	सासणमीसेसु पुव	६५
विग्धावरणे मोहे	२२३	मुमुणी दुज्जि असघ्नी	२६२
विजमाइमु गविज्जे	१६२	सुरनरत्तिमुच्चसाय	४७
वीसपरकोडिकोडी	८७	सुहुमनिगोयाहसण	१४६
॥		सेहि अमस्सिज्जसे	३००
सपकण नोकमाया	४२	सेसम्मि दुदा	१२७
सत्तरससमहिदा किर	११६	ह	
समयादसत्त्वकाल	१६३	हासाहृयल्लदुग	६

३ अनुवाद तथा टिप्पण्ये उद्धृत अवतरणांका अक्षरादि अनुक्रम

अ	पृ०	प०	अवरो भिन्नमुद्धृतो	१७०	१९
अगहनंतरियाओ	२१४	१३	अविभाग पट्टिपद्यो	३०२	२२
अद्वैतीय तु लघा	१२०	२१	अवशाच्छिद्यो उद्धृतो	२	२४
अद्वाराणऽगह्यो	१३६	२०	अष्टानां क्रमणा मध्यस्थ	१८७	१९
अद्वारसह स्वगतो	१३७	२०	अस्मिन्निमित्त मूढमै	२६७	२२
अणदसनपुमिन्धी	६१३	२३	अहव इमो दृष्टाह	२७९	१५
अणमिच्छमीससम्भ	३२९	२०	अहवा दमणमोह	३१७	१२
अणुपुष्पीण उद्धृतो	५४	१७	अहीमां कोइ पूछ अ	६३	१९
अणुमत्तासत्वेना	२१४	६	अठा कोडाकोडा	९६	२०
अणुमागद्वारेणु	२७९	२४	अतो कोडाकोडा-		
अतो ये सास्वादुनम-	२८८	११	शिष्टपति	९६	२२
अधुना गुणमणित्वरूप	२४९	१९	आ		
अद्वास्वये प०तो	३२८	१९	आवध्व अवविवारा	५५	२४
अद्वा परिविक्तापु	३१७	१६	आवस्स ध आवाहा	१००	१९
अन्ने भणति अविरथ	३२२	२५	आवरणमस्तव्यमर्थ	१७३	२२
अन्ये तु व्यावृत्त	२७७	२३	आह यदि दृष्टा	२६०	२४
अन्नेस्त्वैवमभिदधति	३३५	१३	आहारगतिययरा	४०	२१
अन्यत्राप्युक्त 'उवसत'	३५५	१६	आहारकतारार तथा	१२२	१७
अप्य वधतो बहुवच	६६	२२	आहारकगरीर चोक्त-	२७४	१९
अप्यदरा पुन ताह	५९	१८	इ		
अप्यतरपगइयधे	२८५	२४	इगङ्गाह मूढिपारण	६५	१९
अमणानुतरगेविज्ज	१५३	२३	इयि उद्धृत नपुंस	३३३	१८
अरइरण उद्धृतो	५७	२१	इह दिवा स्थिति	९३	२२

इह च 'सचनु पल्यम्' १६६ १५
इह च बहुषु सूत्रादर्शेषु २६४ ११

उ

उक्कोस रमस्सद्ध २३० ५
उक्कडनोगो सण्णी २८६ २३
उत्तम ससतिराचूगो ३२८ ६
उच्चं तिथ्य सम्म २४ २३
उदयगवार णराणू ३१८ १९
उदयावलिण्ण उट्ठि २५४ २१
उदय वज्जिय इत्थी ३१९ १५
उत्तिमयदलोक्कसुरव ३०८ १८
उवसामगसेडिगयस्स ३१ १३
उवसमसम्मत्ताओ ३४ २०
उवसमत्तदातो पडमाणो ७९ ५
उवरिह्वाओ दिग्गिड २४८ १५
उवसम चरियाहिमुहा ३२२ १९
उवसाम उवणीया ३५५ १९
उत्ताप्पिणिसमपसु २७९ २२
उत्ताप्ता निस्मासो १२० १९
उवसमसेडोदो पुण ३१७ १९

ए

एण्हि मुहुमेहिं खेत २७० २१
एण्हि मुहुम उद्धारपलि २६८ २२
एक्काओवि एक्कत्तीस ८४ ११
एकमेव दुक्खुत्तो ३२७ २४
एके सु आचार्या एव २७५ १८

एक्केक्के पुण वयो ३०३ १९
एगपप्सोगादे २२२ २२
एगमेव दुक्खुत्तो २५९ २४
एगादहिगे पढमो ६६ १७
एगा परमाणूण २०६ १८
एगाहिअ वेआहिअ २६५ १४
एगाहिअ वेहिअ २६६ १९
एतस्मिन् सूहमे २७४ २२
एयक्खेत्तोगाड २२२ १०
एयावया वेव गणिण्ण २६२ ८
एय पणअदी पण्ण ११६ ९
एवमजोगा जोगा २०६ १८
एसेगिदियडहरो ११२ १५

ऐ

ऐ आठ प्रकृति सम्यक् व १८६ २०

ओ

ओप्पुक्कोसो सच्चिस्स १८६ ११
ओरालियस्स गहणप्पा २०६ २२
ओरालविउव्वाहार २०८ २२
ओरालियवेउन्निय २१९ २०

क

कमसो पुड्डम्हिण २२३ १९
कम्मोवरिं पुवेयर २१४ २०
कर्मासय पुण्यापुण्यरूप ८९ २२
कायवाह्मन १७१ २४
कारणमेव तदन्य २१८ ८

कालो परमनिन्दो	१२०	१७
पुनः वम क्षेमम्	४९	१८
पादाकोटीभयरोक्ता	९७	१८
क्षेत्रसमाप्त वृहद्वृत्ति	२६५	२३

२२

सत्य उवसमिष विसोही	२७	१३
स्वर्गा य श्रीणमाहे	२४६	१२
स्वर्गा य श्रीणमाहो	२४७	२१
श्रीणाह्नितो भयस्व	२४३	२१
श्रीणे स्वर्गानिगो	३३५	७

२३

गद् भगुपुत्रि वा दो	३२९	२२
गर्गित मुदु-मेयो	२७	२०
गुणसद्वि अपमत्ता	१२६	१५
गुणसेवी निष्कवेवो	२४८	२०

२४

पादुपनिर्गो दलित्य	२५२	२३
पातितिसिद्ध कसाया	६	१९
" "	१५	२२
धोसाह्न निष्कवेवो	१०८	२०

२५

घटगद्या पञ्चता	३१६	२०
" "	२५४	३३
घटतिगण दयाह	१८०	६
घटगोदुरकालादो	३२६	१९
घरिमभपुण्णमवत्यो	२९४	२१

२६

घटमाय कालदुश्चरिम	३३१	९
घटमायीसे चतु इगयीसे	७४	११
घातिगसेसा पर	७९	४

२७

जतन कोद्व वा	३३	८
ज वज्रहृ सं तु	९६	१७
ज वज्रहृति भागिच	९७	२२
ज समय जावदयाह	२२८	१६
ज सन्ध्यातिपरा	२२८	२०
जदि मरदि सासणो	३२६	२३
जदि सत्तरिस्त णत्तिय	११६	१७
जमिह निष्कवेविताय	९६	२४
जा अपमत्तो सत्तद्व	९१	१९
जा णगदिजह्मा	१०८	१०
जा ज समेच्छ द्वेद	५३	१२
जीवस्मज्जसाया	२२१	१९
जुगव सजोगिता	३३९	२५
जोगा पयद्विपदेसा	३०७	२०
जोगो विरिय यामो	१५०	२६

२८

ठिईवघो वलस्म ठिई	५८	२२
ठिईवघज्जसाया	३००	२३

२९

णत्थि भण उवसमगे	३२३	१२
णम चठवीस वारस	७४	१७

गरतिरिया सेसाठ	१०९	१४
गरतिरियम्बणराउग	३२७	४
गिदम्बगो तद्गणे	३३०	२१
गिरयतिरिक्खमुराउग	३३८	२३
त		
तइयकसायाणुदये	४४	२४
तच्चाणुपुत्तिम्महिया	३३७	२१
तग्गिम्मोसकैठ	९७	२०
तत्तो सल्लाइआ	२०६	२०
तत्तो य न्त्तणतिग	३१९	७
तत्र जघ यस्सितेरारम्भ	१५४	२२
तद्मस्सिन्नइमाग	३३५	५
तथा धोक्त सतकवूर्णो	१२४	१५
तथा धोक्तमागमे	३२४	२१
तथा 'आहारकदिक'	१२५	१६
तथा च चक्रियेन्येन	२६७	१८
तस्मि भरे गिक्काणं	३२८	१०
तत्सम्मत्तद्वाण	३२६	२१
तिणिमया छुतीसा	११९	२२
तिणिग्ग दम अत्त एणाणि	६९	२
तिथाहारा पुगव	४१	१६
तिययराहाराण वधे	३८	२३
तिमु मिच्छुय नियमा	३५	२२
तिस्मिभ्रतत्त्वभिर्वा	२०	१६
ठउदुग ठेरिच्छे	९९	२०
तेत्तुग वण्णवत्त	१७	२१
तेवटि पमत्ते सोग	१२६	१३

ट

दसणमोह तिथिह	३३	१५
दमणमोहे वि तहा	२५५	२३
दसणमोहस्ववणा	३३०	१९
दसणमोहस्ववणे	३२५	३
दस वीस ण्णकारस	७०	२३
दस सेयाण वीसा	९२	२३
दुत्तिहा विवागओ पुण	५२	१७
देवद्विकस्य तु ययपि	११५	२३
देवाउग पमत्तो	१२३	१६
देवा पुण ण्णदिय	१२९	१६
देवायुर्व पारम्भस्य	१२६	२३
देवेमु देवमणुरे	३३१	१८
न्तोन्नपूर्वकोटिभावना	१६५	१५
दो मास णा अर्द्ध	१०६	२३

ध

धुववधिधुवोदय	४	१३
--------------	---	----

न

नवद्वचउहा थम्भइ	६७	२०
नाणतरायदसण	४	२१
नाणतरायनिहा	२९५	२२
निम्माण धिराधिर तय	१६	२२
नियहेत्तममवे वि हु	२	२२
निरवकमाण छुमासा	१०१	२३

प

पञ्चवसाणे सो वा	३२५	२५
-----------------	-----	----

कालो परमनिरुद्धो	१२०	१७
कुशल कम क्षमम्	४९	१८
कोडाकोदीभयरोवमाण	९७	१८
क्षेत्रसमाप्त बृहद्भृति	२६५	२३

र

खय उवसमिष विमोही	२७	१३
खवगे य खीणमोहो	२४६	१२
खवगो य खीणमोहो	२४७	२१
खीणाश्रुतिगे भसम्	२४३	२१
खीणे खवगनिगणे	३३५	७

ग

गह् अणुपुम्भि दो दो	३२९	२२
गतिस्ति सुदुष्मेयो	२७	२०
गुणसदित् अपमत्ते	१२६	१५
गुणसेडी निक्खवो	२४८	२०

घ

घाह्पनिहो दलिय	२५२	२३
घातित्तिमिच्छ कसाया	६	१९
" "	१५	२२
घोसाह् निवुवमो	१७८	२०

च

चउगइया पज्जता	३१९	२०
" "	११६	३३
चउतिट्ठगण रसाह्	१८०	६
चइणोदरवालान्	३२६	१९
चरिमअपुण्णमवायो	२९४	२१

छ

छउमत्य कालदुघरिम	३१५	९
छव्वावीसे चउ इगवीसे	७४	११
छालिगमेसा पर	७९	४

ज

जतेण कोह्व वा	३३	८
ज वज्झइ सं तु	९६	१७
ज वज्झइति भणिमं	९७	२२
ज समय पावइयाइ	२२८	१६
ज सव्वघातिपत्तं	२२८	२०
जदि मरदि सासणो	३२६	२३
जदि सत्तरिस्स णत्तिप-	११६	१७
जमिह निक्काइयत्तिय	९६	२४
जा अपमत्तो सत्तद	६१	१९
जा एगिदिजह्वा	१०८	१०
जा ज ममेच्च हेउं	५१	१२
जीवस्स-मवसाया	२२१	१९
जुगव सजोगिता	३३९	२५
जोगा पयट्ठिपदेसा	३०७	२०
जोगो विरियं धम्मो	१५०	२६

ठ

ठिह्वघो दलस्स ठिह्व	५८	२२
ठिह्वघज्झवसाया	३००	२३

ण

णत्थि अण उवसमगं	३३३	१२
णम चउवीस वारस	७४	१७

लोगस्म पणसेमु	२७९	२०	सम्वाण ण्डि असुभा	१२५	२१
व			" " "	१४६	२४
चगुक्कोमण्डिण	११०	१	सम्वावरणं दम्ब	२३२	१०
वासेसु अग्राणि	२६६	२१	सम्बुक्कोसरसो जो	२२९	२१
वासूप वासूअ घरदि-	१४५	१३	सम्बुवसमणा मोहरसेव	२६	२१
विज्याइसु दो घारे	१९	२१	सब्बे वि य अइयारा	४५	२१
विणिगारिय जा गण्डइ	३	२४	सादि अपघवथे	१५	११
वीयकसायाणुदये	४४	२२	सापु यारस हारग	११९	१८
वृद्धाम्बु क्याचक्षते	२६८	१९	सासणमीसे मीस	३७	९
वेउमिद्धिक्कि त	११४	१५	साहारमप्यनत	३२९	२४
वोलीणेषु दोसु	१०१	१७	सीदी सट्ठी ताल	१२०	११
श			मुक्किलसुरभीमहुराण	९१	२३
अणे समाप्ती च	३२६	८	मुत्तवेदनीयादिकर्म	८८	१८
स			सुरनारयाउयाण वस	११९	१५
'सजमुमुदु'ति	१८६	१२	सुरनारयाउयाण अयरा	१०१	१५
ससारम्मि अइतो	२७३	१९	मुहदुक्कणिमितादो	२२५	१२
सयमेतत् केवल	१४०	२३	सेडि असखेग्गसो	३००	२१
मत्तावीसहिय सय	७३	१५	सेसाण पज्जतो	१११	१२
स्वगंरसगन्ध	२१७	२८	सेमाणुक्कोसाउ	१०८	१३
सम्मत्तस्स सुयस्स य	१९	१९	सेसा गाइ अधुवा	२९५	२४
सम्मत्तदेससपुस	२४३	१९	सैद्धान्तिकाना तावदेतत्	१५	२०
सम्मत्तुप्पत्तीये	२४६	१०	सोलट्टेक्किगिद्धक्क	३३९	१९
सम्यग्दृष्टेरथ सप्तम-	४०	७	सोधक्कमाउया पुण	१०३	१२
मयलरसरपगधेहि	०२२	१५	ह		
सग्गदिदीणमुक्कसओ	१८७	२४	होइ अणाइ अणतो	१०	२०
सम्वाणवि आहार	३७	२२			

४ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद तथा टिप्पणी में आगत पारिभाषिक शब्दोंका कोश

अ

अनुशाल कम ४९ १७,
अग्रदण्डवराणा २०६ १७,
अगुस्त्य २१९ २३, २२० २२,
अघातिनी ३ ६, ४३ ११,
अपघन्यवध १५१ ११,
अद्व २६२ ३, २६२ १५,
अद्वडाह २६२ २, २६२ १४
अद्यापन्य २७२ १५,
अद्यापन्योपन २७२ १४,
अद्यासागर २७२ १५,
अध्यवसायस्थान १५६ ७३,
अधुवबधिनी ७ ११,
अधुबोदया २ १८, २० ७,
अधुवसत्ताका ३ १,
अधुवध १५ १७, १३४ १७
अनन्ताणुवराणा २०६ १५
अनन्तानाणुवराणा २०६ १६
अनादिअमत्त १० १८
अनादिमात्त ११ ८,
अनादिधध १५ १५, १३४ १५,

अनिवृत्तिकरण २८ २,
अनुकृष्टवध १३४ ६,
अन्न कोटोकोटी मागार ९५ ११,
अन्तरकरण ३० १८,
अपरावर्तमाना ३ १३,
अपवर्तन ९८ १९,
अपूर्वस्त्रण २८ ९,
अवाधाकार ९२ १५,
अयुत २६२ ५,
अयुताह २६२ ५,
अर्थनिपूर २६२ ५,
अर्थनिपूरह २६२ ५,
अद्वप्रवृत्तपरिवर्तन २८२ ५,
अद्वतरवध ६४ १९,
अवस्थितवध ६५ ८, ६६ १२,
अवस्थवध ६५ १२, ६६ १५,
अवध २६२ ४,
अववाह २६२ ३,
अवसपिणी २६९ ३, २७१ १७,
अविभागीप्रतिच्छेद ३०१ २४,
अमन्याताणुवराणा २०६ १४,

१ इतिमे प्राय उदा शब्दोंको स्थान दिया गया है जिनकी परिभाषा अनुवाद
या टिप्पणी में दी गई है। प्रत्येक शब्द के जो जो अर्थ पृष्ठ वा सूचक हैं तथा
विन्दु के बाँध वा अङ्क पंक्ति का सूचक है।

आ

आत्माहुल २६३ २१,
 आवलो १०० ८,
 आहारकयोग्यनवयवर्गणा २०९ १५,
 आहारकयोग्य उल्कृष्टवर्गणा २०० १७,
 आहारकशरीर २१२ ४,

उ

उद्भासनिश्चास १२० २२, १२१ १,
 उद्भासनिश्चासकाल १०१ ३,
 उल्कृष्टवर्ग १३८ ३,
 उदल २६० ४,
 उदलान्न २६२ ४,
 उन्मूलकगुणलक्षणिका २६८ ४,
 उन्मूलक २६८ २०,
 उन्मूलकमज्ञा २६८ ६,
 उन्मूलिका २६० ३, २७१ १६,
 उद्वर्तन १८ १८,
 उद्वलन २५८ २०,
 उद्वारपल्ल २७१ २१,
 उद्वारपल्लोपमकाल २७१ २३,
 उद्वारसागरापम २७१ २३,
 उर्ध्वरेणु २६४ ८,
 उपनामश्रणि ३१८ ३,

ऊ

ऊह २६२ १५,
 ऊहा २६२ १५,

ए

एकम्यानि १७९ ४,

औ

औदारिकवर्गणा २०७ ५,
 औदारिकशरीर २११ २४,

क

कमल २६२ १३,
 कमलान्न २६२ १३,
 करणलक्षि २७ २,
 कर्मवर्गणास्कन्ध २०५ ११,
 कर्मयोग्यनवयवर्गणा २११ ८,
 कर्मयोग्यउल्कृष्टवर्गणा २११ १०,
 कमशरीर २१२ ८,
 कर्मवर्गणा २१७ १०,
 कमद्रव्यपरिवर्तन २८१ २३,
 कालपरिवर्तन २८२ १४,
 कृतकरण ३३० १०,
 कुशलकर्म ६९ १६,
 कुमुद २६० १३,
 कुमुदान्न २६२ १०,
 कोटिकोटि ८८ १,
 क्षपकग्रणि ३२९ १२,
 क्षुद्रभव १२० ३, १०१ १२,
 क्षेत्रपरिवर्तन २८२ ६,
 क्षेत्रप्रियाका ३ १६,

ग

गम्युत २६४ २०,
 गुणधर्माविवर्धना २७ २२,
 गुणधर्माविवर्धना २४४ १६,
 गुणधर्माविवर्धना २४४ २०, २४८ १२,
 २४९ १६, २५३ ५,

गुणद्वानि ३०४ २०,
 गुणाणु २२१ १७,
 गुणधर्माविवर्धना २१९ २२, २२० २१,
 ग्रन्थि २७ २२,

घ

घटिका १२१ ५,
 घातिनी ३ ३, ४३ १०,

च

चतु स्थानिक १७९ ११,
 चूलिकान्न १६२ ६,
 चूलिका २६२ ६,

ज

जघनयवध १३४ ९,
 जीवविपाका ३ १६,
 जीवविपाकिनी ५५ ३,

त

तैजसप्रायोग्यजघनयवध २०९ २४,
 तैजसप्रायोग्य उद्वृण्ण २१० १,
 तैजसशरीर २१२ ५,
 त्रसरेणु २६४ ९, २६५ ७,

त्रिस्थानिक १७० ८,
 तुटिताङ्ग २६२ १, २६२ १४,
 तुटिनि २६२ २, २६२ १४,
 तुटिरेणु २६५ ७,

द

देशाघातिनी ४४ १७,
 द्रव्यपरिवर्तन २८२ ८,
 द्विस्थानिक १७९ ६,

ध

धनुष २६४ २२,
 ध्रुवध्विनी २८, ५ १,
 ध्रुवसत्ताका २ १९,
 ध्रुववध १५ १६, १३४ १६,
 ध्रुवोदया २ १४,

न

नयुत २६२ ६,
 नयुताङ्ग २६२ ५,
 नलिन २६२ ४, २६२ १२,
 नलिनाङ्ग २६२ ४, २६२ १२,
 नाली १२० २५, १२१ ५,
 निकाचित ९८ १७,
 निरुपक्रम आयु ९९ २,
 नाकमद्रव्य परिवर्तन २८१ १५,

प

पद्य २६२ ४, २६२ १२,
 पद्याङ्ग २६२ ४, २६२ १२,

परमाणु २०० १,
 परायणमाना ३ १०,
 पन्थोपम २०० ११,
 पाद २६४ २१,
 पयनरुति ३ १, ४८ १०, ४९ १८,
 पुन्यनरुति ३ ८, ४८ १, ४९ १७,
 पुन्यनरुतिपात्र ३ २३,
 पुन्यन २१७ २२,
 पुन्यनरावर्त ७७ ८,
 पुन्यनरविवर्तन २८२ ४,
 पुन्य १९ १५, २६२ १,
 पुन्य २६१ २०,
 महाविषय ५८ ११,
 मज्ज ३०८ ११, ३१२ ३,
 महाविषय ५० ४, २०५ ११,
 मज्ज २०५ ७,
 मज्जानुल २६४ २४, २६५ १२,
 मज्ज २६४ ५,
 मज्ज २६२ ५,
 मज्ज १७० २१,

४

मज्ज ५८९,
 मज्जानुल ६१ ७,
 मज्ज उद्धारनरुति २६७ ५,
 मज्ज उद्धारनरुति २६७ ६,
 मज्ज मज्जानुल २६८ १०

मादर अद्रामगरोपम २६८ १२,
 मादर क्षेत्र पदयोपम २६९ १०,
 मादर क्षेत्र मागरोपम २६९ १२,
 मादर द्रव्यपुन्यनरावर्त २७२ १०
 २२, २६७ ७, २७७ ६,
 मादर क्षेत्रपुन्यनरावर्त २७६ ७ २०,
 मादर कालपुन्यनरावर्त २७६ ४,
 २७७ १८,
 मादर भा पुन्यनरावर्त २७६ ७,
 २७८ १८,

म

मवविषय ३ २१,
 मवपरिवर्तन २८३ १,
 भावपरिवर्तन २८३ २०,
 भावपरमाणु ३०१ २६,
 भावानु २२१ १७,
 भावप्रायोग्य ज्ञानयवर्तन २१० १०,
 भावप्रायोग्य उद्धारनरुति २१० १२,
 भूयस्करवर्तन ६० ८, ६६ ५,

म

मनोद्वययोग्य ज्ञानयवर्तन २१० २५
 मनोद्वययोग्य उद्धारनरुति २११ १,
 महाविषय २६१ ५,
 महाविषय २६१ २५
 महाविषय २६२ ११,
 महाविषय २६२ १२,

महापद्म २६२ १३,
 महापद्माङ्ग २६२ १२,
 महाकर्मल २६२ १३,
 महाकर्मलाङ्ग २६२ १२,
 महाकुमुद २६२ १४,
 महाकुमुदाङ्ग २६२ १३,
 महाकुमुदित २६२ १४,
 महाकुमुदितङ्ग २६२ १४,
 महाभङ्ग २६२ १५,
 महाभङ्गाङ्ग २६२ १५,
 महाङ्ग २६२ १५,
 महाङ्गाङ्ग २६२ १५,
 मिथ्यात्वमोहनीय ३३ ३, ३३ २५,
 मिथ्यामोहनीय ३३ २४
 सुदृष्ट १२० २५, १२१ ६,

य

यथाप्रवृत्तकृत् २८४,
 यथामध्यभाग २६४ २०,
 युक्ता २६४ १९,
 योग १५१ १३,
 योगस्थान ३०२ १९ ३०८ २१
 योजन २६४ २३

र

रपरेणु २६४ ९, २६५ ८,
 रसवन्ध ५९ ३, १७० ९,
 रसाणु २२० २,

ल

लताङ्ग २६१ २४,
 लता २६१ २४,
 लव १२० २४, १२१ ४,
 लोम्ब २६४ १९,

व

वर्ग ३०८ १९,
 वर्गगा १०६ ९, ३०४ २०,
 वितस्ति २६४ २१,
 विपाक ५२ ६,
 वीर्य परमाणु ३०१ २३,
 वैक्रिय शोथ्य जवय वर्गगा २०९ १,
 वैक्रिययोग्य वल्लुपवाणा २०९ ६,
 वैक्रियशरीर २१२ १,
 व्यवहारपरमाणु २६३ २५,
 व्यवहारपटवोपम काल २७१ १८
 व्यवहारपटव २७१ १६,

श

शीर्षमहेलिकाङ्ग २६२ ६, २६२ १६,
 शापमहेलिका २६२ ६, २६२ १६,
 श्रेणि ३०८ ११, ३१२ १,
 श्लेष्माश्मश्लिका २६४ ५,
 श्वासोच्छ्वासकाल १२१ ३,
 श्वासोच्छ्वासयोग्य जवयवर्गगा २१० १८
 श्वासोच्छ्वासयोग्य कृष्टवर्गगा २१० २०,

स

सख्याताणुवर्गणा २०६ १४,
 सज्ञासज्ञा २६५ ६,
 सम्यक्त्वमोहनाय ३३ २ २३,
 सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय ३३ ३,
 सर्वघातिनी ४३ १३,
 सादि भनन्त ११ ७,
 सादिसान्त ११ १०,
 सादिष्य १५ १३, १३४ १४,
 सास्वादुनसम्यग्दृष्टि ३४ २५,
 सूक्ष्म उद्धारपट्योपम २६८ ५,
 सूक्ष्म उद्धारसागरोपम २६८ ६,
 सूक्ष्म शब्दापट्योपम २६८ १५,
 सूक्ष्म अदासागरोपम २६९ २,
 सूक्ष्म क्षेत्रपट्योपम २७० ३,
 सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम २७० ४,

सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त २७३ १२
 २४, २७४ १२, २७ ९,
 सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त २७६ १०,
 सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त २७६ १०,
 २७७ २२, २७८ १३,
 सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त २७६ ११,
 २७८ २२,

स्तोक १२० २४, १२१ ४,
 स्थितिस्थान १५४ ४,
 स्थितिवच्च ५८ १,
 स्पन्दक ३०२ ५, ३०४ २०,

ह

हाथ २६४ २२,
 हुहुज्ज २६२ ४,
 हुहु २६२ ४,

५ पञ्चमकर्मग्रन्थकी गाथाओंमें आये हुए पिण्डप्रकृतिके
सूचक शब्दोंका कोश

शब्द	गाथा	शब्द	गाथा
आकृतित्रिक	८	दुभगत्रिक	५६
आयुत्रिक	४३	दो युगल	८, ६१, ९२
आचरण	२, ६५, ९९	नरत्रिक	१५
आहारकसप्तक	९	नरकत्रिक	१६, ५६, ६६, ९३
आहारकद्विक	६१, ६७, ७०, ९२	नरकद्विक	४३, ६१, ९९
उच्छ्वासचतुष्क	८	पराधातसप्तक	१५
उद्योतत्रिक	२१	प्रत्येक अष्टक	१४
उद्योतद्विक	६१	मनुष्यद्विक	९, ६२, ६८, ७३
औदारिकसप्तक	८	वण	१४
औदारिकद्विक	४४ ६८	वर्णचतुष्क	२, ६, १५, १७, ६७, ७३
रगतिद्विक	९	वर्णादिषीस	८
शोभद्विक	१४, २०	विक्लत्रिक	४३, ५६, ६६, ७१, ९९
नातित्रिक	२०	वेदत्रिक	८
सनुअष्टक	१४, १९	वैक्यिणकादश	९
सनुचतुष्क	२१	वैक्यिद्विक	४३, ६७, ९१, ९३
तिर्यग्द्विक	९, १६, ४४, ६६, ७२, ९९	वैक्यिपदक	४५, ७१
तिर्यक्त्रिक	५६	सुभगचतुष्क	२०
सैजसकामणसप्तक	८	सुभगत्रिक	६०, ७३, ९१
सैजसचतुष्क	६७, ७३	सुरत्रिक	१५, ९१
प्रसादिषीस	३, ८, १४, १९	सुरद्विक	४३ ६७, ९३
प्रसादाक	१५, ६७	सूक्ष्मत्रिक	४३, ६६, ७१
प्रसत्रिक	२०	स्त्यानद्वित्रिक	५६, ६९, ९९
प्रमचतुष्क	६०, ७३	स्थावरदशक	१७, ६१
भगचतुष्क	२०	स्थावरचतुष्क	५६

६ पञ्चमकर्मग्रन्थके अनुवाद, टिप्पणी तथा प्रस्तावनामें

उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची तथा सङ्केतविवरण

अनुयोग० सू०	}	अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति सूरत ।
अनुयोग०		
अनुयोगद्वार टीका—आगमोदयसमिति सूरत ।		
अभिधर्म०—अभिधर्मकोश, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ।		
अभिधर्म० व्या०	}	अभिधर्मकोशव्याख्या, ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ।
अभि०व्या०		
आय० नि०—आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदयसमिति सूरत ।		
आय० नि० टी०—आवश्यकनिर्युक्ति मलयटीका, आगमोदयसमिति ।		
कर्मप्रकृति (धृति सहित)–	}	मुफावाह
कर्मप्रकृतिकी उपाध्याय यशोविन्दकृत टीका		ज्ञानमन्दिर
कर्मप्रकृति मलय० टी०—कर्मप्रकृति की मलयनिरि टीका		उभोइ
कर्मप्रथ की स्वोपद्व टीका—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर ।		गुनराव
काल्लोकप्रकाश—देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्वार सस्था मूरत ।		
क्षपणासार—भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता ।		
गो० कर्मकाण्ड	}	—गोमटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र जैन शास्त्र माला
कर्मकाण्ड		
वम्बई ।		

१ अनुवाक आदिमें जहां कहीं केवल कर्मग्रन्थ लिखा है, वहां पञ्चम कर्म-
ग्रन्थ ही समझना चाहिये ।

गोमहसार जीयकाण्ड } रायचंद जैन साक्षमाळा बम्बई ।
जीयकाण्ड

गीतारहस्य—विप्रसाळा स्पीम प्रेम पूना ।

छटा कर्मप्रणय—श्री जैन आत्मानन्द समा भावनगर ।

जम्बूदीप प्रकाशित—राय धनपतिसिंह बहादुर द्वारा प्रकाशित ।

जम्बूदीप प्रकाशित का स० टीका—

ज्योतिष्क०—ज्योतिष्करण्डक, श्री आपमदेवजी केशरीमलजी श्वे०
रतलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादिदशानामान्तगत ।

सत्साधसूत्र—श्री आत्मानन्द जमनावाङ्गी हमारक पठ बम्बई ।

त० राजयार्तिक } सत्कार्यसाधयार्तिक, श्री जैन सिद्धान्त प्रकाशित
राजयार्तिक } सत्साध कलकत्ता ।

सत्सार्धभाष्य—सत्सार्धाभिगमभाष्य, आहव्यभाकर कार्यालय पूना ।

त्रिलोकसार—श्रीमाणिक्यचंद दि० जैनप्रणयमाला बम्बई ।

द्रव्यलोक०—द्रव्यलोक प्रकाश, देवचंद काल भाई पुस्तकालय
सत्साध सूरत ।

द्वितीय कर्मप्रणय—‘सदीकाश्चत्वार कर्मप्रणया’ के अन्तर्गत, जैन
आत्मानन्द समा भावनगर ।

नद्यादि मकाराद्यनुक्रमणिक—भागमोदय समिति सूरत ।

न्या० मञ्ज०—‘यायमजरी, विजयानगर सिरीज काशी ।

पञ्चस०—पञ्चसप्तमह मूल, श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित
पञ्चांगकादि दसशास्त्रान्तर्गत ।

पञ्चस०—पञ्चसप्तमह सटीक दो भाग, मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, २५

पञ्चमकर्मग्रन्थका टीका—प्रकरण रत्नाकर के चतुर्थभाग के अन्तर्गत ।

पञ्चम कर्म० स्वोपज्ञटी०
पञ्च० कर्म० टी०
प० कर्म०

} पञ्चमकर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका,
जैन आत्मानन्द सभा भावनगर ।

पञ्चमकर्मग्रन्थका गुजराती अनुवाद—जैन श्रेयस्कर मण्डल
महेसाणा ।

पञ्चाशद्व—इषेताम्बर सस्था रत्नलाम द्वारा प्रकाशित पञ्चाशकादि दस
शास्त्रान्तगत ।

पञ्चास्ति०—पञ्चास्तिकाव, रायचन्द जैन शास्त्रमाला बम्बई ।

प्रकरणरत्नाकर—प्रकाशक श्रीभीमसी भाणव बम्बई ।

प्र० कर्मग्र०—प्रथमकर्मग्रन्थ, 'रुटीकाश्रितार कर्मग्रंथा' के अन्तर्गत,
भावनगर ।

प्रवचनसा० } प्रवचनसारोद्धार, देवचन्द लालभाइ पुस्तकोद्धार
प्रवचन० } सस्था सूरत ।

प्रवचन० टी०—प्रवचनसारोद्धार की टीका, देवचन्द लालभाइ सूरत ।

प्रवचनसार अमृत० टी०—प्रवचनसार की अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका,
रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई ।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद भाष्य, विजयानगर सिरीज काशी ।

प्रशस्त० कन्दली०—प्रशस्तपाद भाष्य की कन्दली टीका, विजयानगर
सिरीज काशी ।

प्र० सू०—प्रज्ञसूत्र, निर्णयसागर प्रेस बम्बई ।

गीता—भगवद्गीता निर्णयसागर प्रेस बम्बई ।

मिलिन्दप्रश्न—महायोगि सोसयनी सारनाथ, बनारस ।

योगद०—योगदर्शन, व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी और भाष्यती आदि
टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस ।

लघुसार—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता ।

लो० प्र०—लोकप्रकाश, देवचंद लालभाइ पुस्तकाद्वारसंस्था मुरत ।

विशे० भा० } —विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्य प्रणीत टीका
विशेषा० मा० } सहित, श्वेताम्बरसंस्था रतलाम ।
विशे० } ,, बृहद्बृत्ति सहित, यशोविजय प्रथमाला काशी

विशेषणयती—श्वेताम्बर संस्था रतलामद्वारा प्रकाशित ।

बृहत्कर्म० भा०—बृहत्कर्मस्तव भाष्य ।

समग्रहणीसूत्र (चंद्रसूरिरचित)—प्रकरणरत्नाकरके चतुर्थभागके अंतर्गत ।

सटी० च० कर्म०—सटीकाश्रितार कर्मग्रन्थ, श्री आत्मानन्द सभा
भावनगर ।

समयप्राभृत—काशीस्थ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था ।

सर्वार्थलिङ्गि—जैनेन्द्र मुद्रणालय कोटदापुर ।

सामिफार्तिकेयानुप्रेक्षा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
बलरूपा ।

सारव्यकारिका—चौखम्बा काशी ।

भाट० पृ०—सारव्यकारिका की भाटवृत्ति, चौखम्बा काशी ।

शुद्धिपत्र

५०	५०	अशुद्ध	शुद्ध
१७	२१	सुहृमस्य	सुहृमस्म
११	१८	उद्योग	उद्योत
४०	७	आनश्यकचूणि	आनश्यकनिर्गुक्ति
५४	१५	भवविपाकी	क्षेत्रविपाकी
५९	२५	पञ्च० स	पञ्चस०
९६	१०	पञ्चद्वय	पञ्चेद्वय
१०८	१५	उत्तरार्द्ध	उत्तराद्ध
१२०	२३	उच्छ्वास	उद्ध्वास
१७३	२२	सव्वग्ध	सद्वग्ध
२०६	५	वर्णणार्ण	वर्गणार्ण
२२	१५	रूप	रव
१४३	१९	सपुत्र	मपुत्र
१७२	१३	अद्वापल्योपम	अद्वापल्य
३०७	२३	वध	वध
३३१	१४	मभिन्धति	मभिदधति
३६८	६	प्रज्ञप्ति का	प्रज्ञसिक्ती

हिन्दी व्याख्यासहित
पञ्चमकर्मग्रन्थ
समाप्त

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल

रोशन मुहल्ला, आगरा से

प्रकाशित पुस्तकों की सूची

- | | |
|--|-------|
| १ सामायिक और देव चन्दन सूत्र विधि | —) |
| २ देवसि राई प्रतिक्रमण—मूल | 1) |
| ३ जीव विचार—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी | 1—) |
| ४ नयतत्व—हिन्दी अनुवादक पंडित वृजलालजी | 1—) |
| ५ दण्डक—हिन्दी भावार्थ अनु० प० सुगलालजी | 1) |
| ६ कर्मग्रन्थ पहला—हिन्दी अनुवादक प० सुखलालजी | III) |
| ७ कर्मग्रन्थ दूसरा—हिन्दी अनुवादक प० सुगलालजी | III) |
| ८ कर्मग्रन्थ तीसरा—हिन्दी अनुवादक प० सुगलालजी | II) |
| ९ कर्मग्रन्थ चौथा—हिन्दी अनुवादक प० सुखलालजी | २) |
| १० योग दर्शन तथा योग विंशिका—न्यायाचार्य श्री
यशोविजयजी उपाध्याय कृत तथा वर्णित—हिन्दी अनु-
वाद सहित । | १ II) |
| ११ दर्शन और अनेकान्तवाद—कर्त्ता प० हसराजजी शर्मा
शास्त्री, इसमें जैनधर्म का अन्य दर्शनों के साथ मेल
—न्याया है । | II) |

- १२ पुराण और जैनधर्म—लेखक ५० हसगनवी शास्त्री III)
- १३ मत्तामर कल्याण मन्दिर स्तोत्र—हिन्दी अनुवाद सहित मूल तथा हिन्दी =>II
- १४ वीतराग स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक ५० वृत्तलालजी =>
- १५ अजित शान्ति स्तोत्र—हिन्दी अनुवादक मुनि श्री नाणिवय विजय जी।)II
- १६ श्री उत्तराख्यपन सूत्र सार—लेखक मुनि श्री नाणिवय विजय जी। =>
- १७ धारह व्रत की टीप—लेखक मुनि श्री दर्शनविजय जी =>
- १८ जिन कल्याणक संग्रह—इसमें २४ भगवान् के कल्याणक कर्तों और पत्र हुये सन बतलाया है। >)
- १९ ज्ञान थापने की विधि—ज्ञान पंचमी के तप करनेवालों को यह पुस्तक अवश्य मँगानी चाहिये। =>
- २० भजन पचासा—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी नाहटा, इसमें तुरीति सुधार के ऊपर बड़े मनोहर गायन है। >II
- २१ भजन मज्जूपा—कर्त्ता सेठ ऋषभदासजी नाहटा सिकन्दराबाद, इसमें नवीन राग रागनी स्तवन के हैं। -)II
- २२ हिन्दी जैन शिवा भाग १—लेखक श्रीलक्ष्माचन्दनी धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है ~ ~ ~)II
- २३ हिन्दी जैन शिवा भाग २—लेखक धीया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य

- २४ हिन्दी जैन शिक्षा भाग ३—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दनी
घाया, बच्चों को पढ़ाने के लिये सर्वोत्तम पुस्तक है । ->||
- २५ हिन्दी जैन शिक्षा भाग ४—लेखक श्रीलक्ष्मीचन्दनी
घाया, पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है । =>
- २६ कलियुगियों की कुलदेवी—कर्त्ता सेठ जवाहरलालजी
नाहटा, इसमें वैश्या नृत्य का खण्डन है ।)||
- २७ सदाचार रत्ना, प्रथम भाग—कर्त्ता सेठ जवाहर-
लालजी नाहटा, इसमें त्र्यम्बक से अष्ट करनेवाली
५४ कुरीतियों का खण्डन किया गया है, यदि गृहस्थ
अपनी सन्तान को सदाचारी बनाना चाहें तो इसे
अवश्य पढ़ें और इन कुरीतियों से बचावें तो शर्त्तिया
सन्तान सदाचारी बन सकती है । 1->
- २८ प्राचीन कविता संग्रह—सेठ जवाहरलालजी नाहटा
द्वारा संग्रहीत, इसमें शत्रुञ्जय का रास, गौतम
स्वामी का रास, हो रानी पद्मावती, पुराण प्रकाश
स्तवन, श्रावक की करणी, महावीर स्वामी का पार-
णादि अनेक प्राचीन कविताएँ हैं । 1=>
- २९ देव परीक्षा— ->||
- ३० विमल विनोद—कर्त्ता मुनि श्री विमल विजयजी,
इसमें मिथवा विवाह का खण्डन उपन्यास के दृग पर
किया गया है और आर्य समाज के सिद्धान्तों का
खण्डन बड़ी सरलता से किया गया है । ||=>

श्रीमद् गुरु मन्त्रालय

